THE BOOK WAS DRENCHED

# मंटो : मेरा दुश्मन

उपेन्द्र नाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

१९५६

मूल्य [illegible]

प्रकाशक

नीलाभ प्रकाशन गृह

५, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद

मुद्रक

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

उन 'बुद्धिमानों' के नाम

जिन्होंने इस संस्मरण को मंटो के ख़िलाफ़ समझा

No there is no need of being mean to hurt some one else. And this is the most tragic thing about it : that good people, who love each other, can pain and grieve each-other with the best will in the world.

Andre' Gide

# अनुक्रम

# मंटो : मेरा दुश्मन

# संस्मरण का संस्मरण

"मेरे शृंगार-गृह में कोई कंघी नहीं, कोई शैम्पू नहीं, कोई घुंघर पैदा करने वाली मशीन नहीं। मैं सिंगार नहीं जानता—आग़ा हश्र की भेंगी आँख मुझ से सीधी नहीं हो सकी। उसके मुँह से गालियों के बदले में फूल नहीं झड़ा सका। 'मीराजी' के पतन पर मुझ से इस्त्री नहीं हो सकी और न मैं अपने दोस्त श्याम को मजबूर कर सका कि वह (अपनी ग़लत समझ के मुताबिक) औरतों को सालियाँ न कहे—इस किताब में जो भी फ़रिश्ता आया है, उसका मुंडन हुआ है और यह रस्म मैंने बड़े सलीके से अदा की है।"

ये पंक्तियाँ उर्दू के बदनाम, लेकिन शक्ति-सम्पन्न कहानी-लेखक सआदत हसन मंटो की पुस्तक 'गंजे फ़रिश्ते' की अन्तिम पंक्तियाँ हैं। 'गंजे फ़रिश्ते' में पाकिस्तान के क़ायदे आज़म 'जिन्ना' से लेकर 'फ़िल्म इंडिया' के सम्पादक बाबूराव पटेल तक, मंटो ने उन तमाम लोगों के संस्मरण दिये हैं, जिनसे

वह अपनी ज़िन्दगी में मिला और जिनके साथ उसने कुछ दिन गुज़ारे।

चूँकि इन संस्मरणों पर पाकिस्तान के पुरानपंथी अख़बारों में बड़ा शोर मचा, इसलिए मंटो ने जब इन्हें 'गंजे फ़रिश्ते' में संकलित किया तो पुस्तक के अन्त में अपनी सफ़ाई दी जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ मैंने ऊपर उद्धरित की हैं।

ये पंक्तियाँ मंटो के संस्मरणों की तरह उसकी साफ़-गोई, बेबाकी और फक्कड़पने की साक्षी हैं। जिन लोगों ने उसे कुछ देर के लिए भी देखा है या उससे बातें की हैं, वे इनमें मंटो को उसकी तमाम झल्लाहट और तीखेपन के साथ देख सकते हैं। मंटो ने अपने घनिष्टतम मित्र श्याम अथवा अपने श्रद्धास्पद गुरु 'बारी' अथवा पाकिस्तान के संस्थापक जिन्ना के बारे में भी लिखा तो इसी साफ़-गोई से काम लिया।

मंटो मेरा दुश्मन था, यह बात मुझे स्वयं अपनी कलम से कभी न लिखनी पड़ती, यदि मित्रों ने इसका प्रचार न कर दिया होता और कृष्णचन्द्र ने मंटो के बारे में अपना लेख लिखते हुए, मंटो की ज़िन्दगी ही में लोगों की इस धारणा पर अपनी मुहर न लगा दी होती।

गत वर्ष जब मंटो की असामयिक मृत्यु की ख़बर मुझ तक पहुँची तो मेरे पास पत्र पर पत्र आने शुरू हुए कि मंटो के सम्बन्ध में मैं कुछ ज़रूर लिखूँ; कि मैंने उसके साथ कई बरस गुज़ारे हैं; मेरे साथ उसकी दोस्ती भी रही है और दुश्मनी भी और मैं मंटो के चरित्र पर नज़दीक से रोशनी डाल सकता हूँ।

यह अजीब बात है कि मंटो के मरते ही, उन लोगों में भी, जिन्होंने ज़िन्दगी में उसके लिए अपने दरवाज़े बन्द कर लिये थे, उसके लिए एक अजीब-सा प्यार उमड़ आया। पकिस्तान रेडियो ने मंटो की कृतियों को ब्रॉडकास्ट करना बन्द कर दिया था। बहाना चाहे उसके पाकिस्तान-विरोधी लेख अथवा मुस्लिम लीग-विरोधी कहानी अथवा पाकिस्तान में उस पर चलने वाले मामलों को लेकर बनाया गया, पर वास्तव में पाकिस्तान के डायरेक्टर

जनरल श्री जुलफ़िकार अली बुख़ारी, (छोटे बुख़ारी साहब) उससे व्यक्तिगत रूप से असन्तुष्ट थे। मैंने जब यह बात सुनी तो मेरे सामने विभाजन से पहले की वह शाम गुज़र गयी, जब छोटे बुख़ारी साहब ने (जो उस समय ऑल इंडिया रेडियो बम्बई में स्टेशन डायरेक्टर थे और एक साथ काँग्रेसी और मुस्लिम लीगी नेताओं के साथ साँठ-गाँठ रक्खे हुए थे) हमें—मुझे, कृष्ण और मंटो को—रेडियो प्रोग्रामों को नया रंग देने के सिलसिले में बुलाया था और यद्यपि कृष्ण चुप रहा था, लेकिन मंटो ने उनकी बड़ी गत बनायी थी। वे यद्यपि कौच पर बैठे थे, पर मंटो कौच पर बैठने के बदले उनके सामने नीचे गलीचे पर निहायत बेतकल्लुफ़ी से लगभग लेट गया और बहस-बहस में ख़ासी खरी-खरी उसने बुख़ारी साहब को सुना दी थीं। बुख़ारी साहब उस झोड़ को कैसे भूले होंगे? यदि किसी बहाने से उन्होंने रेडियो पाकिस्तान के दरवाज़े उस पर बन्द कर दिये तो अजीब बात नहीं! अजीब बात यह है कि जब मंटो की मृत्यु हुई तो पाकिस्तान रेडियो ने आध घंटे का प्रोग्राम प्रसारित किया। लेकिन मुझे इसमें भी आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि बड़े आदमियों के साथ हमेशा से यही होता आया है।

इलाहाबाद आने पर चाहे मंटो से किसी तरह का सम्बन्ध न रह गया था तो भी कुछ तो उस स्नेह के कारण जो कौशल्या को सफ़िया भाभी से था और कुछ उन उच्चकोटि की कहानियों के कारण, जो मंटो ने पाकिस्तान में जाकर सृजीं, मैं उसकी गति-विधि की ख़बर रखता रहा।

मंटो ने पाकिस्तान में जाकर बहुत-सी कहानियाँ लिखीं। उनमें से अधिकांश उसे शराब की एक बोतल का खर्च जुटाने के लिए लिखनी पड़ीं। जब-जब उसे ज़रूरत पड़ी, वह प्रायः हर रोज़ एक कहानी लिखता रहा। प्रकट है कि उनका साहित्यिक-स्तर, मंटो की लेखनी के समस्त गुणों के बावजूद, ऊँचा नहीं रह सका। लेकिन उसने कुछ कहानियाँ ऐसी भी लिखीं जो उसकी पहली कहानियों के मुकाबिले में कहीं महान् थीं और उनका सामाजिक यथार्थ कहीं गहरा और चोट पहुँचाने वाला था—'खोल दो',

'टोबाटेक सिंह' और 'नंगी आवाजें' ऐसी ही कहानियाँ हैं और मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि दूर रह कर भी, मेरा तथाकथित शत्रु होकर भी, इन कहानियों के द्वारा मंटो कहीं मेरे निकट आ गया था।

तो भी अपनी घोर व्यस्तता में, मंटो पर मैं कभी इतना लम्बा संस्मरण न लिखता, यदि कृष्णचन्द्र के छोटे भाई महेन्द्रनाथ ने (जो स्वयं बड़े अच्छे कहानी-लेखक और उपन्यासकार हैं।) बम्बई से मुझे यह न लिखा होता कि यदि मैंने मंटो पर कुछ न लिखा तो वह कभी (दूसरी दुनिया में भी) मुझे माफ़ न करेगा।

महेन्द्र बम्बई से 'शायर' का मंटो-विशेषांक निकाल रहे थे। न जाने महेन्द्र के उस वाक्य में कैसा अनुरोध था कि मैं मान गया और मैंने लिख भेजा कि उनके विशेषांक के लिए मैं ज़रूर कुछ लिखूँगा।

मंटो की मृत्यु के कुछ ही महीने पहले पाकिस्तान से 'मकतबा-जदीद' के मालिक और मेरे पुराने दोस्त चौधरी बशीर अहमद आये थे। उनसे मैंने मंटो की किताबें भेजने के लिए कहा था, उन्होंने जाते ही मंटो का पूरा सेट भेज दिया था और मैंने मंटो की नयी-पुरानी सभी चीजें एक बार फिर पढ़ी थीं। मैंने महेन्द्र को पत्र तो लिख दिया, पर तब यह सवाल पैदा हुआ कि मैं शोक-संतप्त कोई वैसा लेख लिखूँ जैसा कि कृष्णचन्द्र ने 'आइना' में लिखा था (जो इस पुस्तक में परिशिष्ट-स्वरूप संकलित है) या ऐसा, जो मंटो को उसके तमाम गुण-दोषों, बड़ाई और छुटाई के साथ पढ़ने वालों के सामने रख दे। मैं मान लेता हूँ कि 'गंजे फ़रिश्ते' के लेखक के प्रति मुझसे बद-दयानती नहीं हो सकी और मैंने पूरी सचाई और पूरी दयानतदारी के साथ, लगातार डेढ़ महीने के अनवरत श्रम से, यह संस्मरण लिखा और चूँकि इतना लम्बा संस्मरण 'शायर' में छप न सकता था, इसलिए यह 'नक़ूश' लाहौर के दो अंकों में छपा। वादा तो सम्पादक 'नक़ूश' ने इसे एक ही अंक में छापने का किया था, पर जब संस्मरण उन्हें मिल गया तो उन्होंने न केवल उसे दो अंकों में छापा, बल्कि पहली किस्त को छापते समय यह भी नहीं लिखा कि इसका अन्त दूसरे अंक में होगा। न केवल यह, बल्कि संस्मरण को दो स्वतन्त्र

भागों में बाँटने के उद्देश्य से उन्होंने इसका एक महत्त्वपूर्ण पैरा भी काट दिया। हालाँकि यह मेरे साथ ज्यादती थी, पर सम्पादकों के पास लेख देने, न देने, रोक लेने या काट-छाँट कर देने के बीस बहाने हैं। मैंने जब पत्र लिखा तो उन्होंने पाकिस्तान में काग़ज़ के अभाव का बहाना कर दिया।

मुझे यह मानने में भी संकोच नहीं कि उर्दू में मेरी कोई भी रचना इतनी नहीं पढ़ी गयी और न किसी पर इतने पत्र आये। कराची से लेकर कलकत्ता और काश्मीर से हैदराबाद तक उर्दू भाषा-भाषियों में इसकी चर्चा रही। कृष्णचन्द्र ने इसके बारे में लिखा—

> "मंटो : मेरा दुश्मन—में अश्क ने सचाई और साफ़-बयानी को सामने रखा है। इस लेख में उन्होंने मंटो के व्यक्तित्व के दोनों पहलू दिखाये हैं और उसके चरित्र के—जीवन-दर्शन और कृतित्व के—स्वीकारात्मक और नकारात्मक दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला है। कहीं-कहीं वे अपनी साफ़-बयानी में तीखा लहजा इख़्तयार कर गये हैं। लेकिन अश्क का मंटो पर लिखना एक तीखे मिज़ाज वाले साहित्यकार का एक तीखे मिज़ाज वाले साहित्यकार पर लिखना है और इसीलिए बेहद दिलचस्प है, जीवन कथात्मक है, व्यंग्य भरे चुटकलों से भरा है और ऊँचे दर्जे का रेखा-चित्र है।"

बेदी (राजेन्द्र सिंह बेदी) ने एक पत्र में लिखा—

> "मंटो पर तुम्हारा लेख पढ़कर महसूस हुआ कि मंटो के नामनिहाद (तथाकथित) दोस्तों के मुक़ाबिले में तुम दुश्मन होकर भी उसके कितने नज़दीक थे।"

इन सब पत्रों में, जो मुझे इस संस्मरण के सम्बन्ध में मिले, सब से महत्त्व-पूर्ण और क़ीमती पत्र सफ़िया भाभी (मिसेज़-मंटो) के हैं। पहले पत्र में उन्होंने लिखा—

"..........'नक़ूश' में आपका मज़मून पढ़ा। अगरचे सआदत साहब की बहन को तो पसन्द नहीं आया, लेकिन मुझे बड़ा अच्छा लगा। आपने सब बातें सच्ची-सच्ची लिखी हैं।"

मैंने उन्हें लिखा कि संस्मरण आधा छपा है। पूरा छप जाय तो उनसे पूछकर फिर लिखिएगा। 'नक़ूश' का दूसरा अंक निकलने के बाद फिर उनका खत आया—

"आपके मज़मून का दूसरा हिस्सा हम सब ने साथ मिलकर पढ़ा। बहुत अच्छा लगा। बहन की आँखों में तो आँसू आ गये।"

इस संस्मरण को पाकिस्तान में छपे लगभग एक साल होने को आया है, लेकिन अभी तक वहाँ इसकी चर्चा बाकी है। अभी १७ जून को रावलपिंडी से कवि मुख़्तार सिद्दीकी का एक पत्र आया है, जिसमें उन्होंने दूसरी बातों के अलावा इस संस्मरण का भी उल्लेख किया है —

"इस दौरान में आप की दो-चार चीज़ें भी पढ़ीं, जिनमें सबसे हंगामाख़ेज मंटो पर आपका मज़मून है। इसका यहाँ बड़ा तज़किरा रहा। लिखने-पढ़ने वाले लोगों का ख़याल है कि मंटो पर जो कुछ निहायत रोमानी और निहायत इर्नसिसीयर अन्दाज़ में मुख़्तलिफ़ लोगों ने लिखा है, वह सब-का-सब ग़ैर-हक़ीक़ी और मसनूई[१] है, काम की चीज़ अश्क का मज़मून है और बस।"

लेकिन हिन्दी में इसकी प्रतिक्रिया भिन्न भी हुई और दिलचस्प भी।

---

[१] अयथार्थ और कृत्रिम।

मेरे मित्र और पड़ोसी श्री भैरवप्रसाद गुप्त (सम्पादक कहानी) मंटो के बड़े भक्त हैं। जिन दिनों मैं यह संस्मरण लिख रहा था, उनसे बराबर इस सिलसिले में बात-चीत होती थी। बल्कि यों कहूँ तो ठीक होगा कि मैं जितना रोज़ लिखता था, उन्हें सुना देता था। इस संस्मरण में दो-एक घटनाएँ, जो मैं साधारणतः न देता, मैंने उनके अनुरोध पर ही दीं—मंटो के नाटक की काट-छाँट के बाद स्टेशन डायरेक्टर के कमरे में जो झगड़ा हुआ, उस पर अपनी प्रतिक्रिया मैंने लेख में पहले नहीं दी थी। जब मैंने भैरव से उसका उल्लेख किया तो उन्होंने कहा, "इसका ज़िक्र तुम्हें ज़रूर करना चाहिए।" और मैंने अपनी प्रतिक्रिया ज्यों-की-त्यों उसमें बढ़ा दी। हालाँकि वह मेरे चरित्र का एक बड़ा ही कमज़ोर पहलू पाठकों के सामने रखती है, लेकिन जैसा कि भैरव ने कहा था—ऐसा न करना कायरता होती।

जब पूरा संस्मरण लिखा जा चुका, तब भी एक शाम मैंने भैरव ही के यहाँ कुछ प्रगतिशील लेखकों के सामने इसे पढ़ा और सबने बड़ा पसन्द किया। न केवल यह, बल्कि अनुरोध किया कि मंटो लाख उर्दू का लेखक सही, पर अब 'माया' और 'कहानी' के द्वारा हिन्दी वाले उसे जान गये हैं और चूँकि हिन्दी के लिए यह संस्मरण-शैली एकदम नयी है, इसलिए इस संस्मरण को हिन्दी में भी लिखा जाय।

मैंने इसे हिन्दी में भी लिखा और यह सोच ही रहा था कि इसे कहाँ छपने के लिए भेजूँ कि उन्हीं दिनों 'नया पथ' के सम्पादक श्री शिव वर्मा इलाहाबाद आये। भैरव ने उनसे इस लेख का ज़िक्र किया और अनुरोध किया कि यह लेख 'नया पथ' में ज़रूर छपे। 'नया पथ' से मेरा सम्बन्ध उस समय से है, जब वह 'नया पथ' के बदले 'नया साहित्य' था और बम्बई से निकलता था। तब मेरी कई रचनाएँ उसमें छपी भी थीं, लेकिन जब से यह 'नया पथ' हुआ, मेरा सम्बन्ध उससे लगभग कट गया। फिर जब यह लखनऊ से प्रकाशित होने लगा तो लगभग एक वर्ष पहले रमेश सिन्हा आये और उन्होंने ज़ोर दिया कि अब वे फिर अपना क्षेत्र विस्तृत कर रहे हैं और मैं उसमें अवश्य लिखूँ और मैंने एक आलोचनात्मक लेख भी दिया। मैं इस बात

के कारणों और औचित्य के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना चाहता, लेकिन इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि 'नया पथ' के सम्पादकों और पाठकों के मन में उत्तम कलाकृतियों के लिए कुछ अन्यमनस्कता अथवा विरोध-भाव-सा रहा है। उपादेयता 'नया पथ' का माप-दण्ड है। लेकिन किसी कलाकृति की उपादेयता कितनी है, इसके बारे में सदा दो मत रहे हैं। उत्तम कलाकृति यदि उपादेयताहीन है तो मेरे ख़याल में उसमें कला का अभाव है। इसके साथ ही ऐसी कृति जिसकी उपादेयता स्पष्ट होती है, कई बार अनगढ़ और कला-विहीन होती है। उत्तम कलाकृति में प्रायः उपादेयता छिपी रहती है, फूहड़ रूप से ऊपर नहीं आती। राजेन्द्र सिंह बेदी की एक बड़े ही ऊँचे स्तर की कहानी 'नया पथ' में छपी। उस पर पाठकों के जो पत्र आये, उन्हें पढ़कर मेरा यह निश्चय और भी पक्का हो गया। इसीलिए मैं इस संस्मरण को 'नया पथ' में देने के विरुद्ध था। शिव वर्मा जब मेरे पास आये तो मैंने उनसे कहा भी कि यह संस्मरण 'नया पथ' के योग्य नहीं—पहले तो यह कि इतने लम्बे संस्मरण को आप किस्तों ही में छाप सकेंगे और किस्तों में छपने पर इसका ठीक मूल्यांकन न हो सकेगा; दूसरे इसकी शैली हिन्दी के लिए बिलकुल नयी और व्यक्तिगत है; तीसरे यह आपकी पॉलेसी के अनुरूप नहीं, वर्माजी ने मुझे विश्वास दिलाया कि इधर उन्होंने पॉलेसी बदल दी है और वे अच्छी कलापूर्ण चीज़ें भी छापने लगे हैं और सभी लेखकों से सहयोग ले रहे हैं।

इस पर भी मैंने उन्हें विवश किया कि वे सारा लेख सुनें तब लेकर जायें।

उन्होंने लेख सुना और ले गये। लेकिन मैंने इसी पर संतोष नहीं किया। लेख के सम्बन्ध में मैंने एक नोट लिख भेजा कि इसे पहली किस्त के शुरू में दे दीजिए। मैंने उस नोट में (जो पहली किस्त पर छपा) यह भी लिखा कि संस्मरण बहुत लम्बा है। पाठकों से निवेदन है कि इसे पूरा पढ़े बिना, इसके बारे में कोई राय कायम न करें। टुकड़ों में पढ़े जाने पर यह ग़लत इम्प्रेशन भी दे सकता है।

संस्मरण 'नया पथ' के नवम्बर १९५५ के दीवाली नव-वर्षाङ्क से छपना शुरू हुआ और पहली किस्त को पढ़कर कुछ लोगों ने प्रशंसा के पत्र भी लिखे और एक-आध ने आपत्ति भी की, लेकिन दूसरी किस्त के बाद ही कुछ लोगों ने (जिन्होंने शायद मेरा वह नोट नहीं पढ़ा, या पढ़कर भी उसकी माहियत नहीं समझी) उसका विरोध किया। इधर इलाहाबाद में कुछ प्रगतिशील मित्र व्यक्तिगत कारणों से मुझसे बेहद नाराज़ हो गये। इनमें से एक का नाम 'नया पथ' के सलाहकार सम्पादकों की सूची में भी जाता है। उन्होंने न केवल अपने कुछ चेलों से इसके विरोध में चिट्ठियाँ लिखवायीं, बल्कि स्वयं भी बिना लेख को पढ़े 'नया पथ' के सम्पादक को एक कार्ड लिख भेजा कि जब मंटो इस संस्मरण का उत्तर देने को मौजूद नहीं तो ऐसा लेख क्यों छापा जा रहा है, इसको तत्काल बन्द कर दिया जाय।

और 'नया पथ' के 'बुद्धिमान' सम्पादक ने बिना मुझे सूचित किये, लेख का छापना रोक दिया। बाद में उन्होंने लिखा कि वे शेष सम्पादकों की राय जानने के लिए पत्र लिख रहे हैं। मैं यह नहीं समझ सका कि बिना पूरा लेख पढ़े, शेष सम्पादक कैसे उस पर राय दे सकते थे।

मुझे शिकायत न 'नया पथ' के उन पाठकों से है, जिन्होंने उस नोट के बावजूद, बिना पूरा लेख पढ़े, राय देना उचित समझा; न 'नया पथ' के उन सलाहकार सम्पादक से, जिन्होंने व्यक्तिगत विद्वेष के कारण निहायत बद-दयानती से, बिना लेख की एक भी किस्त पढ़े, वह आदेश लिख भेजा।[१]

---

[१] लेख न पढ़ने की यह बात एक मित्र की उपस्थिति में उन्होंने मेरे सामने स्वयं कबूल की। उनका कथन था कि वे बिहार गये तो उनके युवक मित्रों ने उस लेख के बारे में उनसे बड़ी शिकायत की और यद्यपि उन्होंने स्वयं यह लेख नहीं पढ़ा था, फिर भी 'नया पथ' में ऐसे लेख का छपना रुकवा देना उन्होंने अपना पुनीत कर्त्तव्य समझा—हालाँकि हक़ीक़त यह है कि उन दिनों वे इलाहाबाद से लेकर बिहार तक मेरे बारे में हर तरह का झूठ फैलाते फिरे और उन्होंने दूसरों के कंधों पर बन्दूक रखकर चलाने वाले पटना के एक अफ़सर-लेखक के चिथड़े 'चाणक्य' में मेरे और मेरी पत्नी के विरुद्ध सिर से पैर तक एक निहायत झूठा और ज़लील नोट छपवाया।

क्योंकि पहले तो हर पाठक से पूरी-पूरी समझदारी की आशा नहीं की जा सकती और मूर्खों के सिर सींग नहीं होते, फिर जैसा कि चेखव ने लिखा है—झूठ, रयाकारी, बद-दयानती और कायरता साधारण लोगों ही में नहीं, लेखकों में भी होती है। मुझे शिकायत केवल 'नया पथ' के सम्पादक से है, जिन्होंने मेरे नोट के बावजूद उन चिट्ठियों का नोटिस लिया और भेजने वालों को यह लिखने के बदले कि पूरा पढ़कर तब लिखिएगा, न केवल उन विरोधी चिट्ठियों को छापकर अपनी बुद्धिमत्ता का सबूत दिया, बल्कि उस वक्त लेख रोक दिया जब मंटो की कला और उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा वाला उसका भाग छपने को शेष था। यह न केवल मेरे, वरन् मंटो के साथ भी अन्याय था।

मेरी यह शिकायत और भी बढ़ जाती है, जब मैं यह सोचता हूँ कि वे लेख माँगकर और पूरा सुनकर ले गये थे। लेख अच्छा है या बुरा, प्रश्न यह नहीं। बुरा भी है, तो मैं समझता हूँ, उन्हें इसे छापना चाहिए था, चाहे फिर इसके खत्म होने पर वे इसके विरुद्ध पूरा लेख छापकर इससे अपने पाठकों या सम्पादकों की असहमति प्रकट करते।

इस व्यक्तिगत ईर्ष्या-द्वेष और तज्जनित इस घटियापन पर यदि ध्यान न भी दिया जाय तो भी दो प्रश्न अनायास उठते हैं—

१. जब मंटो मर चुका है और स्वयं वह इस संस्मरण में लिखी गयी बातों का उत्तर देने या सच-झूठ बताने को जीवित नहीं तो क्या ऐसा संस्मरण लिखना चाहिए?

२. जब लेख उर्दू में छपा तो क्यों इसकी ऐसी प्रतिक्रिया नहीं हुई? जिन लोगों के वह ज़रा विरुद्ध भी पड़ता है, जैसे कृष्णचन्द्र और राजा मेंहदी अली खाँ, उन्होंने क्यों उसकी निन्दा नहीं की? और तो और स्वयं मंटो की बेगम ने इसे क्यों सराहा और हिन्दी वालों को, जिनसे मंटो का दूर का भी वास्ता नहीं, क्यों यह साहित्यिक अपराध लगा?

जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, मैं पहले बता चुका हूँ कि किस तरह मैंने यह संस्मरण लिखना शुरू किया। जब मंटो और मैं दिल्ली के ऑल

इंडिया रेडियो में थे तो कृष्ण, राशिद, अख़्तरूल-ईमान और कई दूसरे साहित्यिक भी वहाँ थे। संस्मरण में कोई ऐसी बात नहीं, जिसका खण्डन मंटो ही करते। इतने साहित्यिकों में से कोई भी कर सकता था। और कोई नहीं तो बेगम मंटो सम्पादक 'नक़ूश' को दो पंक्तियाँ लिखकर इसको झूठा साबित कर सकती थीं। इसके अतिरिक्त नक़ूश के मंटो नम्बर में असमत चुग़ताई का जो संस्मरण—'मंटो—मेरा दोस्त, मेरा दुश्मन'—छपा है, उसमें बम्बई से मंटो के आने का जो कारण मैंने दिया है, उसका समर्थन होता है और मेरे संस्मरण से भी कहीं तेज़ बातें मंटो के बारे में लिखी गयी हैं। मंटो का व्यक्तित्व असाधारण था। उसका अहं इतना बड़ा था कि जिस बात की लोग निन्दा करते, वही दुगने जोश से वह करता था। यही कारण है कि जब उसने 'खुशिया' और 'हतक' लिखीं और एक-दो पत्र-पत्रिकाओं ने उसे गालियाँ दीं तो उसने उन्हें चिढ़ाने के लिए फिर धड़ाधड़ वैसी ही कहानियाँ लिखीं। उसने जो कुछ किया, उसे जानने के लिए उसके व्यक्तित्व के इस पहलू को जानना ज़रूरी है और मेरा संस्मरण चाहे व्यक्तिगत है, पर मंटो के स्वभाव पर पूरा प्रकाश डालता है।

फिर दूसरी बात यह है कि मंटो स्वयं रयाकारी और झूठ से भरे संस्मरणों को पसन्द न करता था। अपने साथियों के बारे में ग़लत या सही, जो भी वह महसूस करता था, बड़ी बेबाकी से लिख देता था। उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'मीराजी' के मरने पर जब उसने 'तीन गोले' के नाम से संस्मरण भेजा तो जिस पत्र में वह छपा, उसमें किन्हीं 'बुनियादी' साहब ने एक क्रोध भरा ख़त लिखा—

> "दुनिया के हर सभ्य देश और समाज में यह उसूल रायज है कि मरने के बाद चाहे दुश्मन ही क्यों न हो, उसे अच्छे अलफ़ाज के साथ याद किया जाता है। उसके केवल गुण ही बयान किये जाते हैं। 'अस्मत' ने 'दोज़ख़ी' लिखकर अपने भाई को जो ख़िराज अदा किया है, हमारे अदीब शायद उसी डगर पर चल रहे हैं।"

मंटो ने यह पत्र पढ़कर अपने पूर्ववत् तीखे अन्दाज़ में लिखा:-

"मैं ऐसी दुनिया पर, ऐसे सभ्य देश पर, ऐसे सभ्य समाज पर हज़ार लॉनत भेजता हूँ, जहाँ यह उसूल रायज हो कि मरने के बाद हर व्यक्ति का चरित्र और उसका निदान लाण्डरी में भेज दिया जाय, जहाँ से वह धुल-धुला कर आये और उसे देवताओं की खूँटी पर लटका दिया जाय।"

मंटो ने 'मीराजी' के सम्बन्ध में जो संस्मरण लिखा, मैं उससे सहमत नहीं। मैं यह नहीं कहता कि मरने वाले के दोष न गिनाये जायँ अथवा उसके चरित्र के बारे में हमारा जो निदान हो, उसे व्यक्त न किया जाय, लेकिन यह भी नहीं कि उसके दोष-ही-दोष गिनाये जायँ और किसी गुण की ओर संकेत न किया जाय। 'मीराजी' का जीवन, इसमें सन्देह नहीं, पतन की गहराइयों में चला गया, पर उर्दू के उतने ही बड़े कवि अख़तर शेरानी, 'मजाज़' और स्वयं मंटो का उससे कम पतन नहीं हुआ। मंटो के देहान्त से कुछ समय पहले मित्र स्वयं उससे कन्नी कतराने लगे थे। यह हो सकता है कि 'मीराजी' की कुछ बुराइयाँ ऐसी हों, जो मंटो को अच्छी न लगती हों, लेकिन 'मीराजी' ने बहुत अच्छी कविताएँ और गीत लिखे हैं और यह गुण अपने में कम महत्त्व नहीं रखता। मंटो ने अपने संस्मरण में 'मीराजी' के इस गुण का उल्लेख नहीं किया। यहीं मुझे मंटो से शिकायत है, पर मंटो को 'आज़ाद नज़्म' से चिढ़ थी और 'मीराजी' ने उसमें जो प्रयोग किये उन्हें वह कोई महत्त्व न देता था।

मैं भी मंटो की तरह उस दुनिया, समाज और सभ्यता पर लॉनत भेजता हूँ, जो हर मरने वाले को देवता बनादे, पर वह दुनिया और समाज भी कम निन्दनीय नहीं, जिसमें मरने वाले के दोष-ही-दोष गिनाये जायँ।...हालाँकि यह संस्मरण मैंने अपने तथाकथित दुश्मन के बारे में लिखा है, पर मेरा ख़याल है कि मैंने उसके गुणों को नज़र-अन्दाज़ नहीं किया।

यहीं मैं दूसरे प्रश्न पर आता हूँ कि उर्दू में इस संस्मरण की ऐसी प्रतिक्रिया क्यों नहीं हुई। मंटो के बेबाक संस्मरणों पर भी इक्का-दुक्का पत्र चाहे आये, पर मंटो ने जो संस्मरण लिखे, वे साहित्यिक हल्कों को चौंकाने का कारण नहीं बने, क्योंकि उर्दू के साहित्यिक इन खुले संस्मरणों के अभ्यस्त हो चुके थे।

ऐसा पहला संस्मरण उर्दू की प्रसिद्ध कहानी लेखिका अस्मत ने अपने सगे भाई, प्रसिद्ध हास्य-रस-लेखक अज़ीम बेग चग़ताई की मृत्यु पर लिखा। इस संस्मरण ने जहाँ उर्दू के साहित्यिकों को चौंकाया, वहाँ संस्मरण-लेखन की नयी शैली का आविर्भाव भी किया। अस्मत ने अपने संस्मरण का शीर्षक 'दोज़खी' (नारकीय) रखा। अपने सगे भाई को इस नाम से पुकारना अपने ही में निन्दनीय माना जा सकता है। अज़ीम बेग को, मरण-शैया पर पड़े हुए भी, अपने भाई-बहनों को सताने की वह अपूर्व सिद्धि प्राप्त थी कि घर वाले चिढ़कर उन्हें 'दोज़खी' कहते थे। अपने इस क्रूरता की हद तक हँसोड़ भाई की बुराइयाँ गिनाते हुए अस्मत ने इस दर्द से वह संस्मरण लिखा कि जब मैं ने पहली बार वह पढ़ा तो बार-बार मित्रों को सुनाया। ऊपरी दृष्टि से पढ़ने वाले उस दर्द को नहीं देख पाये और उन्होंने अस्मत की बड़ी निन्दा की। पर मैं समझता हूँ कि वैसा एक संस्मरण सौ प्रशस्तियों पर भारी है और वैसे संस्मरण को समझने और पसन्द करने के लिए दिल और दिमाग़ दोनों की ज़रूरत है।

दूसरा संस्मरण जो इसी शैली में लिखा गया और मेरे खयाल में उससे भी अच्छा बना, साहिर लुधियानवी का संस्मरण है जो उसने देवेन्द्र सत्यार्थी पर लिखा। सत्यार्थी की कोई ही ऐसी बुराई होगी, जिसका उल्लेख उस संस्मरण में न हो, लेकिन साथ ही साहित्य में, विशेषकर लोक-गीतों के क्षेत्र में, सत्यार्थी ने जो काम किया है और जिस निष्ठा और लगन से किया है, उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन और प्रशंसा उस संस्मरण में है। मैं समझता हूँ साहिर कवि की हैसियत से साहित्य में ज़िन्दा रहे या न रहे (हालाँकि उसके कविता संग्रह के छै संस्करण निकल चुके हैं।) पर यह संस्मरण अपनी

कला में उनकी अच्छी कविताओं पर भारी है और संस्मरण लेखकों को यह अवश्य पढ़ना चाहिए। यदि ऐसे चार-छै संस्मरण साहिर ने और लिख दिये होते तो संस्मरण लेखकों की प्रथम पंक्ति में वह अपना स्थान बना लेता।

मंटो के संस्मरण यद्यपि इन दोनों संस्मरणों की ऊँचाई तक नहीं पहुँचते तो भी दिलचस्पी में उनसे किसी तरह कम नहीं। मंटो की शैली का चुटीला-पन, उसकी उपमाओं का अनोखापन, उसकी भाषा का टकसालीपन, उसके व्यंग्य का नश्तर सरीखा तीखापन और उसकी कटुता का कसैलापन—सब कुछ उनमें है। यदि कहीं वह दर्द भी मंटो उनमें ला पाता जो 'दोज़खी' और साहिर के लिखे 'देवेन्द्र सत्यार्थी' में है तो वे और भी अच्छे उतरते। तो भी जहाँ-जहाँ वह दर्द आया है—जैसे 'अख़्तर शेरानी', 'श्याम' और 'अशोक कुमार' के संस्मरणों में वहाँ वे संस्मरण उच्चकोटि के हो गये हैं।

हिन्दी में संस्मरणों की ऐसी खुली और बेबाक परम्परा का नितान्त अभाव रहा है, यदि कहीं किसी ने साहस भी किया,जैसे 'प्रसाद' पर लिखते हुए विनोदशंकर व्यास ने,तो झूठी और खोखली जिन्दगियाँ जीने वाले हिन्दी के कितने ही पत्रकार-साहित्यकार 'मारो', 'मारो' कहकर उस पर पिल पड़े। अधिकांश हिन्दी साहित्यिकों के जीवन में वह खुलापन नहीं है। खुल के लड़ना और फिर एक हो जाना नहीं। जन्मते ही स्रष्टा के आसन पर वे जा बैठते हैं और कोई दूसरा उन्हें प्रतिष्ठा दे, न दे, अपने नाम के साथ स्वयं 'श्री' लिखकर वे प्रतिष्ठा का बोझ सिर पर धर लेते हैं। इसीलिए संस्मरण-लेखन में भी वही रयाकारी और झूठ आ गया है जो डिप्लोमेसी और राजनीति का गुण है।

हमारे यहाँ सबसे बड़े संस्मरण लेखक बनारसीदास चतुर्वेदी हैं। उनकी संस्मरण-शैली बड़ी दिलचस्प है, इसमें सन्देह नहीं। उनमें कहीं-कहीं वे आवेग भी ले आये हैं, पर उनका आवेग मंच पर बोलने वाले नेता का आवेग है। रामानन्द चटर्जी हों या रेवरेण्ड एंड्रयूज, पद्मसिंह शर्मा हों या सत्यनारायण कविरत्न,राष्ट्र कवि हों अथवा कोई उपेक्षित गायक—उनके संस्मरण श्रद्धा-भक्ति अथवा स्नेह-सरपरस्ती से भरपूर होते हैं। इसलिए दिलचस्प होकर

भी मन पर असर नहीं करते और कोई तीखी याद मन पर नहीं छोड़ते।

चतुर्वेदी जी के बाद महादेवी के संस्मरणों की याद आती है। देवीजी कवियित्री हैं। उनके काव्य की करुणा और माधुर्य अनायास उनके संस्मरणों में आ गया है और वैसे ही वे मन को छूते भी हैं। लेकिन जहाँ तक जीवन-कथात्मक तत्त्व का सम्बन्ध है, उसका उनके यहाँ भी अभाव है। प्रसाद जी के साथ अपने दो घंटे की भेंट को उन्होंने बड़े ही सुन्दर ढंग से अपने संस्मरण 'सुंघनी साहु' में रखा है। पर प्रसाद जी वास्तव में जो थे, इसका पता उस संस्मरण से नहीं चलता। यही गुण अथवा दोष 'निराला' सम्बन्धी उनके संस्मरण में है।

एक तीसरी तरह के संस्मरण इधर हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में यथेष्ट संख्या में छपे हैं। संस्मरण लेखक कवियों तथा कथाकारों से मिलता है, कुछ प्रश्न पूछता है, उनके उत्तर लेता है। इसके बाद संस्मरण लिखकर उन्हीं के पास भेज देता है कि कृपाकर आप इसे सुधार दीजिए और लेखक अपनी इच्छा के अनुसार उसे तैयार कर देता है।

ये तीनों तरह के संस्मरण उर्दू की नयी संस्मरण शैली से भिन्न हैं। साहिर ने सत्यार्थी पर जो संस्मरण लिखा है, उसकी सचाई से सत्यार्थी के मित्र-शत्रु और स्वयं सत्यार्थी भी इनकार नहीं कर सकते। उनके गुण-दोषों का समावेश बड़ी ही आलोचनात्मक हमदर्दी से उसमें किया गया है।

प्रस्तुत संस्मरण कुछ अर्थों में इन सभी से भिन्न है। यह न बहन का भाई पर लिखा गया संस्मरण है, न मित्र का मित्र पर, न श्रद्धालु का अपने प्रिय लेखक पर—यह एक माने हुए शत्रु का शत्रु पर लिखा गया संस्मरण है। अपनी और मंटो की शत्रुता पर मैंने पर्दा नहीं डाला, उसको हर कोने से उधेड़कर मैंने रख दिया है। लेखकों में शत्रुता नहीं होनी चाहिए, हो तो साहित्य में उसका उल्लेख न होना चाहिए, करना पड़े तो शत्रु के मरने के बाद न करना चाहिए!—इन बातों पर मैं यहाँ बहस नहीं करूँगा। संस्मरण लिखा गया है; छापा गया है; उसकी भरपूर प्रशंसा और निन्दा हुई है और

अब वह आपके सामने है। अपने पाठकों से मैं इतना ही कहूँगा कि उसे पढ़ते समय आप भूल जाइए कि मंटो और मैं लेखक हैं, प्रसिद्ध लेखक हैं, आप केवल इतना सोचिए कि, हम दोनों इंसान हैं और हम में इंसानों के सभी गुण-दोष हैं। इस दृष्टि से यदि आप इस संस्मरण को पढ़ेंगे तो आपको हम दोनों के बारे ही में नहीं, स्वयं अपने और अपने मित्र-शत्रुओं से आपके सम्बन्धों के बारे में भी बहुत-सी गहरी बातें मालूम होंगी।

संस्मरण के अन्त में परिशिष्ट स्वरूप मैंने मंटो की छै कहानियाँ, कृष्ण के मंटो सम्बन्धी दो लेख और अपनी तथा सत्यार्थी की एक-एक कहानी भी दी है, जिनका विशेष उल्लेख इस संस्मरण में है। आशा है इससे न केवल पाठकों को मंटो की कला और व्यक्तित्व को समझने में सहायता मिलेगी, वरन् वे इस संस्मरण का उचित मूल्यांकन कर सकने में भी समर्थ होंगे।

●

# मंटो : मेरा दुश्मन

मंटो मेरा दुश्मन समझा जाता था। हममें काफ़ी नोक-झोंक रहती थी और इसमें कोई सन्देह नहीं कि जब तक हम साथ-साथ रहे, हमने एक दूसरे को बड़ी कड़ी चोटें पहुँचायीं। 'कुतुब पब्लिशर्स बम्बई' ने एक पुस्तक माला निकाली थी—'नये अदब के मेमार'[1], उसमें उर्दू के लेखकों ने एक-दूसरे के रेखा-चित्र लिखे थे। सआदत हसन मंटो पर कृष्णचन्द्र ने जो स्केच लिखा, उसमें हमारी उस नोक-झोंक का भी कुछ इस तरह वर्णन किया कि हमारी यह 'दुश्मनी' एक कहानी बन गयी। यहाँ तक कि एक मित्र ने उसी दुश्मनी की चर्चा करते हुए मुझसे आग्रह किया है कि यदि मैंने मंटो के बारे में लेख न लिखा तो वह मुझे परलोक में भी क्षमा न करेगा। लेकिन आज जब मंटो इस दुनिया में नहीं है, मैं सोचता हूँ—क्या हम सचमुच दुश्मन थे? ······मैं जब पिछले पन्द्रह-बीस वर्षों का

---

[1] नये साहित्य के निर्माता

जायज़ा लेता हूँ तो पाता हूँ कि यदि हमारे परिचय का श्रीगणेश ही दुश्मनी में न हुआ होता तो हम बड़े अच्छे मित्र होते।

मंटो की और मेरी प्रकृति में आकाश-पाताल का अंतर था——वह लड़कपन ही में दीनू या फ़ज़लू कुम्हार की दुकानों के ऊपर चौबारों में जमने वाली जुए की महफ़िलों में शामिल होता था और रात को स्वप्न भी फ्लाश ही के देखता था और मैंने कभी ताश को हाथ भी नहीं लगाया। वह रिन्देबलानोश[1] था और मैंने शराब तो दूर रही, सिगरेट भी पहली बार १९४२ में पिया, जब मैं बत्तीस वर्ष का था। कटरा घुन्नियां हो, हीरा मंडी हो या फॉरस रोड——अमृतसर, लाहौर या बम्बई——जहाँ-जहाँ वह रहा 'उस बाज़ार' की उसने खूब सैर की थी और मैंने उधर झाँककर भी नहीं देखा। बात यह है कि माँ ने बचपन ही से इन तीनों बातों के प्रति मेरे मन में असीम घृणा पैदा कर दी थी। पिता जी ने इन तीनों क्षेत्रों में जो कीर्ति अर्जित की थी, मेरा विचार है कि हमारे कुटुम्ब की भावी तीन पीढ़ियाँ इस सिलसिले में कुछ किये बिना ही उस पर गर्व कर सकती हैं। उनके इन्हीं कारनामों की वजह से घर की जैसी स्थिति हो गयी और हमने जिस दारिद्र्य में बचपन के दिन काटे, उसने रक्त को कुछ ऐसा जमा दिया कि आज, जब मैं सिगरेट या शराब को उतना बुरा नहीं समझता, कभी खुल-खेलने का हौसला नहीं होता। पिता जी, जब एकाध पैग चढ़ा लेते थे, प्रायः नारा लगाते थे——'कौड़ी न रख कफ़न के लिए'। वे वर्तमान में जीते थे और उन्होंने कभी भविष्य की चिन्ता नहीं की। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप मैंने लड़कपन ही में जीवन का सारा ढाँचा बना लिया था——और मंटो को मेरे इस संयम, हिसाब-किताब, प्लानिंग, मितव्ययता और ठहराव से घृणा थी। अपनी इस घृणा को उसने कई बार कठोरतम शब्दों में प्रकट किया :

---

[1] **फक्कड़-पियक्कड़**

......मुझे मंटो ने फ़िलिमिस्तान में काम करने के लिए बम्बई बुलाया था। मेरे बम्बई पहुँचने के दूसरे या तीसरे दिन की बात है। हम विक्टोरिया गाड़ी में आमने-सामने बैठे ग्राण्टरोड को जा रहे थे। मंटो ने थोड़ी-सी पी रक्खी थी। अचानक उसने अंग्रेजी में कहा——

"I like you, though I hate you"![1]

......डेढ़ साल बाद हम फ़िलिमिस्तान की कैंटीन मे बैठे थे। लंच का समय था। मंटो की मेज़ पर नित्य की भाँति राजा मेहदी अली खा, वाचा इत्यादि दो-एक मित्र थे। मै बराबर की मेज़ पर अपनी यूनिट के दो-एक दोस्तों के साथ बैठा था। न जाने कैसे हिन्दुओं के दाहकर्म-संस्कार और कपाल-क्रिया की बात चली तो मंटो ने दाँत पीस कर कहा——"अश्क जब मरेगा तो उसकी कपाल-क्रिया मैं करूँगा।"

......मैं के० ई० एम० अस्पताल (बम्बई) में बीमार पड़ा था। डाक्टरों ने टी० बी० का फ़तवा दे दिया था। राजा मेहदी अली खां मुझसे मिलने आया तो उसने कहा——'मंटो कहता है कि साला इस तरह पैसे न जोड़ता तो बीमार न पड़ता।'

जब ग्राण्ट-रोड को जाते हुए मंटो ने मुझसे कहा था——'तुम मुझे अच्छे लगते हो अगरचे मुझे तुमसे सख़्त नफ़रत है' तो मैंने जवाब मे कहा था कि यही हाल मेरा है। लेकिन वास्तव में मैंने जवाब ही के लिए यह जवाब दिया था। नहीं तो मंटो से मुझे दरअसल कभी नफ़रत नही हुई। रहा मंटो, तो इस नफ़रत के बावजूद, जिसे वह अकसर प्रकट किया करता था और उस विरोधाभास के चलते, जो हम दोनों की प्रकृतियों में था, मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि हम दोनों गहरे दोस्त होते, यदि मैंने अपने फक्कड़पने में मंटो को बिना देखे, बिना जाने, बिना पढ़े उसके बारे में एक सख़्त जुमला न कस दिया होता।

---

[1] तुम मुझे अच्छे लगते हो यद्यपि मैं तुमसे घृणा करता हूँ।

बात शायद १९३८ या १९३९ के आस-पास की है। मंटो की एक कहानी 'ख़ुशिया' एक उर्दू पत्रिका में छपी थी। मैं और बेदी (राजेन्द्र सिंह) उस ज़माने में साथ-साथ लिखा-पढ़ा करते थे। वह कहानी लिखता तो मुझे आकर सुनाना न भूलता और मैं लिखता तो उसे जा सुनाता। दोनों मिलकर समकालीन कहानीकारों की रचनाओं पर विचार-विनिमय करते और जैसा कि नौजवानी में होता है, हमारी सम्मतियाँ ख़ासी तेज़, तीखी और दो-टूक होतीं। बेदी ने 'ख़ुशिया' के बारे में मेरी राय पूछी।

मैंने उस समय तक मंटो की कोई चीज़ न पढ़ी थी, न उसे देखा था। उसने ह्यूगो अथवा दास्तवस्की की किसी पुस्तक का अनुवाद किया था, जो 'सरगुज़श्ते-असीर' के नाम से उन्हीं दिनों छपा था, और मैंने किसी से सुना था कि वह रूसी कहानियों के तरजुमे बगल में दबाये किसी प्रकाशक की खोज में लाहौर आया था। इस बात में कहाँ तक सचाई है, यह मैं नहीं जानता। फिर भी 'ख़ुशिया' के प्रकाशित होने के पूर्व मंटो के बारे में यही दो-एक बातें मैं जानता था। और क्योंकि लिखना मैंने कृष्ण, मंटो और बेदी से बहुत पहले शुरू कर दिया था, उम्र में भी मैं तीनों से बड़ा हूँ और उस समय तक मेरी कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ --'डाची', 'कोंपल',' पिंजरा' आदि लिखी जा चुकी थीं और अनुवादक को मैं मौलिक लेखक से हेय समझता था, इसलिए मेरी दृष्टि में मंटो की कोई ख़ास वक़अत न थी। ज़ाहिर है कि 'ख़ुशिया' पढ़ते समय भी मैं पहले ही से लेखक के विपक्ष में था। 'ख़ुशिया' कहानी मुझे कुछ बहुत अच्छी भी नहीं लगी। यद्यपि मंटो की कहानियों में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है और उसके आधारभूत-विचार को मंटो ने बड़ी सफ़ाई से निभाया है। फिर भी मुझे यह आपत्ति थी कि ख़ुशिया यथार्थ चरित्र नहीं, बल्कि लेखक के दिमाग़ की उपज है। मेरे एक मित्र उन दिनों नियमित रूप से उसी 'गली' की सैर करते थे और उनके द्वारा मुझे उस गली के तौर-तरीकों की पूरी जानकारी प्राप्त थी। निम्न वर्ग की वेश्याओं के (जैसी कि ख़ुशिया की कान्ता है।) दलाल प्रायः उनसे पहले ही शारीरिक रूप से परिचित हो लेते हैं, यह बात मुझे विश्वस्तरूप से ज्ञात थी। इसीलिए

मेरा ख़याल था कि ख़ुशिया का चरित्र एकदम अयथार्थ है। बेदी ने जब ख़ुशिया के बारे में मेरी राय पूछी तो उस समय अचेतनरूप में ये बातें मेरे दिमाग़ में थीं। वैसे भी फक्कड़पने के दिन थे। किसी चीज़ पर उतनी गम्भीरता से विचार करने की आदत न थी, जो मुँह में आया बक देते थे, इसलिए मैंने कहा—"दो कौड़ी की कहानी है।"

मैंने यह बात कही और भूल गया, लेकिन बेदी नहीं भूला। और जब कुछ समय बाद बेदी दिल्ली गया और वहाँ मंटो ने (जो उस समय ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली में आ गया था।) अपनी आदत के अनुसार उसे बहुत परेशान किया तो न जाने कैसे और न जाने किस सिलसिले में, बेदी ने 'ख़ुशिया' के बारे में मेरी राय मंटो को बता दी।

दिल्ली से लौटकर बेदी ने मंटो से अपनी मुलाकात का हाल सुनाया और कहा कि मैंने मंटो तक तुम्हारी बात पहुँचा दी है। उस समय मैंने कभी सोचा भी न था कि मंटो और मैं कभी एक दूसरे का रास्ता काटेंगे, इसलिए मैंने इस बात को सुनी-अनसुनी कर दिया, लेकिन १९४० में जब कृष्णचन्द्र के बुलावे पर मैं दिल्ली रेडियो स्टेशन गया और वहाँ जाते ही नौकर हो गया तो मुझे पहली बार इस बात का एहसास हुआ कि मेरा वह रिमार्क कहाँ तक पहुँच गया है। दोस्तों ने मेरी नौकरी पर इसलिए प्रसन्नता प्रकट की कि अब मंटो को अपना जवाब मिलेगा। अर्थात् यद्यपि मैं और मंटो कभी आमने-सामने भी न हुए थे, लेकिन यारों ने हमें एक-दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी मान लिया था।

दिल्ली में अपनी नौकरी पर आने के दूसरे दिन ही मुझे इस बात का पता चल गया और क्योंकि मैं एक बड़े ही कष्ट-प्रद और संघर्ष-भरे जीवन से गुज़र कर आया था, इसलिए यह सोचकर मेरी आत्मा सिहर उठी कि मुझे फिर किसी से मुक़ाबिला करना पड़ेगा। मैंने मन में निश्चय कर लिया कि मैं मौका पाते ही मंटो को समझाऊँगा कि लोग केवल तमाशा देखना चाहते हैं, लेकिन हम क्यों तमाशा बनें? पर एक तो यह कि रेडियो में उस समय मंटो की तूती बोलती थी, दूसरे वह पहले ही से मुझे नीचा दिखाने

को उधार खाये बैठा था, इसलिए मेरे सारे प्रयत्न असफल रहे।

रेडियो का दफ़्तर उन दिनों अलीपुर रोड की एक बड़ी कोठी में था। बड़े कमरे स्टेशन डायरेक्टर, प्रोग्राम डायरेक्टर और संगीत विभाग के पास थे। छोटे कमरों में से (जो शायद कोठी के बाथरूम रहे होंगे) एक मे राशिद[1], दूसरे में कृष्ण और तीसरे में मंटो बैठते थे। ये कमरे साथ-साथ थे। मुझे अच्छी तरह याद है, मैं कृष्ण के कमरे में बैठा था। कृष्ण स्टूडियो मे (जो सड़क के दूसरी ओर एक कोठी मे बना था) गया हुआ था और मै कोई फ़ीचर लिख रहा था कि मंटो टहलता हुआ आया और इधर-उधर की बात करके उसने 'ख़ुशिया' की बात छेड़ी।

"मुझे मालूम हुआ है कि तुम्हें मेरी कहानी 'ख़ुशिया' पसन्द नही आयी।" वह बोला।

मैंने टालने की कोशिश की। लेकिन मंटो यों छोड़ने वाला न था, "तुम्हें उसमें क्या पसन्द नही आया ?" उसने पूछा।

मैंने उसे समझाया कि मै यहाँ हिन्दी सलाहकार की हैसियत से आया हूँ। मेरा तुम्हारा कोई मुकाबिला नही। तुम मज़े में काम करो और मुझे भी करने दो। फ़ज़ूल के बहस-मुबाहिसे में मत पड़ो। लोग तमाशा देखना चाहते हैं, हम क्यों तमाशा बनें ? . . . . . .।

लेकिन मंटो ने मुझे बात पूरी नहीं करने दी। उसने हाथ से हवा को नहीं, जैसे मेरी बात को काटते हुए वही सवाल दोहराया। और शायद कोई सख़्त बात भी कही। लाचार हो मैंने कहा— "कहानी वह अच्छी है, लेकिन हक़ीक़ी[2] नहीं।"

"क्यों हक़ीक़ी नहीं ?"

तब मैंने अपनी आपत्ति बतायी—"तुम्हें एक ख़याल सूझा", मैंने कहा, "और तुमने अपने आप को उस दलाल के रूप में रखकर, वैसी स्थिति

---

[1] आधुनिक उर्दू कविता में मुक्त-छन्द के प्रवर्तक—नून०मीम०राशिद।

[2] यथार्थ।

में अपनी प्रतिक्रिया का ख़ाका खींच दिया। यथार्थ जीवन में यदि 'ख़ुशिया' सचमुच दलाल होता और कान्ता उसके सामने यों नंगी हो जाती तो वह उसे वहीं दबोच लेता। तुमने जो कुछ लिखा, वह एक पढ़ा-लिखा शायर या लेखक सोच सकता है, अपढ़ दलाल नहीं।"

कुछ इसी तरह की बात बड़े ज़ोरों से मैंने कही। मंटो क्षण भर चुप रहा, फिर तिलमिलाकर बोला—"हाँ, हाँ, मैं वह दल्लाल हूँ, मंटो वह दल्लाल है। तुम्हें कहानी लिखने का शऊर भी है? तुम खुद क्या लिखते हो?"

लेकिन उस समय कृष्ण आ गया या मुझे अडवानी साहब (स्टेशन डायरेक्टर) ने बुला लिया या न जाने क्या हुआ, कुछ भी हो, वह बात वहीं ख़त्म हो गयी।

....लेकिन वह बात कभी ख़त्म नहीं हुई। दिल्ली में जो नोक-झोंक इसके बाद रही, सो रही, मंटो मेरी इस आपत्ति को कभी न भूल सका। 'नक़ूश' (लाहौर) के कहानी-अंक (जनवरी १९५४) में उर्दू लेखकों का एक सिम्पोज़ियम छपा और इस समय, जब उर्दू में कोई नयी कहानी लिखे हुए मुझे आठ वर्ष हो रहे हैं (इधर मेरी जो कहानियाँ उर्दू में छपी हैं, वे एक तरह हिन्दी से अनूदित हुई हैं)और मेरे मित्र और उर्दू के पाठक तक मुझे भूल गये हैं, मंटो को मैं याद रहा। 'ख़ुशिया' के बारे में मेरी आपत्ति और मेरे जवाब की चर्चा करना वह उस सिम्पोज़ियम में भी नहीं भूला।

इसके बाद यद्यपि मैंने बड़ा प्रयास किया कि मंटो से मेरी कोई नोक-झोंक न हो, मैं अपनी मेज़ भी उठाकर दूसरी मंज़िल पर ले गया, लेकिन मेरे सारे प्रयास व्यर्थ हुए। मैं जब भी नीचे उतरता, दोस्तों में जाता, मंटो सख्त हिक़ारत भरी नज़र से मुझे देखता और किसी-न-किसी ढंग से अपनी घृणा का प्रदर्शन भी कर देता।

उन दिनों की बड़ी साफ़ तस्वीर मेरे दिमाग़ के पर्दे पर अंकित है।

मंटो रेडियो के लिए ड्रामे लिखने पर नियुक्त था। कृष्णचन्द्र ड्रामे का इंचार्ज था, मैं हिन्दी सलाहकार था और क्योंकि उस व्यवस्था में हिन्दी को कोई विशेष महत्त्व न दिया जाता था, इसलिए कुछ ज़्यादा काम न था और मैं अवकाश के समय एकाध नाटक भी लिख दिया करता था।

मंटो का ढंग यह था कि वह उर्दू का टाइपराइटर लेकर बैठ जाता और कृष्ण से पूछता—"बोलो भई, काहे पर लिखा जाय?" विषय सुनते ही तुरन्त टाइप करना शुरू कर देता और शाम तक मसौदा कृष्ण को दे देता। मंटो को इस बात का गर्व था और इसका एलान वह प्रायः खुले-आम किया करता था कि वह जिस चीज़ पर चाहे ड्रामा लिख सकता है। रेडियो के ड्रामा-आर्टिस्ट—गुलाम मुहम्मद, रनधीर (जो अब फ़िल्म ऐक्टर हैं।) ताज मुहम्मद आदि उसे अकसर घेरे रहते थे। मंटो लिखते-लिखते उन्हें ड्रामा सुनाया भी करता था और सुनकर वे "मंटो साहब, आप ड्रामे के बादशाह हैं", कहते हुए मंटो के पैसों से चाय उड़ाया करते थे। 'जावेद' और 'हसरत साहब' से उसका पीने-पिलाने का नाता था और अडवानी साहब उससे इसलिए दबते थे कि मंटो के कोई सम्बन्धी सूचना और प्रसार विभाग के सेक्रेटरी थे। रेडियो स्टेशन पर हर समय 'मंटो साब', 'मंटो साब' होती रहती और हर मामले में मंटो की राय आख़िरी समझी जाती और मंटो चापलूसों या मित्रों में घिरा रहता। लंच के समय कभी उसके और कभी कृष्ण के कमरे में महफ़िल जमती। मैं भी कभी-कभी आ खड़ा होता। मंटो कभी मुझे बात न करने देता। मेरे बारे में कोई-न-कोई अपमान-जनक 'रिमार्क' ज़रूर पास करता और यद्यपि मेरे मामले में लोग उसका साथ न देते, लेकिन मुझे बड़ी कोफ़्त होती।

आख़िर एक दिन मैंने कृष्ण से कहा—"देखो भाई, तुम मंटो को समझा दो, वह मुझे ख़ाहमख़ाह तंग करता है, मैं तरह दे जाता हूँ।"

"तुम भी उसे तंग करो!" कृष्ण ने कहा, "मेरे समझाने से वह क्या समझेगा?"

उस दिन मैं दफ़्तर गया तो मैंने तय कर लिया कि मैं आज मंटो को

परेशान करूँगा। कुछ दिन पहले उसकी कहानी 'धुआँ' दिल्ली के 'साक़ी' में छपी थी। कहानी मुझे पसन्द थी। मंटो ने सेक्स सम्बन्धी एक बड़े ही नाज़ुक विषय पर सुन्दर और सफल कहानी लिखी थी। लेकिन मैं तो शरारत पर तुला हुआ था और क्योंकि मैं इस बीच उसके अहं के हर पहलू को जान चुका था इसलिए मैंने कार्य-क्रम सोच लिया था। दफ़्तर पहुँचकर मैं मंटो के कमरे में गया। वह अभी आकर बैठा ही था कि मैंने कहा, "मैंने तुम्हारी कहानी 'धुआँ' पढ़ी।"

"कैसी लगी?"

"अच्छी है। अब तुम चपटी पर लिखो।"

मंटो क्षण भर को चुप रहा। फिर उसने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें लगभग बाहर निकालते हुए पूछा—"क्या मतलब है तुम्हारा?"

मैंने कुछ नहीं कहा और वही बात दोहरा दी—"बस अब तुम चपटी पर लिखो।"

उस समयतक अस्मत चग़ताई ने अपनी कहानी 'लिहाफ़' न लिखी थी। मंटो चिढ़ गया। वह कहना चाहता था कि तुम ख़ुद क्या ख़ाक कहानी लिखते हो, लेकिन कुछ दिन पहले वह इस बात का एलान कर चुका था कि उसने कभी मेरी कोई कहानी नहीं पढ़ी, इसलिए उसने कहा—"तुम क्या झख मारते हो? मैंने तुम्हारे ड्रामे पढ़े हैं।"

और यद्यपि उस समय उर्दू में मेरा एकांकी संग्रह "पापी" प्रकाशित हो चुका था और मैं कुछ बहुत अच्छे नाटक लिख चुका था, लेकिन मुझे लड़ने की कला खूब आती है, इसलिए तरह देकर मैंने कहा—"मैं तो ड्रामा लिखना अभी सीख रहा हूँ, इसलिए मेरे ड्रामों की बात छोड़ो, लेकिन तुम जो ड्रामे के बादशाह कहलाते हो, जैसी झख मारते हो वह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। 'करवटें' में तुमने 'मॉम' की कहानी 'रेन' का प्लाट चुरा लिया ह। 'रूह का नाटक' पूरे-का-पूरा अनुवाद कर दिया है और हवाला तक नहीं दिया। मैं अच्छे नाटक नहीं लिखता, लेकिन ओरिजिनल तो लिखता हूँ। मेरी अच्छी-बुरी चीज़ मेरी अपनी है, किसी दूसरे की चुरायी तो नहीं।"

मंटो झल्ला उठा। लेकिन मैं वहाँ नहीं रुका। कृष्णचन्द्र के कमरे में आ गया। मंटो ड्रामा लिखने जा रहा था, लेकिन ड्रामा लिखना तो दूर रहा, अपने कमरे में बैठना तक उसके लिए मुश्किल हो गया। वह मेरे पीछे-पीछे कृष्ण के कमरे में आया। उसने फिर मुझसे कहानी कला को लेकर बात करने की कोशिश की, लेकिन मैं फिर तरह देकर निकल गया और स्टूडियो चला गया। मंटो ने स्टूडियो में मेरा पीछा किया, लेकिन मैं फिर टाल गया।

उसी शाम कवि विश्वामित्र 'आदिल' अपने मित्र और बहनोई श्री मदनमोहन भल्ला के साथ मंटो से मिलने गया। उसने आकर बताया कि मंटो ने उन्हें अपना नया कहानी-संग्रह दिया और मुझे अनगिनत गालियाँ दीं कि अश्क साला अपने आपको क्या समझता है? उसको कहानी-कला की अलिफ़-बे का भी ज्ञान नहीं। 'अदबे-लतीफ' में उसने कहानी-कला पर जो लेख लिखा था वह बकवास है, इत्यादि इत्यादि....

तीन दिन तक मंटो मुझे गालियाँ देता रहा। मैं ऊपर अपने कमरे में बैठा वह सब सुनता रहा, क्योंकि तमाशा देखने वाले बड़े प्रसन्न थे और मंटो क्या कहता है वे मुझे राई-रत्ती बताना न भूलते थे। लेकिन मैं चुप रहा और दिल-ही-दिल में हँसता भी रहा कि जैसा मैंने सोचा था, वैसा ही हुआ और खेद भी करता रहा कि न चाहते हुए भी मुझे वह सब करना पड़ रहा है।

मैं मंटो की कहानियाँ पसन्द करता था। 'खुशिया' के बाद मैंने मंटो की कई बहुत अच्छी कहानियाँ पढ़ी थीं। 'नया कानून', 'मंत्र', 'शं.शां', 'डरपोक', 'मौसम की शरारत', 'हतक' और 'मिसेज़ डी० कास्टा' मुझे बहुत पसन्द आयी थीं। लेकिन जब तक मैं दिल्ली में रहा, मैंने कभी मंटो के सामने उसकी कहानियों की तारीफ़ नहीं की। मंटो की नज़र काफ़ी तेज़ थी, इसलिए चापलूसी से यद्यपि उस समय वह खुश होता था, लेकिन चापलूस के लिए उसके मन में कोई सम्मान न रहता था। यह अजीब बात है कि कृष्ण ने मुझे दिल्ली बुलाकर मंटो के सामने ला खड़ा किया, लेकिन जब भी हममें झगड़ा हुआ, उसने हमेशा मंटो की तरफ़दारी की। मंटो उस तरफ़दारी का फ़ायदा उठा लेता था, लेकिन कृष्ण के प्रति उसके मन में कोई इज़्ज़त

न थी। वह उसे भी गालियाँ देता था, चूँकि जैसा मैंने पहले कहा, उन दिनों मंटो को हर समय चापलूस लोग घेरे रहते थे, इसलिए मेरी उस सच्ची तारीफ़ को भी वह चापलूसी समझे, यह मेरे अहं को स्वीकार न था। मैं जान-बूझकर मंटो की अच्छी कहानियों की चर्चा छोड़ जाता और उसकी कमज़ोर कहानियों की आलोचना बड़े ज़ोरों से करता। सारांश यह कि काफ़ी चपकलश रहती थी।

उन दिनों अश्लील चीज़ें लिखने को प्रगतिशीलता समझा जाता था। अहमदअली, अस्मत और मंटो उस लेखन शैली के अगुवा थे। कृष्ण खुलकर न खेलता था, लेकिन उसने भी अपनी कहानियों का एक फ़ार्मूला बना रखा था, जिसमें वह रोमान और प्रगतिशील व्यंग्य में थोड़ी-सी अश्लीलता का पुट दे देता था। मेरा कहना था कि औरतों की अस्मत-फ़रोशी और बलात्कार के अलावा भी बीसियों समस्याएँ हैं, जो उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन न जाने क्यों, उस समय प्रगतिशील लेखकों का रुझान नग्नता को चित्रित करने की ओर अधिक था और उनके मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे युवक-पात्र घटिया श्रेणी की वेश्याओं के चौबारों पर अपनी कुण्ठा को मिटाते घूमते थे। जब मैं कृष्ण से कहता कि यह प्रगतिशीलता नहीं है तो वह कहता कि चूँकि तुम यह सब लिख नहीं सकते, इसलिए तुम्हें मंटो, अस्मत (इन दोनों के साथ वह अपने को भी शामिल कर लेता) से ईर्ष्या होती है। एक दिन मंटो ने भी कुछ ऐसी ही बड़ हाँकी तो मैंने तय किया कि मैं भी एक ऐसी ही कहानी लिखूँगा। यह याद नहीं कि किसी ने विषय चुना था या हमने अपने आप लिखा, लेकिन हम दोनों ने एक ही विषय यानी नौकरों के सामने मालिकों की यौन सम्बन्धी बेपरवाही पर कहानियाँ लिखीं। मंटो ने 'ब्लाउज़' और मैंने 'उबाल'! दोनों कहानियाँ 'साक़ी' दिल्ली के एक ही अंक में (शायद किसी नव-वर्षांक में) छपीं। 'उबाल' को मित्रों ने बहुत पसन्द किया। कृष्ण ने उस समय तक की मेरी कहानियों में उसे सर्वश्रेष्ठ माना। बाद में उसका अंग्रेजी अनुवाद छपा तो वह भी काफ़ी पसन्द किया गया। 'ब्लाउज़' और 'उबाल' उस समय की मेरी और मंटो की कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। अश्लीलता दोनों

कहानियों में एक जैसी है, मालिकों की यौन सम्बन्धी बेपरवाही का प्रभाव भी दोनों कहानियों के नौकरों पर एक जैसा पड़ता है, लेकिन जहाँ ब्लाउज़ के अन्त की वास्तविकता कोरी वास्तविकता है, वहाँ 'उबाल' के नौकर की ट्रेजिडी में सामाजिक ट्रेजिडी भी निहित है और कहानी सामाजिक यथार्थ का नमूना पेश करती है। कहानीकार को यथार्थ का सच्चा ख़ाका खींचने तक ही अपनी लेखनी को सीमित रखना चाहिए या उस यथार्थ की पृष्ठभूमि में समाज का भी जायज़ा लेना चाहिए, यह विवाद लम्बा और बेमज़ा है और वे लेखक जो कला का उद्देश्य मात्र कला समझते हैं अथवा वे जो कला द्वारा जीवन को प्रतिबिम्बित देखना चाहते है, सदा इस पर बहस करते रहेंगे। बहरहाल, मंटो के साथ चलने वाली नोक-झोंक में मैंने भी वैसी ही एक कहानी लिखी और यद्यपि उसकी बड़ी प्रशंसा हुई, लेकिन फिर मैंने उस तरफ़ का रुख़ नहीं किया। इसलिए नहीं कि वैसी कहानियाँ लिखना मैं कुछ अच्छा नहीं समझता, बल्कि इसलिए कि वे मेरे स्वभाव और प्रकृति से मेल नहीं खातीं।

बारी साहब[1] के बारे में मंटो ने लिखा है कि वे बड़े रणछोड़ किस्म के आदमी थे[2] लेकिन मंटो को जैसा मैंने देखा, मेरा ख़याल है कि बारी साहब का कुछ प्रभाव उस पर भी था। यह दूसरी बात है कि अपने चरित्र के इस पहलू से वह स्वयं नितान्त अनभिज्ञ हो। जिन परिस्थितियों अचानक एक दिन मंटो दिल्ली से ग़ायब हो गया, लगभग उन्ही परिस्थितियों में वह बम्बई से पाकिस्तान भाग गया। दिल्ली से उसके पलायन का कारण मैं था और बम्बई से नज़ीर अजमेरी और शाहिद लतीफ़। लेकिन असलियत यह है कि मंटो स्वयं उस पलायन का कारण था। क्योंकि

---

[1] उर्दू के प्रसिद्ध इतिहासकार जो क्रान्तिकारी साहित्यिक इश्तराकी अदीब कहलाते थे।

[2] मंटो द्वारा रचित 'गंजे फ़रिश्ते' पृष्ठ संख्या १११

लड़ाई में जब तक वह मारता चला जाता था, ख़ुश रहता था और जब दूसरे उसीके हथियारों को उस पर आज़माने लगते थे तो वह मैदान छोड़कर भाग जाता था। बम्बई से भागने के बारे में नज़ीर अजमेरी के विरोध की चर्चा करते हुए मंटो ने लिखा है :—

> **"मैंने बहुत ग़ौर किया, कुछ समझ में न आया। आख़िर मैंने अपने आपसे कहा—मंटो भाई—आगल रास्ता नहीं मिलेगा। कार-मोटर रोक लो, उधर बाजू की गली से चले जाओ! —और मैं बाजू की गली से पाकिस्तान चला आया।"[१]**

दिल्ली से अचानक मंटो ग़ायब हो गया तो मैं हैरान रह गया था। यद्यपि यह अफ़वाह उड़ी थी कि उसे फ़िल्म-कम्पनी में नौकरी मिल गयी है, लेकिन दो साल बाद उसने स्वयं मुझे बताया कि वह किसी नौकरी के बिना दिल्ली से चला आया था—बाजू की गली से—आगल रास्ता न मिलने पर—बिलकुल वैसे ही, जैसे कुछ वर्ष बाद वह बम्बई छोड़ गया।

मेरे पिताजी ज़िन्दगी भर लड़ते रहे। 'कौड़ी न रख कफ़न के लिए' के साथ-साथ जो दूसरा नारा वे लगाया करते थे, वह था—'सर कायम, जंग दायम'— और वे अपने लड़कों को भी यही नेक सलाह दिया करते थे। चूँकि उनका ख़याल था कि उनका कोई-न-कोई लड़का शहर का सब से बड़ा लड़ाका होगा, इसलिए वे सबको लड़ने का ढंग बताया करते थे। सबसे अधिक ज़ोर वे इस बात पर दिया करते थे कि जो आदमी पिट सकता है, वही पीट भी सकता है। पीटने से पिटना मुश्किल है—पिटो, लेकिन पीटने वाले को न छोड़ो—मेरा स्वास्थ्य तो लड़कपन ही से खराब था। अपने पिता या छोटे भाइयों की तरह तो मैं क्या लड़ता, लेकिन यह बात ज़रूर मन में पैठ गयी और जीवन-संघर्ष में जहाँ-जहाँ रण छिड़ा है, मैंने पिटकर अन्त में पीटने वाले को पीट दिया है।

मंटो से दो बार मेरा सामना हुआ। एक बार दिल्ली में और दूसरी

---

[१] **'गंजे फ़रिश्ते' पृष्ठ २६६**

बार बम्बई में। दिल्ली में मैंने उसे परास्त कर दिया, लेकिन बम्बई में हमारी जोड़ बराबर रही।

'धुआँ' के सिलसिले में हममें जो नोक-झोंक हुई, उसके बाद मेरे और उसके बीच तनाव और भी बढ़ गया। क्योंकि मंटो ज़ोर में था और कृष्ण यद्यपि मुझे कुछ न कहता था, लेकिन हर बार मंटो के लिए ढाल बन जाता था, इसीलिए मेरा वार ओछा पड़ता था, लेकिन इस दौरान में मंटो अपने ज़ोम में 'राशिद' से भी बिगाड़ कर बैठा। राशिद आज़ाद-नज़्म के बानी समझे जाते थे और मंटो को आज़ाद-नज़्म से चिढ़ थी। उन्हीं दिनों 'राशिद' की कविताओं का संग्रह 'मावरा' के नाम से प्रकाशित हुआ, जिस पर कृष्णचन्द्र ने भूमिका लिखी। मंटो ने दोनों का मज़ाक उड़ाया। उसने 'नीली रगें' के नाम से एक नाटक भी लिखा जिसमें राशिद की कविताओं से शब्द लेकर उसका मज़ाक उड़ाया। नाटक आज़ाद नज़्म से शुरू होता है। दो सम्वाद देखिए।

**सईद (शायर) कृष्ण, तुमने कभी किसी औरत के ठण्डे हाथ अपने हाथों में दबाये हैं।**

**कृष्ण : ठण्डे हाथ ...**

**सईद : ठहरो, मुझे अपना फ़िकरा दुरुस्त कर लेने दो—बताओ क्या तुमने किसी अजनबी औरत के ठण्डे हाथ अपने हाथों में दबाये हैं।—ऐसे हाथ जो चाँद की तरह खुनक[1] हों—किसी अजनबी औरत के हाथ, जो तुम्हारी ज़िन्दगी में यों दाख़िल हों, जैसे रात के सुनसान अँधेरे में कोई जुगनू भटकता आ निकले।**

**कृष्ण : (मज़ाक के तौर पर)—अपनी दुम से लालटेन बाँधे—नहीं, चाँद की डली चूसता हुआ इधर आ निकले। तुम्हें आज क्या हो गया है सईद? यह ठण्डी यख़ औरत तुम्हारी ज़िन्दगी में कब दाख़िल हुई?**

---

[1] शीतल

कुछ दिन मंटो आज़ाद-शायरी का, राशिद की अनोखी उपमाओं का, अजनबी औरत का, 'ज़ामिस्तान की रात' का, भाषा की ग़लतियाँ निकालने में राशिद की सनक का मज़ाक उड़ाता रहा, फिर उसने कोई दूसरा विषय ढूँढ़ लिया और बात आयी-गयी हो गयी।

लेकिन राशिद उसे नहीं भूले।

इसके बाद एक दिन मंटो ने कोई नाटक लिखा और राशिद को पढ़ने के लिए दिया। राशिद टाइप की हुई पाण्डुलिपि अपने कमरे में ले गये और कुछ देर बाद लौट कर उन्होंने पाण्डुलिपि वापस कर दी।

"कैसा है ?" मंटो ने पूछा।

"निहायत अच्छा टाइप हुआ है !" राशिद ने उस व्यंग्यमय मुस्कान के साथ कहा जो उनकी अपनी चीज़ थी।

और मंटो अपने ही शब्दों में 'कबाब हो गया'। इसके बाद मंटो हफ़्तों राशिद और उनकी नज़्मों को कोसता रहा। अपने किसी दोस्त से उसने राशिद की नज़्मों पर एक लेख भी लिखवाया।

हिन्दी परामर्शदाता की हैसियत से मैं अधिकांश समय राशिद के साथ बिताता था और क्योंकि मंटो और राशिद में चलने लगी थी, राशिद मेरे पड़ोसी भी थे, इसलिए मंटो मुझे अधिक हानि न पहुँचा सकता था। फिर भी मुझे परेशान करने में मंटो ने कोई कसर न उठा रखी।

फिर सम्भवतः १९४२ के अन्त में या १९४३ के आरम्भ में (ठीक सन मुझे याद नहीं) अचानक एक दिन राशिद तरक्की करके प्रोग्राम डायरेक्टर (आज के प्रोग्राम एग्ज़िकिटिव)हो गये। प्रोग्राम डायरेक्टर उस ज़माने में रेडियो स्टेशन की धुरी था और उसे बड़े अधिकार प्राप्त थे। राशिद ने चार्ज लेते ही पहला काम यह किया कि कृष्ण की अनुपस्थिति में उसकी बदली लखनऊ करा दी। बात दरअसल यह थी कि राशिद को छोड़कर दिल्ली के रेडियो स्टेशन पर प्रोग्राम असिस्टेंटों में कृष्ण सब से योग्य था और बाकी जितने प्रोग्राम असिस्टेंट थे, वे अपना शेड्यूल बनाने में कृष्ण से सहायता लेते थे और इसी कारण उसका कहना मानते थे। प्रोग्राम डायरेक्टर तक

बीसों बातों में कृष्ण से मदद लेते थे, इसलिए उसके काम में दख़ल न देते थे और कृष्ण बहुत सी बातें सीधे डायरेक्टर से मनवा लेता था। राशिद के स्वभाव में काफ़ी तानाशाही थी। उन्हें यह पसन्द न था कि कृष्ण उनको नज़र-अन्दाज़ कर जाय। इसलिए उन्होंने उसको लखनऊ भिजवा दिया। लेकिन कृष्ण की तब्दीली जिन परिस्थितियों में हुई (राशिद ने उसकी अनुपस्थिति में उसके ख़िलाफ़ कुछ आरोप लगाये और क्योंकि बुख़ारी साहब तक राशिद की सीधी पहुँच थी, इसलिए तुरन्त बदली करा दी) उससे मुझे रंज हुआ और मैंने राशिद से अपना यह आक्रोश प्रकट भी किया। राशिद को आशा थी कि मैं उनका समर्थन करूँगा, लेकिन जब मैंने कृष्ण का पक्ष लिया तो इसके बावजूद कि हम बराबर के घरों में रहते थे और मेरी पत्नी तथा बेगम राशिद में बड़े घनिष्ट सम्बन्ध थे, रोज़ का मिलना-बैठना था, राशिद मुझसे नाराज़ हो गये।

राशिद प्रोग्राम डायरेक्टर हो गये और कृष्ण लखनऊ चला गया तो मंटो ने कुछ ही दिनों में दूसरे प्रोग्राम डायरेक्टर (सुरेन्द्र चोपड़ा) को गाँठ लिया। उसके जन्म दिन पर मंटो ने एक बढ़िया सूट उसे भेंट किया और इस प्रकार उसे अपनी तरफ़ मिला लिया। अडवानी साहब क्योंकि मुझसे प्रसन्न थे, इसलिए उन्होंने मुझे नये प्रोग्राम असिस्टेंट के आने तक कृष्ण की जगह सम्हालने को कहा। मंटो का ड्रामा शेड्यूल पर था। मैंने प्रोड्यूस भी किया। मुझे अच्छी तरह याद है कि मंटो उसकी रिहर्सलों में स्टुडियो भी आता रहा, हालाँकि वह कभी ही अपने ड्रामों में दिलचस्पी लेता था।

इस बीच में लखनऊ से हिन्दी का एक प्रोग्राम-असिस्टेंट कृष्ण की जगह लेने पहुँचा—अत्यन्त कुरूप, लम्बा तगड़ा, चपटी नाक वाला युवक। अडवानी ने सुबह उसे और मुझे अपने कमरे में बुलाया और उससे कहा कि वह कुछ दिन तक मुझसे काम सीखे। कृष्ण के कमरे में एक मेज़ और दो कुर्सियों के अलावा अधिक जगह न थी। मैं मीटिंग के बाद कृष्ण वाली कुर्सी पर जा बैठा और उस दिन का काम निबटाने लगा। लेकिन मीटिंग के बाद ही मंटो ने उस लखनवी पी०ए० (प्रोग्राम असिस्टेंट) को समझाया कि

वह प्रोग्राम असिस्टेंट है और उसे कृष्ण वाली कुर्सी पर बैठना चाहिए। वह अपने आपको समझता भी बहुत कुछ था। काम सीखने की बात भी उसे अच्छी न लगी थी। उसने राशिद से पूछा तो राशिद ने भी उससे यही कहा कि ड्रामा डिपार्टमेंट की सब ज़िम्मेदारी तुम्हारी है। अश्क तो आर्टिस्ट है, कोई भी गड़बड़ हो, जवाबदेह प्रोग्राम असिस्टेंट ही होगा। मुझे इन सब बातों का पता न था। मैं कृष्ण वाली कुर्सी पर बैठा मजे में काम कर रहा था कि मंटो उस लखनवी पी० ए० के साथ आया। मेरा ध्यान लिखने में लगा था कि मंटो ने मेरी कुर्सी की तरफ़ इशारा करते हुए उससे कहा—"यह आपकी कुर्सी है।" साथ ही उस पी० ए० ने मेरे सामने पड़ी कुर्सी की ओर संकेत करते हुए मुझसे कहा—"आप इधर आ जाइए!"

मैंने निगाहें उठायीं। पी० ए० की आँखों में आदेश था और मंटो की आँखों में विजय की चमक। मुझे मामला समझने में देर न लगी। मैंने कहा—"मैं ऊपर अपने कमरे में जाता हूँ। आपको मेरी ज़रूरत हो तो वहीं आ जाइएगा।"

और मैं चला गया। मेरी आँखों के आगे मारे क्रोध के अँधेरा छा गया। राशिद से मैंने चर्चा की तो मालूम हुआ कि लखनवी पी० ए० उनसे मिल चुका है। यह भी पता चल गया कि वे चाहते हैं, उनके प्रोग्राम असिस्टेंट स्वयं ग़लतियाँ करके सीखें। वास्तव में उन्हें यह बात पसन्द न आयी थी कि अडवानी साहब ने बिना उनसे पूछे मुझे कृष्ण की जगह काम करने को कह दिया। मैं इसका इच्छुक भी न था। क्योंकि एक बार श्री जुगुल ने, जो थे तो असिस्टेंट डायरेक्टर, लेकिन बुख़ारी साहब के दायें हाथ थे, मुझे पी० ए० की जगह 'ऑफ़र' की थी तो मैंने इनकार कर दिया था। लेकिन एक बार जब मैं उस कुर्सी पर जा बैठा तो इस तरह उठना और वह भी मंटो के सामने, उसकी शह पर, मुझे खल गया। पहले ख़याल आया कि अडवानी साहब के पास जाऊँ, क्योंकि उन्होंने ही मुझे भेजा था, लेकिन फिर सोचा कि अडवानी कुछ न कर सकेंगे। मंटो की आँखों का विजयोल्लास मेरे दिल में दूर तक घाव करता चला गया। उसी गुस्से में निमिष-भर को विचार आया

कि त्यागपत्र दे दूँ, फिर आप ही इस विचार पर हँसी आ गयी। झल्लाया हुआ ऊपर अपने कमरे में जा बैठा। मंटो की आँखों की वही चमक फिर सामने आ गयी।—भगवान साक्षी है कि यदि मंटो उस लखनवी पी० ए० के साथ न आया होता और उसकी आँखों में वह चमक न होती तो मैं वह सब कुछ न करता जो मैंने किया और जिसके कारण मंटो को दिल्ली छोड़नी पड़ी और जिसका मुझे हमेशा अफ़सोस रहेगा।

उस समय कमरे में जाकर बैठा तो काम करना मेरे लिए असम्भव हो गया। बार-बार अपने अपमान का ख़याल आने लगा। राशिद पर गुस्सा आता, उस लखनवी पी० ए० पर गुस्सा आता, लेकिन सबसे अधिक गुस्सा आता मंटो पर। उसकी आँखों में जो चमक थी, उससे पता चल गया था कि मेरी हतक करने वाला न वह पी० ए० है, न राशिद—मंटो है और मैंने तय कर लिया कि मंटो को इस षडयन्त्र का मज़ा चखाऊँगा। मेरे क्रोध का एक कारण यह भी था कि जितने दिन मैंने कृष्ण की जगह काम किया, उनमें मंटो का ही ड्रामा प्रोड्यूस किया और भरसक प्रयत्न किया कि मैं उसमें एक शब्द भी न काटूँ और वह अच्छे-से-अच्छा प्रस्तुत हो। कुछ पहले का गुस्सा और कुछ ताज़े अपमान का घाव, काम-वाम छोड़कर मैं बस कोहनियाँ मेज़ पर टिका, हथेलियों पर ठोढ़ी रखकर बैठ गया।

जाने पूर्वजों में से किसी ने महर्षि चाणक्य के आश्रम में शिक्षा प्राप्त की थी या हमारे कुल का उनसे कोई सम्बन्ध था या बचपन ही से पिता जी से उस महर्षि के कारनामे सुन-सुनकर मैंने उसी की भाँति सोचना सीख लिया था। कुछ भी हो, हमेशा मुझ पर जब मुसीबत आयी, मेरी समझ और सोच की शक्ति और भी तेज़ी से काम करने लगी और अपमान करने वाले को यदि वह मेरे बराबर का या मुझसे ऊँचा है, मैंने कभी माफ़ नहीं किया, जब तक कि उसने माफ़ी नहीं माँगी (और यह बात कितनी भी बुरी क्यों न हो) उससे बदला ज़रूर लिया और न केवल हर संकट से निकला बल्कि एक कदम आगे भी बढ़ा।

सोचने पर मुझे लगा कि यह लखनवी प्रोग्राम असिस्टेंट वज्र-मूर्ख है । यह ठीक है कि मंटो ने उसे भड़काया, लेकिन जो मंटो के कहने में आ गया, उसकी मूर्खता में क्या संदेह हो सकता है। उस समय भी हिन्दी में मेरा काफ़ी नाम था। उसने मेरा नाम न सुना हो, ऐसी बात नहीं। वह समझदार होता तो मुझे अलग ले जाकर बात कर लेता और यों आदेशपूर्ण स्वर में मुझ से कुछ न कहता। सोचा कि इस मूर्ख को ही अस्त्र बनाया जाय। और कुछ देर बाद मैं नीचे गया। वे हज़रत सीना ताने, चपटी नाक चढ़ाये, नथुने फुलाये, लखनऊ के अपने किस्से सुना रहे थे कि कैसे चिब साहब (जो उस समय लखनऊ के स्टेशन डायरेक्टर थे) उन्हें चाहते हैं और कैसे-कैसे उन्होंने वहाँ शानदार कारनामे सरअंजाम दिये हैं। और मंटो (अपनी आदत के ख़िलाफ़) चुपचाप पाँव कुर्सी पर रक्खे, घुटने बाहों में दबाये उनकी गप्पें सुन रहा था। मैं जाकर खड़ा हो गया। कुर्सी तो दूसरी थी नहीं कि बैठता। दोनों ने एक नज़र मुझे देख लिया। कुछ देर के बाद मंटो को चोपड़ा साहब का चपरासी बुलाकर ले गया तो मैंने उन लखनवी हज़रत से कहा—"मुझे अभी मालूम हुआ है कि आप हिन्दी के आदमी हैं। इस स्टेशन पर हिन्दी के एक प्रोग्राम असिस्टेंट की बड़ी ज़रूरत है।" और उसके आने पर खुशी प्रगट करते हुए मैंने उसे शाम को घर पर चाय के लिए आमंत्रित किया।

मैं उन दिनों तीस हज़ारी में रहता था। वहाँ पास ही छोटी-सी पहाड़ी और मनोरम जंगल है। बरसात की शाम थी। चाय पिलाकर मैं उस लखनवी उजबक को 'रिज' ( Ridge ) पर ले गया। बादल घिरे थे। हल्की फुहार पड़ रही थी, वह लगातार अपनी तारीफ़ें करता रहा कि किस तरह उसने ड्रामे लिखे, किस तरह चिब साहब ने कहा कि वैसी स्क्रिप्ट हिन्दी में कोई नहीं लिखता और किस तरह उन्होंने उसकी सिफ़ारिश करके उसे प्रोग्राम असिस्टेंट बना दिया। मैंने भी उसे खूब चंग पर चढ़ाया। उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा की। उसे समझाया कि अगर शुरू से ही उसने अपना सिक्का जमा दिया तो सब उससे भयभीत रहेंगे, नहीं तो रेडियो आर्टिस्ट अच्छे-से-

अच्छे को बुद्धू बनाकर रख देते हैं। मैंने उससे यह भी कहा कि पी० ए० का काम है कि जो ड्रामे ब्रॉडकास्ट हों, उन्हें अच्छी तरह पढ़े, वेट (Vett) करे। उसने कहा कि वह एक भी चीज़ पढ़े और वेट किये बिना ब्रॉडकास्ट न होने देगा। "अब जब आप आ गये हैं और हिन्दी जानते हैं" मैंने कहा, "तो मैं भविष्य में आपकी सुविधा के लिए हिन्दी लिपि में ही नाटक लिखूँगा। बाकी नाटक तो उर्दू स्क्रिप्ट ही में आयेंगे, वे सब आप मुझसे सुनकर वेट किया कीजिए और यों अच्छी तरह देखकर ब्रॉडकास्ट कीजिए क्योंकि खराब नाटक ब्रॉडकास्ट हो तो उत्तरदायित्व आप ही पर होगा और मीटिंग में डाँट आप ही को पड़ेगी। इस पर उसने अपनी योग्यता के बारे में मेरे ज्ञान को और बढ़ाया और बड़ा ख़ुश-ख़ुश वापस हुआ।

तब शेडयूल तो तीन महीना पहले बन जाता था और वह कृष्ण बनाकर गया था। मैं महीने दूसरे महीने ड्रामा लिखता था और मंटो के दो-तीन ड्रामे हर महीने होते थे। अगला ड्रामा मंटो का ही था। नाम था (जहाँ तक मुझे याद है) 'आवारा'। कथानक आदि मुझे सब भूल गया है। इतना याद है कि वह ड्रामा भी मंटो के उन दिनों लिखे अधिकांश ड्रामों की भाँति एक दिन में लिखा गया था। दूसरे ही दिन उस लखनवी पी० ए० ने उसकी पाण्डुलिपि निकाली और मुझे बुलाया। मैं उसे स्टूडियो में ले गया और वहाँ जाकर उसे नाटक सुनाने लगा। उसको नाटक की तेकनीक अथवा भाषा आदि की ख़ाक समझ न थी। ड्रामा सुनाते-सुनाते मैं कहता—"क्यों साहब, इस शब्द की जगह यह शब्द हो तो कैसा रहे?" और वह कहता—"हाँ, हाँ, यह ठीक है, मैं ख़ुद यही सुझाने वाला था।" इसी तरह मैं लाल पेंसिल से शब्द और मुहाविरे बदलता चला गया। दो-चार जगह मैंने गोल निशान लगा दिये। मैंने उन हज़रत से कहा कि राशिद साहब इन शब्दों के सख़्त ख़िलाफ़ हैं। उनके साथ साल-डेढ़ साल काम करके मैं जान गया हूँ। मैं इनको नहीं बदलता। वे स्वयं बदल देंगे। और इस तरह इस सारे संशोधन की ज़िम्मेदारी उनकी हो जायगी। ड्रामे का अन्त मैंने काट दिया और उसकी जगह तीन अन्त सुझा दिये।

जैसा कि मैंने सोचा था वैसा ही हुआ। उस लखनवी पी० ए० ने राशिद पर बड़ा रोब जमाया कि उसने मंटो का ड्रामा पढ़ा है। बड़ा त्रुटिपूर्ण है। उसने बड़ी मेहनत से उसे वेट किया है। राशिद उसका मसौदा देखकर पास करें तो वह ब्रॉडकास्ट हो। राशिद तो पहले ही मंटो से जले बैठे थे। उनको अपना पुराना बदला चुकाने का मौका मिल गया और उन्होंने वे कुछ शब्द भी, जिनको मैंने लाल पेंसिल से गोल घेरे में कर दिया था, बदल डाले।

जब मंटो को मालूम हुआ कि उसका ड्रामा वेट हुआ है तो उसके सिर पर ख़ून सवार हो गया। वह डायरेक्टर के कमरे में गया और उसने राशिद और उस लखनवी पी० ए० को बे-भाव की सुनायीं और कहा कि ड्रामा होगा तो बिना एक शब्द कटे होगा, नहीं तो नहीं होगा।

मैं ऊपर अँग्रेजी विभाग के फक्कड़ एनाउँसर नौबी क्लार्क की मेज़ के साथ मेज़ लगाये बैठा करता था। अडवानी साहब के कमरे का रोशनदान मेरी आँखों के सामने पड़ता था। नीचे उनके कमरे में मंटो कुछ इतने ज़ोर से चिल्ला रहा था कि मैं उठकर रोशनदान के पास चला गया और भीतर का दृश्य देखने लगा। राशिद कह रहे थे कि उन्होंने खुद ड्रामा पढ़ा है और होगा तो उन्हीं परिवर्तनों के साथ होगा नहीं तो नहीं होगा और डेविएशन[1] की ज़िम्मेदारी उनकी नहीं होगी। जब हम बाहर वालों की चीज़ वेट कर सकते हैं तो अपने आर्टिस्टों की क्यों नहीं कर सकते? और मंटो पिंजरे में बन्द शेर की तरह तिलमिला रहा था और लगभग दहाड़ते हुए कह रहा था कि ड्रामा होगा तो इसी रूप में होगा नहीं तो नहीं होगा।

मुझे मंटो की उस तिलमिलाहट को देखकर कुछ अजीब सी शैतानी ख़ुशी हुई। मंटो ने मुझे जितनी गालियाँ दी थीं, मेरी उन्नति के मार्ग में जो रुकावटें डाली थीं, उर्दू का टाइपराइटर बेचते हुए जो चालीस रुपये झूठ बोलकर मुझसे ज़्यादा ले लिये थे और ऊपर से मुझे बनाया था—और भी

---

[1] छपे प्रोग्राम के विरुद्ध प्रोग्राम ब्रॉडकास्ट करना।

जितना मुझे सताया था, उस सब का बदला उन कुछ क्षणों में मुझे मिल गया। 'सुनार दी ठक ठक, लोहा दी इक्को सट्ट!' मैंने मन-ही-मन पंजाबी का मुहाविरा दोहराया और वापस अपने कमरे की ओर पलटा।

मुझे याद नहीं, अडवानी ने क्या फ़ैसला दिया था। शायद उन्होंने राशिद पर सब कुछ छोड़ दिया था और प्रोग्राम डायरेक्टर के काम में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया था। कुछ भी हो, कुछ अजीब से दानवी-उल्लास में विभोर मैं वापस कुर्सी पर आ बैठा और टाँगें मेज़ पर फैलाकर मैंने सन्तोष की साँस ली। लेकिन उस उल्लास और संतोष के बावजूद कुछ अजीब-सी तकलीफ़ और उदासी का भाव मेरे मन-प्राण पर छा गया—आँखों के सामने मंटो की तिलमिलाहट, उसके सुन्दर माथे पर पड़ी हुई लकीरें, उसकी बाहर को निकली पड़ती आँखें—सब कुछ घूम गया।—और इस तिलमिलाहट का कारण मैं था—मैं, जो वास्तव में उसे चाहता था, उसके पास बैठना चाहता था, उसकी कहानियों का उसके तथाकथित प्रेमियों से कहीं अधिक प्रशंसक था—मैं, जिसने दो-एक महीना पहले अपने नाटकों का दूसरा संग्रह 'चरवाहे' उसके नाम समर्पित किया था।

'चरवाहे' की एक प्रति आज भी मेरे पास पड़ी है। मंटो के नाम किया हुआ समर्पण मेरे सामने है।

### मंटो के नाम

**जो मुझे कभी बहुत अच्छा लगता है और कभी सख़्त बुरा।**

मेरे उस समय के मनोभावों का कितना सच्चा चित्र है यह समर्पण!

दूसरे दिन मीटिंग में ड्रामे का किस्सा पेश हुआ। लखनवी पी० ए० ने राशिद के कहने पर ड्रामे की लिखित आलोचना पढ़ी—ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली के जीवन में यह पहला अवसर था कि किसी होने वाले नाटक की आलोचना मीटिंग में हो। लेकिन क्योंकि डेविएशन का सवाल था,

यदि वह ड्रामा न होता तो उसकी जगह दूसरा ड्रामा चुनने की बात थी, इसलिए राशिद ने मीटिंग में यह बात उठायी थी। मंटो की आलोचना हो और वह भी भरी मीटिंग में, यह कभी न हुआ था। मंटो इस तरह अपनी आलोचना सुनने का आदी भी न था। लखनवी पी० ए० की समझ के बारे में उसने दो-तीन तेज़ बातें कहीं और तेज़ बातें कहते समय मंटो कुछ सोचता न था। मुझे फिर गुस्सा आ गया और मैंने कहा कि यह ड्रामा मेरी नजर से भी गुज़रा है और उन साहब ने बिलकुल ठीक आलोचना की है।—और क्योंकि सारी काट-छाँट मैंने की थी, इसलिए मैंने बड़ी सफ़ाई से उस ड्रामे की कमज़ोरियाँ सबके सामने उजागर कर दीं।

मुझे अब याद नहीं कि मंटो ने क्या कहा, लेकिन गुस्से में उसने मेरी योग्यता के बारे में कोई तेज़ बात कही, जिसका मतलब था कि तेकनीक के सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं जानता और कहा कि तुम इससे अच्छा लिखकर दिखाओ तो जानूँ।

मैंने और भी तेज़ स्वर में कहा कि मैं तुम्हें दस बरस तक ड्रामा लिखना सिखा सकता हूँ, तुम ऊपर मेरे कमरे में आओ तो तुम्हें बताऊँ कि ड्रामा कैसे लिखा जाता है और यह ड्रामा भी अच्छा बनाकर दिखा दूँ।

बात बढ़ जाती, लेकिन शोर सुनकर अडवानी साहब अपने कमरे से आ गये। तय हुआ कि ड्रामा संशोधित रूप में होगा और क्योंकि अपने आर्टिस्ट का सवाल है, इसलिए शेडचूल के प्रतिकूल नहीं होगा।

मंटो मीटिंग के बाद दफ़्तर में नहीं रुका। उसने टाइपराइटर उठाया और चला गया। दूसरे दिन भी वह दफ़्तर नहीं आया। दोपहर को खुर्शीद साहब (सेक्रेटरी इन्फ़ार्मेशन एण्ड ब्रॉडकास्टिंग) का फ़ोन आया कि मंटो का ड्रामा यदि ब्रॉडकास्ट करना हो तो मंटो के लिखे मसौदे के अनुसार किया जाये, नहीं तो रद्द कर दिया जाय।

ठीक घटनाएँ मुझे याद नहीं रहीं। शायद ड्रामा खुर्शीद साहब ने मँगाया था और फिर उन्होंने यह पैग़ाम भेजा था। राशिद क्योंकि तुले हुए थे कि वह शेडचूल के ख़िलाफ़ नहीं जायँगे और ड्रामा संशोधित रूप में प्रसारित

करेंगे, इसलिए मंटो ने खुर्शीद साहब के द्वारा उसे कैंसिल करा दिया था।

तीसरे दिन भी मंटो दफ़्तर नहीं आया। ड्रामा उसने मँगा लिया। चौथे या पाँचवें या शायद सातवें दिन सुना कि वह बम्बई चला गया है और उसे फ़िल्म कम्पनी में पाँच सौ की जगह मिल गयी है।

ग्रांट रोड जाते हुए विक्टोरिया में मेरे सामने बैठे-बैठे मंटो ने बताया कि नौकरी-औकरी उसे कहीं नहीं मिली थी और बम्बई में उसे ख़ासी तकलीफ़ उठानी पड़ी थी। पत्नी को वह दिल्ली में ही छोड़ आया था। बाद में फ़िल्मिस्तान में उसे साढ़े तीन सौ की नौकरी मिली तो शायद उसका दोस्त मुहम्मद नज़ीर जाकर उसके कुटुम्ब को बम्बई लाया था।

"वह तुम्हारा सुर्ख़ पेंसिल से लाल किया हुआ मसौदा अब भी मेरे पास महफ़ूज़ है।" अचानक मंटो ने कहा। यानी जिस तरह मुझे न राशिद पर क्रोध था, न उस लखनवी पी०ए० पर, बल्कि मंटो पर गुस्सा था, उसी तरह मंटो को भी इन दोनों के बदले मुझी पर क्रोध था। उसके नाटक को मैंने ही काट-छाँट कर लाल किया था, यह बात वह जान गया था

"अब तुम्हारे क्या इरादे हैं?" मैंने पूछा।

मंटो चुप रहा।

"देखो, दिल्ली की बात दिल्ली में रही," मैंने कहा, "अगर हमें इसी तरह लड़ना है तो मुझे फ़िल्मिस्तान की नौकरी मंजूर नहीं। वहाँ साढ़े तीन सौ पाता हूँ, आराम से हूँ। यहाँ पाँच सौ भी मिले और चख़-चख़ रही तो क्या फ़ायदा?"

"नहीं, नहीं, वैसा कुछ नहीं होगा।" और उसने अंग्रेजी में वाक्य पूरा करते हुए कहा, "I like you, though I hate you!"

उस दिन घर वापस आकर मैंने सफ़िया भाभी से कहा—"देखिए मंटो ने मुझे बम्बई बुलाया है। मैं आ ही नहीं रहा था। दोबारा तार मिलने पर चला आया हूँ। मंटो ने बातों-बातों में बता दिया है कि वह 'आवारा' का

मसौदा सम्हाले हुए है और दिल्ली की उस घटना को नहीं भूला। हम दिल्ली में लड़ते रहे हैं और लोगों के लिए तमाशा बने हैं। अब उसने मुझे बम्बई बुलाया है तो आप उसे समझा दीजिए कि मुझे यहाँ तंग न करे। क्योंकि वह तंग करेगा तो मैं भी तंग करूँगा और आखिर हम दोनों तंग होंगे।"

मंटो और सफ़िया भाभी ने मुझे विश्वास दिलाया कि वैसी कोई बात न होगी। और यद्यपि मैंने काण्ट्रेक्ट पर हस्ताक्षर नहीं किये, पर 'हाँ' कर दी। लेकिन जब मैंने बाद में सोचा तो निश्चय किया कि मैं जहाँ तक हो सकेगा, इस बात का अवसर ही न आने दूँगा कि मंटो से मेरी लड़ाई हो और बम्बई में जितने मेरे जानकार थे, उनसे मिलकर मैंने फ़िल्मिस्तान, उसके सर्वे-सर्वा शशधर मुखर्जी और वहाँ की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में सारी जानकारी प्राप्त कर ली। मैं विशेष रूप से उन लोगों से मिला जो मंटो के साथ काम करते रहे थे और अब वहाँ नहीं थे। और मुझे तीन-चार महत्त्वपूर्ण बातों का पता चला।

१. कि फ़िल्मिस्तान का बाँस (Boss) मुखर्जी प्राचीन काल के उन यन्त्रणा-प्रिय (Sadist) दारोग़ाओं जैसा है जो गुलामों को कोड़े मार-मारकर उनसे काम लेते थे।

२. कि फ़िल्मिस्तान में मंटो का एक-छत्र राज है।

३. कि जब साल भर पहले शाहिद लतीफ़ ने मेरा नाम सुझाया था तो मंटो ने फ़िल्मिस्तान में मेरे आने का विरोध करते हुए कहा था कि अश्क बड़ा ख़तरनाक आदमी है।

४. कि फ़िल्मिस्तान में एक ही दृश्य को सब सम्वाद-लेखक लिखते हैं। मंटो सबके सम्वाद पढ़ता है और सब को रद्द करके स्वयं लिखता है। स्पष्ट है कि वह सबसे अच्छा होता है। इसी तरह उसने शाहिद लतीफ़ और संतोषी को फ़िल्मिस्तान छोड़ने पर मजबूर कर दिया, जबकि शाहिद लतीफ़ ही मंटो को फ़िल्मिस्तान में ले गया था।

सवाल यह पैदा होता है कि जब एक साल पहले मंटो मुझे ख़तरनाक समझता था तो साल भर बाद में किस तरह इतना निरीह हो गया कि स्वयं

उसी ने मुझे बुलवाया ? असलियत यह है कि जब मंटो ने मुझे फ़िल्मिस्तान में काम करने के लिए पत्र लिखा था तो मैंने अपने-आप से यही सवाल किया था और मैंने जाने से इनकार कर दिया था। लेकिन एक महीने बाद जब मंटो ने मुझे तार दिया कि इण्टरव्यू के लिए आओ, सेकेण्ड क्लास का किराया कम्पनी देगी तो क्योंकि कौशल्या ट्रेनिंग लेने बम्बई जा रही थी, इसलिए मैं भी तैयार हो गया। ख़याल था कि और कुछ न सही तो बम्बई की सैर ही हो जायगी। लेकिन वहाँ जाने का फ़ैसला करने के बावजूद मैं सोचता था कि आख़िर मंटो ने मुझे क्यों बुलाया है। उस समय मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा था, बम्बई में मंटो से मिलने और वहाँ की परिस्थितियाँ जानने के बाद मुझे उसमें थोड़ा सा संशोधन करना पड़ा, लेकिन उस मूल कारण में अंतर नहीं पड़ा। चूँकि इस किस्से का एक बुनियादी पहलू भी है और काफ़ी मनोरंजक है, इसलिए मैं उसकी चर्चा करना आवश्यक समझता हूँ।

जैसा कि मैंने पहले कहा, मुझे मंटो से नफ़रत न थी। नफ़रत या मुहब्बत के लिए कुछ समय का साथ आवश्यक है और मैं तो दिल्ली आने से पहले मंटो से मिला तक भी न था। और जब मिला तो पहली मुलाकात में, जहाँ तक शक्ल-सूरत का ताल्लुक है, वह मुझे अच्छा लगा था—गोरा रंग, पतला-छरहरा शरीर, चौड़ा माथा, सुतवाँ नाक, बड़ी-बड़ी आकर्षक आँखें और ओठों पर व्यंग्य भरी मुस्कान—मंटो की यही पहली झाँकी मेरे मानस-पट पर अब तक अंकित है। इस बीच मैं 'मंत्र', 'नया कानून' और शायद 'मिसेज डि० कास्टा' पढ़ चुका था और ये कहानियाँ मुझे बड़ी अच्छी लगी थीं और मंटो ने मेरे मन में एक अनुवादक की बजाय एक प्रतिभाशाली कहानीकार की हैसियत से जगह बना ली थी। लेकिन दिल्ली में मेरे आने से पहले ही हमारे लिए जो पार्ट ढल गये थे, उनसे छुटकारा नहीं मिला। हमें एक दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी होना था और हम परस्पर प्रतिद्वन्द्वी होकर रहे।

लेकिन जब मंटो अचानक दिल्ली से चला गया तो मुझे अजीब सा खेद हुआ। ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली में उस वक्त बहुत से लेखक इकट्ठे थे,

लेकिन कुछ ऐसा हुआ कि राशिद के अफ़सर बनते ही सब छिन्न-भिन्न हो गये। कृष्ण लखनऊ चला गया था, अख़्तरुल-ईमान को राशिद ने जवाब दिलवा दिया था। चड्ढा, मीरा जी और राजा मेहदी अली खाँ राशिद की खुशामद में लगे रहते थे और राशिद चूँकि मुझे कृष्ण का आदमी समझते थे, इसलिए मुझे तंग करने पर तुले रहते थे। मंटो की अनुपस्थिति मुझे बेतरह खलती थी। यह ठीक है कि मंटो के रहने पर कभी-कभी झड़प हो जाती, ख़ासी नोक-झोंक रहती, लेकिन अच्छे-से-अच्छा लिखने में मदद भी मिलती और कुछ अजीब से सान्निध्य का एहसास भी रहता था।

—मंटो के बम्बई जाने के बाद उसकी और उसकी कहानियों की प्रशंसा न करने के सिलसिले में मैंने अपने ऊपर बरबस जो रोक लगा रखी थी, उसे ढीला कर दिया। मंटो के बम्बई जाने के ड़ेढ़ वर्ष बाद— ठीक सन मुझे याद नहीं, उस की कहानी 'बू' प्रकाशित हुई। उस कहानी के प्रकाशित होते ही उसके विरुद्ध एक शोर मच गया। मासिक 'अदबे लतीफ़' के मालिक-एडीटर चौधरी नज़ीर अहमद ने उसके बारे में मेरी भी राय माँगी। मैंने 'बू' की बड़ी प्रशंसा की। मुझे 'बू' की वस्तु से मतलब न था। मैं उसकी कला पर मोहित था। एक बड़ी कोमल-सी थीम को मंटो ने जिस कौशल से 'बू' में समोया है, वह न केवल प्रशंसनीय है, बल्कि अनुकरणीय भी है। मैं यह कहानी अपने कई मित्रों को सुना चुका हूँ, जिनमें हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकार यशपाल भी शामिल हैं। और वे सब मेरी राय से सहमत हैं। प्रत्येक नये कहानी-लेखक को मेरी सलाह है कि कहानी की तेकनीक को जानने के लिए वह 'बू' अवश्य पढ़े। तेकनीक के कमाल की दृष्टि से उसके जोड़ की कहानी राजेन्द्रसिंह बेदी की लाजवन्ती है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरी कहानी उर्दू-साहित्य में उसके टक्कर की मुझे दिखायी नहीं देती। 'लाजवन्ती' में तेकनीक ही नहीं, वस्तु भी अव्वल दर्जे की है।

कुछ भी हो, मुझे लगता है कि 'बू' के बारे में जो पत्र मैंने नज़ीर को लिखा था, उसने मंटो से उसकी चर्चा की या उसका सार मंटो को लिख भेजा, क्योंकि जब मैं बम्बई गया था तो मंटो ने उसकी चर्चा की थी और मालूम

होता है कि उस पत्र के बाद मेरे बारे में मंटो का रुख़ कुछ ढीला हो गया और यही कारण है कि जब डायरेक्टर नितिन बोस फ़िल्मिस्तान में एक फ़िल्म बनाने आये और एक नये सम्वाद-लेखक को रखने की बात चली तो मंटो ने ही मेरा नाम पेश किया।

लेकिन एक दूसरा कारण भी था। (अपने उपचेतन में मुझे उसका आभास था और उसकी पुष्टि बम्बई में हुई भी।) मंटो यदि शराब न पिये होता और दिल्ली की घटना की चर्चा करते हुए 'आवारा' की उस पाण्डुलिपि की चर्चा न करता, जिसे मैंने काट-छाँट दिया था तो मैं इसी भ्रम में रहता कि मेरी ओर से मंटो के मन में जो विद्वेष था, वह दूर हो गया है। मंटो ढीला पड़ गया था, लेकिन वह उस घटना को भूल न सका था। साल भर पहले फ़िल्मिस्तान में उसकी स्थिति इतनी सुदृढ न थी। उस समय मैं वहाँ जाता तो यदि मेरा और शाहिद लतीफ़ का या मेरा और संतोषी का गुट बन जाता तो मंटो को तकलीफ़ होती। इसलिए उसने मेरा विरोध किया। जिस समय उसने मुझे बुलाया उस समय शाहिद लतीफ़ और संतोषी फ़िल्मिस्तान छोड़ चुके थे और मंटो मुखर्जी की नाक का बाल बना हुआ था। मुझे मित्रों ने बताया कि मंटो तुम्हारे सम्वादों के परख़चे उड़ा देगा। तुम वेतन भले ही अच्छा पाओगे, किन्तु तुम्हें बहुत परेशान होना पड़ेगा। और मैं समझ गया कि मैंने उसके नाटक की जो धज्जियाँ उड़ायी थीं, उसी का बदला लेने की उसने यह तरकीब निकाली है। और क्योंकि मैं 'हाँ' कर चुका था और दिल्ली में यह बात फैल चुकी थी कि मैंने फ़िल्म में नौकरी कर ली है, इसलिए म दिल्ली तो वापस न गया, लेकिन मैंने फ़िल्मिस्तान में अपना कार्यक्रम निश्चित कर लिया।

मैंने उस समय तक काण्ट्रेक्ट पर हस्ताक्षर न किये, जब तक फ़िल्मिस्तान में मुझे अलग कमरा और अलग मेज़-कुर्सी नहीं मिल गयी (यह पहली सावधानी थी कि मंटो में और मुझ में झगड़े का अवसर ही न आये) और जब तक कि यह निश्चय नहीं हो गया कि मैं ही नितिन बोस के लिए सम्वाद लिखूँगा और मैं ही सम्वाद-निर्देशन करूँगा। (और यह दूसरी सावधानी थी।)

मेरा पहला फ़िल्म जिसे नितिन बाबू ने डायरेक्ट किया, 'मज़दूर' था; दूसरा 'सफ़र', था, जिसे बी० मित्रा ने डायरेक्ट किया। न केवल पहले के, बल्कि दूसरे के सम्वाद भी केवल मैंने लिखे और इस प्रकार फ़िल्मिस्तान का डेढ़ साल अपेक्षाकृत आराम से बीत गया। मंटो को इस बात का खेद अवश्य रहा कि मैंने उसकी चाल काट दी, परन्तु मैंने अपनी आदत को जानते हुए नित्य झगड़ने के बदले इस बात का प्रबन्ध कर लिया कि जहाँ तक हो सके, उससे बचा जाय।

लेकिन मेरी पूरी सावधानी के बावजूद आख़िर मंटो मुझे एक चोट पहुँचाने में सफल हो गया। मेरा पहला फ़िल्म 'मज़दूर' चाहे बॉक्स आफ़िस पर सफल न रहा था, लेकिन मेरे सम्वाद १९४५ के सर्वश्रेष्ठ सम्वाद समझे गये थे और मुझे एक सर्टिफ़िकेट भी मिला था। मेरा दूसरा फ़िल्म 'सफ़र' बॉक्स आफ़िस पर भी सफल रहा और स्पष्ट है कि मेरी साख भी बढ़ गयी। तब अशोककुमार ने अपना अलग फ़िल्म प्रोडयूस करने की इच्छा प्रकट की और मुखर्जी मान गये। मंटो के दोनों फ़िल्म 'चल चल रे नौजनान' और 'शिकारी' तैयारी में दो-दो साल लेने के बावजूद असफल रहे थे, इसलिए अशोककुमार मेरे पास आये और उन्होंने मुझसे एक कहानी लिखने को कहा। मैंने उनको दो-तीन प्लाट, जो मेरे दिमाग़ में थे, सुनाये। अशोक ने एक पसन्द कर लिया और मुझसे कहा कि मैं एक ख़ाका-सा लिख डालूँ। लेकिन मैंने कहा कि लिखने से पहले एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं कहानी लिखने का दो हज़ार रुपया पेशगी लूँगा। मैं उस समय पौने सात सौ के लगभग वेतन पा रहा था। लेकिन मेरा कहना था कि मैं सम्वाद-लेखक के रूप में नौकर हूँ, कहानीकार के रूप में नहीं। कहानी लिखूँगा तो उसका दो हज़ार लूँगा और सम्वाद नौकरी के खाते लिखूँगा। यद्यपि अशोक कुमार मुखर्जी का साला था, लेकिन उन दिनों साले-बहनोई के बीच मनोमालिन्य की हल्की-सी परछाई आ गयी थी। अशोक ने कहा, "आप मुखर्जी से कहिए।" लेकिन मुखर्जी मुझसे प्रसन्न न थे, मैंने इनकार कर दिया। तब अशोक ने कहा कि मैं सेठ चुन्नीलाल से कहूँगा,

आप बात कर लीजिएगा, लेकिन इस बीच आप एक ख़ाका ज़रूर लिख डालिए।

मंटो को यह ख़बर मिल गयी कि अशोक कहानी के लिए मेरे पास पहुँचा है और मैं दो हज़ार रुपया माँग रहा हूँ। उसने साऊँड रेकार्डेस्ट वाचा को साथ मिलाया। वाचा 'बम्बई टाकीज़' के समय से अशोक कुमार के साथ थे। वे अशोक को अपने फ़्लैट पर ले गये। शराब वाचा के यहाँ बढ़िया किस्म की रहती थी। अशोक को उन्होंने उस समय तक न आने दिया जब तक यह तय न कर लिया कि मंटो नये फ़िल्म की कहानी लिखेगा और दूसरे दिन उसका मुहूर्त हो जायगा।

चूँकि कहानी कोई तैयार न थी और मुहूर्त हो गया था, इसलिए 'आठ दिन' चित्र के निर्माण के सिलसिले में क्या-क्या कठिनाइयाँ पेश आयीं, यह एक अलग लम्बी कहानी है। लेकिन क्योंकि मंटो ने यह जानते हुए कि मैंने अलग से पैसे माँगे थे, बिना पैसे लिये कहानी लिखना स्वीकार कर लिया (यह और बात है कि जब चित्र आधा बन गया तो उसने परेशान करना शुरू किया और कहानी के खाते भी कुछ पैसा ले लिया।) और अच्छा ख़ासा षड़यन्त्र करके मेरा पत्ता काट दिया, इसलिए मुझे बहुत बुरा लगा—विशेषकर उस समय जब मैं कहानी का ख़ाका लिखकर अशोक के आने का इन्तज़ार करता रहा......मुहूर्त हो चुका था। मुखर्जी मुझसे प्रसन्न न थे, इसलिए सिवाय इसके कि मैं ज़हर का घूँट पीकर रह जाता, और कुछ न हो सकता था।

लेकिन कुछ ही दिन बाद मैंने मंटो को परेशान करने की तरकीब निकाल ली। 'आठ दिन' का डायरेक्टर फ़िल्मिस्तान का एडीटर दत्तारामपाई नियुक्त हुआ था। यों तो फ़िल्मिस्तान की परम्परा थी कि निर्देशन वास्तव में कोई करता और नाम किसी का जाता, लेकिन पाई चूँकि बड़ा योग्य एडीटर था, 'बम्बई टाकीज़' ही से अशोक और मुखर्जी के साथ आया था, इसलिए यद्यपि निर्देशन तो अशोक करता था, लेकिन पाई की भी ख़ूब चलती थी। मैंने पाई को साथ मिलाया और 'आठ दिन' में पंडित तोताराम का एक हास्य भरा

रोल ले लिया। जब कहानी शुरू हुई थी तो यह दो-एक दृश्यों का रोल था, किन्तु मैंने इस सफलता से अपना पार्ट किया और बिना रीटेक (retake) के किया कि अशोक को बहुत पसन्द आया और उसने तय किया कि यह रोल बढ़ाकर सारे चित्र में रखा जाय। इसके अतिरिक्त क्योंकि पंडित तोताराम हिन्दी बोलता था, इसलिए पंडित के सम्वाद मैं लिखता था। मंटो एक लाइन लिखता तो मै चार कर देता, मंटो एक सीन लिखता तो मैं उसके दो बना देता। मुझे स्टेज एक्गिट तो पसन्द है, लेकिन फ़िल्म एक्टिंग को फ़िल्म नाटक ही की तरह मैं कोई महत्व नहीं देता। लेकिन मंटो को परेशान करने के लिए वह हास्यास्पद रोल मैं करता रहा और मंटो इतना परेशान हुआ कि एक दिन उससे हाथा-पाई तक की नौबत आ गयी।

और इस बार हम दोनों साथ-साथ फ़िल्मिस्तान से अलग हुए। और यद्यपि अशोक और वाचा मंटो के दोस्त थे और मंटो उनके साथ बम्बई टाकीज़ में चला गया (जिसे अशोक ने मुखर्जी से अलग होकर ख़रीद लिया था।) लेकिन मंटो वहाँ एक भी कहानी न दे सका। जब मैं पंचगनी से इलाहाबाद आते-आते अशोक से मिला और मैंने पूछा कि मंटो क्यों चला गया तो उसने कहा कि उसने कहानी लिखी थी, पर हमने 'कमाल' अमरोही की कहानी 'महल' लेने का निश्चय कर लिया। दूसरी कहानी शाहिद की होगी। मंटो कुछ कहे बिना चला गया, यद्यपि हमने कहा था कि इसके बाद तुम्हारे वाली कहानी फ़िल्मायेंगे, लेकिन उसने नहीं सुना।

वास्तव में साउँड रिकार्डिस्ट वाचा (जो मंटो का दोस्त था) और बम्बई टाकीज़ के मालिक वाचा में फ़र्क था और मंटो ऐसे आदमियों में घिर गया, जिन्हें कभी उसने फ़िल्मिस्तान छोड़ने पर विवश कर दिया था, और जब उसने देखा कि आगल रास्ता बन्द है, कार-मोटर नहीं चलेगी तो वह बाज़ू की गली से पाकिस्तान चला गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अशोक-वाचा के अधीन 'बम्बई टाकीज़' की व्यवस्था में प्रमुख स्थानों पर मुसलमानों के आने के कारण धमकी की एक दो चिट्ठियाँ अशोक और वाचा को मिली थीं, लेकिन स्टुडियो में आग लगाना और स्वयं बेकार हो जाना आसान

नहीं।[1] इन चिट्ठियों का प्रभाव न शाहिद लतीफ पर हुआ, न नज़ीर अजमेरी पर। मंटो के बद-दिल होने का प्रमुख कारण यह था कि पहली कहानी नज़ीर अजमेरी की चुनी गयी और दूसरी कहानी कमाल अमरोही की और तीसरी शाहिद लतीफ़ की। जिस दिन उसे शाहिद लतीफ़ की कहानी के लिये जाने का पता चला, मंटो ने बम्बई छोड़ने का फ़ैसला कर लिया।

लेकिन मंटो के इस रणछोड़पन और बारी साहब के रणछोड़पन में आकाश-पाताल का अंतर है। बारी साहब के रणछोड़पन में सम्भवतः कायरता का पुट था, जबकि मंटो का रणछोड़पना उसके प्रबल अहं के कारण था और उसके इसी अहं में उसकी महानता का भेद निहित है। मंटो ख़ुशामद करने के उतना ख़िलाफ़ नहीं था। मुखर्जी (शशधर) के पास बैठकर, उनको ख़ुश करने के लिए, मैंने उसे 'ग़ालिब' के शेर सुनाते देखा है, यद्यपि मैं समझता हूँ, मुखर्जी के सामने ग़ालिब के शेर पढ़ना भैंस के आगे बीन बजाना था। (इससे मुखर्जी की महानता कम नहीं होती, अपनी कला में वे अद्वितीय हैं, लेकिन ग़ालिब को समझना उनके बस की बात नहीं और फिर बंगाली होने के नाते बंगाल का छोटे-से-छोटा कवि उनकी दृष्टि में ग़ालिब से बड़ा है।) अशोक और वाचा की महफ़िल में बैठकर निम्नकोटि के चुटकुले सुनाते मैंने उसे देखा है; अनपढ़ ऐक्टरों और म्युज़िक डायरेक्टरों की महफ़िलों में बड़े उत्साह में बकवास करते सुना है (जिसे मंटो बकवास और दूसरे 'बज़ला संजी' (लतीफ़ा गोई) का नाम देते थे) लेकिन उन में से किसी भी काम में उसके अहं को ठेस नहीं पहुँची, क्योंकि एक तो यह कि वह उनको अपने से

---

[1] **मंटो ने अपने रेखा-चित्र-संग्रह 'गंजे फ़रिश्ते' में अपने बम्बई से चले आने का यह कारण बताया है कि 'बम्बई टाकीज़' में प्रमुख स्थानों पर मुसलमानों के रखे जाने पर धमकी की चिट्ठियाँ मिली थीं और क्योंकि मंटो ही के कहने पर वे आसामियाँ भरी गयी थीं, इसलिए वह चुपचाप अपनी नौकरी की क़ुर्बानी देकर पाकिस्तान चला आया।**

कहीं हीन समझता रहा और दूसरे यह कि वे सब लोग 'चाहे मंटो को सनकी समझते हों, शराबी समझते हों, लेकिन अव्वल दर्जे का डायलाग राइटर समझते थे। ऑल इंडिया रेडियो की उस मीटिंग में जहाँ राशिद ने, मैंने और उस लखनवी पी०ए० ने उसके ड्रामे की आलोचना की और बम्बई टाकीज़ के स्टुडियो में, जहाँ अशोक और वाचा उसके जिगरी दोस्तों ने उसकी कहानी के मुकाबिले में नज़ीर अजमेरी, कमाल अमरोही और शाहिद लतीफ़ की कहानियाँ ले लीं, मंटो के अहं को ज़बरदस्त ठेस पहुँची और जब उसके अहं को ठेस लगी तो फिर वहाँ उसके लिए ठहरना असम्भव हो गया। कोई मोटी खाल वाला अवसरवादी लेखक होता तो अपमान सहता हुआ भी वहीं जमा रहता, लेकिन मंटो के अहं के लिए वह अपमान असह्य था और क्योंकि पिट कर पीट देने की कला में वह दक्ष नहीं था, इसलिए दोनों बार मैदान छोड़कर भाग गया। दोनों बार उसे सख़्त तकलीफ़ हुई। दूसरी बार तो उसकी जान पर आ बनी, परन्तु कष्ट के भय से अपने अहं को ठेस लगने देना उसने स्वीकार नहीं किया।

पार्टी हो, मीटिंग हो (औपचारिक अथवा अनौपचारिक) मंटो सदैव आगे-आगे रहना पसन्द करता था। यदि किसी पार्टी या महफ़िल में कोई दूसरा व्यक्ति लोगों का ध्यान आकर्षित कर ले तो वह बड़ी ख़ामोशी से, बिना किसी को बताये, खिसक जाता था। यों तो फ़िल्मिस्तान में अपनी नौकरी के शुरू के दिनों में, जब मैंने काण्ट्रेक्ट पर हस्ताक्षर न किये थे, मेरी शर्तें मुखर्जी ने अभी मंजूर न की थीं और मैं उन्हें ग़ालिब की ज़गह महादेवी वर्मा के गीत सुनाया करता था, मैंने मंटो के अहं के इस पहलू को देखा था, लेकिन एक विशेष घटना है, जिसे मैं भूल नहीं सकता।

१९४५ या १९४६ के आख़िर की बात है। ठीक महीना मुझे याद नहीं। बम्बई में अमेरिका या इंग्लैण्ड का, मुझे ठीक याद नहीं, एक प्रसिद्ध अभिनेता आया था। मैंने उस अभिनेता का केवल एक चित्र देखा था, जिसमें वह मोटर साइकिल रेस में भाग लेता है और ऐसी हरकतें करता है कि देखने

वाले हँसी के मारे लोट-पोट हो जाते हैं। बम्बई में वह दो-एक स्टुडियो में गया। राय बहादुर चुन्नीलाल ने उसे फ़िल्मिस्तान में भी आमंत्रित किया। शाम को फ़िल्मिस्तान की कैंटीन में, जो खुले में बनी थी और छत के बावजूद तीन तरफ़ से खुली थी, मेज़ें लगा दी गयीं और शशधर मुखर्जी, ज्ञान मुखर्जी, अशोक, वाचा, चितलकर, बर्मन, नेपाली इत्यदि सभी इकट्ठे हुए। क्योंकि उस अभिनेता को हमारे यहाँ आने से पहले फ़िल्म प्रोडयूसर्स एसोसिएशन में जाना था, इसलिए उसे आने में देर हो गयी। बड़े मुखर्जी (शशधर) उठ गये। बाकी लोग वहीं बैठे गप-शप करते रहे। मंटो सदैव की भाँति बॉसेज़ (Bosses) के साथ बैठा (और अभिनेता श्याम के कथनानुसार) अपने चुटकुले उन पर बर्बाद करता रहा। मैं, नेपाली और बर्मन आदि के साथ बैठा था। आखिर अभिनेता महोदय अपनी पत्नी के साथ पधारे। लम्बूतरा-सा मुँह, जैसे किसी ने दोनों जबड़ों को शिकजे में कसकर चपटा कर दिया हो, बिलकुल वैसा ही जैसा फ़िल्म में देखा था। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर थी। स्पष्ट है कि रुपये और नाम के प्रलोभन ने उस हूर को उस लंगूर के पहलू में ला बैठाया था। बहरहाल उसके आगे-आगे राय बहादुर चुन्नीलाल और बड़े मुखर्जी आये। कैंटीन में एक बड़ी मेज़ बिछी थी और उसके साथ-साथ छोटी मेज़े लगी थीं। बड़ी मेज़ अतिथियों तथा कम्पनी के बॉसेज़ के लिए थी और छोटी मेज़ों पर अन्य लोग बैठे थे। मैं नेपाली इत्यादि के साथ एक छोटी मेज़ पर जा बैठा। परन्तु मंटो अशोक और वाचा के साथ बड़ी मेज़ पर ही बैठा रहा। लेकिन एक तो उस अभिनेता के साथ आने वाले लोग अधिक थे, दूसरे राय बहादुर के साथ भी चन्द मेहमान आये थे; अशोक और ज्ञान मुखर्जी मालिकों में से थे; बड़े मुखर्जी ने वाचा और मंटो को इशारा किया कि वे छोटी मेज़ पर जा बैठें वाचा उठकर छोटी मेज़ पर चितलकर के पास जा बैठा। उसने मंटो को भी पास बैठाना चाहा, परन्तु मंटो नहीं बैठा। इस उथल-पुथल में जब मेहमान बैठ रहे थे, मंटो चुपचाप खिसक गया। मैं यह सब तमाशा देख रहा था। जब वह मेरे पास से गुज़रा तो मैंने कहा, "क्यों ?"

"चलो चलें।"

"क्यों?"

"सब बकवास है!"

"बैठो!" मैंने कहा—"जहाँ इस बकवास के इन्तज़ार में डेढ़ घंटा बैठे हैं, वहाँ आध घंटा इसके साथ भी बैठ लेते हैं।"

लेकिन मंटो नहीं रुका। चुपचाप कैंटीन से निकल गया।

'गंजे फ़रिश्ते' में मंटो ने श्याम पर जो स्केच लिखा है, उसमें उसके अहं के इस पहलू की झलक बार-बार मिलती है। लाहौर में श्याम गया तो उसके मिलने वाले इतने थे और वह लोगों का ध्यान इस प्रकार खींचे हुए था कि मंटो के अहं को बार-बार ठेस लगती थी। मंटो लिखता है—

> **"श्याम ने मुझसे कहा—मेरे साथ रहो! लेकिन उसके दिमाग़ को मुज़तरिब (बेचैन) कैफ़ियत के अहसास ने मुझे सख्त परागन्दा कर दिया। उससे वायदा करके कि रात को मैं उसे फ़्लैटी होटल में मिलूँगा, मै चला गया।"**

लेकिन जैसा कि मंटो को मैंने देखा और जाना है, मंटो के चले जाने का कारण (अपने पुराने मित्र की इस इच्छा के बावजूद कि वह उसके साथ रहे) और कुछ न था, उसका अहं था। उसकी इस उलझन और घुटन को मैंने उस विदेशी अभिनेता के आगमन के अवसर पर भी महसूस किया। मुखर्जी ने जब मंटो को उठ जाने का इशारा किया तो वह एकदम उदास हो गया और फिर वहाँ बैठना उसके लिए दूभर हो उठा। मंटो श्याम से मिलने फ़्लैटी भी गया, लेकिन इस मुलाकात का फल भी पहली मुलाकात से भिन्न न हुआ और मंटो और भी चिढ़कर वापस आ गया। बम्बई में जब वह श्याम से मिलता था तो प्रायः श्याम नहीं, मंटो की ओर लोग अधिक आकृष्ट होते थे। क्योंकि ऐक्टरों, डायरेक्टरों में वह अपनी योग्यता, हास्य और विनोद के कारण सुनने वालों का ध्यान अपनी ओर खींचे रहता था, लेकिन लाहौर की उन दो मुलाकातों में, सुनने वाले आर्टिस्ट नहीं

थे, साधारण लोग थे, जिनमें से श्याम को सब जानते थे और मंटो को जो कुछ एक जानते थे, वे भी उस समय भूल गये थे। मैं अच्छी तरह जानता हूँ, इस बात से मंटो को, जो अपने आप को उन सबसे ऊँचा समझता था, (और था भी) कितनी कोफ़्त हुई होगी।

मंटो जिस तरह पीटना जानता था, लेकिन पिटना नहीं, पदाना जानता था, लेकिन पदना नहीं, उसी तरह मज़ाक करता था पर मज़ाक बर्दाश्त करने की शक्ति उसमें नहीं थी। उसे बड़ी जल्दी गुस्सा आता था (अपने लेखों में उसने बार-बार इसका उल्लेख किया है।) लेकिन दूसरों को भी बात चुभ सकती है, दूसरों को भी रंज हो सकता है, इसे वह उच्च कोटि का कहानीकार और मनोवैज्ञानिक होने के बावजूद न जानता था। कभी-कभी मुझे इस बात का भी खयाल आता था कि वह क्यों इतनी सी बात नहीं जानता, लेकिन मनुष्य की यह आम ख़ामी है। बाल्ज़ाक ने अपनी कहानियों और उपन्यासों में जीवन की असंख्य वास्तविकताओं का उद्‌घाटन किया है, लेकिन अपने निजी जीवन में वह इस यथार्थ को न समझ सका कि उसे रुपया अत्यधिक बचकानी चीज़ों पर न खर्च करना चाहिए, हवाई किले न बनाने चाहिएँ और कर्ज़ न लेना चाहिए—जीवन की दबी-छिपी वास्तविकताओं को अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से अपनी लेखनी में उतारने वाला महान कलाकार जीवन पर्यन्त खुली वास्तविकताओं को न समझ सका और बेहद परेशान रहा। जो हाल बाल्ज़ाक का था, वही रूस के महान उपन्यासकार दास्तवस्की का। आज मैं यह सब अच्छी तरह समझता हूँ, लेकिन उन दिनों यथार्थवादी होने का दावा करने के बावजूद मैं जीवन की इस महान वास्तविकता से अनभिज्ञ था।

मैं जिन दिनों दिल्ली गया, मंटो की एक कहानी की बड़ी चर्चा थी। उसका नाम था 'तरक्की पसन्द'—उसकी चर्चा यों थी कि मंटो ने वह देवेन्द्र सत्यार्थी और राजेन्द्र सिंह बेदी पर लिखी थी। क्योंकि बेदी मेरे बहुत निकट था, इसलिए अवकाश पाते ही मैंने मंटो की वह कहानी पढ़

डाली। कहानी में जो किस्सा था, वह मुझे मालूम था, क्योंकि बेदी मुझे पहले बता चुका था। बात यह थी कि लोकगीत लिखते-लिखते सत्यार्थी एक दम कहानी लिखने लगे थे। नये लेखक अथवा कवि को अपनी कहानी या कविता सुनाने की बीमारी होती है। सत्यार्थी को भी थी। हो सकता है कि दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक हो। कुछ भी हो, वे कुटुम्ब सहित बेदी के घर मेहमान हो गये और सुबह-शाम बेदी को कहानियाँ सुनाने लगे। बेदी उस समय पोस्ट-आफ़िस में क्लर्क था और लाहौर छावनी में रहता था। दो कमरे उसके पास थे। जगह अधिक नहीं थी। फिर सत्यार्थी की उपस्थिति में पति-पत्नी को एकान्त मिलना वैसे भी कठिन था। बेदी शाम को थका-हारा आता तो सत्यार्थी एक कहानी सुनाने के लिए तैयार रहते। सुनाकर न केवल राय लेते, बल्कि संशोधन भी चाहते, इसी में रात को देर हो जाती। बेदी सुबह उठता तो उसे संशोधित कहानी सुननी पड़ती। महीने भर सत्यार्थी वहाँ रहे और बेदी अपने बीवी-बच्चों से बात करने को तरस गया। मंटो की कहानी 'तरक्की पसन्द' का कथानक यही है। केवल अन्त में मंटो ने तनिक कहानी का 'टच' दिया कि परमार्थी (तरक्की पसन्द में सत्यार्थी का नाम) अपने मेज़बान से कुछ ऐसा चिमटता है और उसके समय का प्रत्येक क्षण कुछ इस प्रकार ले लेता है कि वह बेचारा अपनी पत्नी से प्यार करने के लिए भी 'बाथरूम' ही को उपयुक्त स्थान समझता है।

कहानी अच्छी है। उसमें चटख़ारा भी है। लेकिन मंटो ने इससे कहीं अधिक अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। मुझे कहानी पढ़ने में दिलचस्प लगी, लेकिन क्योंकि बेदी के निजी जीवन की एक घटना (बेदी के मुँह से सुनी हुई) मंटो ने लिख दी, इसलिए मुझे बुरा लगा। मेरे विचार में उसे लिखने का अधिकार बेदी को था, या फिर मंटो को बेदी से कह देना चाहिए था कि देखो यार मैं इस घटना पर कहानी लिख रहा हूँ, तुम्हें लिखना हो तो मैं न लिखूँ, मैं इसे नहीं छोड़ सकता। लेकिन मंटो के कहानीकार को इतना धीरज कहाँ? विचार आया तो उसे लेखनी बद्ध कर दिया।

यह भी न सोचा कि इस व्यक्तिगत घटना को लिखने से दो मित्रों में मनो-मालिन्य की दीवार खड़ी हो सकती है।

दोस्तों के बीच मन-मुटाव की दीवार नहीं खड़ी हुई, इसके विपरीत उन्होंने मंटो के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा खड़ा कर लिया और जिस तरह मंटो ने अपनी कहानी में बेदी और सत्यार्थी के आचार-व्यवहार रहन-सहन, शक्ल-सूरत, व्यक्तिगत जीवन का मज़ाक उड़ाया था, उसी तरह इन दोनों ने मिलकर एक कहानी लिखी और मंटो के व्यक्तिगत जीवन और उसकी दुर्बलताओं को उजागर कर दिया। कहानी सत्यार्थी के नाम से छपी। उन्होंने ही लिखी भी थी। बेदी ने उसे देखते हुए कुछ ऐसे पत्ते लगाये कि कहानी, जहाँ तक चरित्र-चित्रण का सम्बन्ध है, अत्यधिक सफल उतरी। नाम है 'नये देवता'

> "इतनी भी क्या ख़ुशी है—मैं सोच रहा था—इतना तो नफ़ासत हसन (नये देवता में सआदत हसन का बदल) पहले भी कमा लेता होगा। डेढ़ सौ के लिए उसने अपनी आज़ादी बेच दी और अब ख़ुश हो रहा है। वह तो शुरू से ही बाग़ी स्वभाव का आदमी मशहूर है। उसकी कहानियाँ प्रगतिशील साहित्य में प्रमुख स्थान पाती रही हैं। फिर यह नौकरी उसने कैसे कर ली—ग़रीबों पर ज़ुल्म ढाये जाते हैं, ज़िन्दगी का अपमान किया जाता है, पूंजीवादी व्यवस्था मकड़ी की भाँति बराबर अपना जाला बुनती रहती है और ग़रीब किसान-मज़दूर आप से आप इस जाल में फँसते चले जाते हैं—इन ख़यालात का मालिक आज ख़ुद मक्खी की तरह इस जाल में फँस गया और इस ख़ुशी में यार-दोस्तों को दावत दे रहा है . . . . ."

और यों शुरू करके 'नये देवता' के लिखने वालों ने नफ़ासत हसन (सआदत हसन) की गति-विधि, चाल-ढाल, छिछलेपन, शराबनोशी, चिड़चिड़ाहट, अहं, सनक, परवर्शन (perversion) अश्लीलता और

अन्य दुर्बलताओं का कुछ ऐसे मज़ेदार ढंग से मज़ाक उड़ाया कि मंटो बिलबिला उठा। (बाद में जैसी कि उसकी आदत थी, उसने स्वयं अपनी सनक और ओछेपन का विज्ञापन शुरू कर दिया[१]।)

'नये देवता' के प्रकाशित होते ही लाहौर और दिल्ली के साहित्यिकों में एक शोर मच गया। क्योंकि मंटो अपने अच्छे-से-अच्छे दोस्त की पत किसी भी समय उतारकर रख देता था और अपने सामने किसी को कुछ न समझता था, इसलिए यार-दोस्तों को अच्छा मौका हाथ आया। दोस्त-अह्बाब जब इकट्ठे होते, किसी-न-किसी बहाने उस कहानी की या सत्यार्थी की या बेदी की चर्चा करके उसे छेड़ते—मंटो उस कहानी की बात छिड़ते ही किस तरह चिढ़ जाता, ख़ुद सब का मज़ाक उड़ाते हुए, स्वयं मज़ाक किये जाने पर किस प्रकार बिगड़ उठता, इसकी एक घटना आज भी मुझे याद है—

लंच का समय था। लोग भोजन आदि करके कृष्ण के कमरे में आ इकट्ठे हुए थे। गप्प हो रही थी। कृष्ण अपनी कुर्सी पर सिर झुकाये बैठा सब की सुन रहा था। उसके सामने की कुर्सी पर मंटो पाँव ऊपर किये, घुटनों को बाहों में दबाये, उकड़ूँ बैठा था। राशिद कुद्दूस और दूसरे प्रोग्राम असिस्टेंट मंटो की कुर्सी के गिर्द घेरा बनाये खड़े थे। (अख़्तरुल-ईमान और 'मीराजी' शायद उस समय रेडियो में नहीं थे या शायद थे, मुझे याद नहीं) हफ़ीज़ जावेद नीचे दरी पर दीवार से पीठ लगाये, घुटने पर टाँग रखे, अधलेटे-अधबैठे ख़ामोशी से सब कुछ सुन रहे थे। मैं ज़रा देर से पहुँचा था। कमरे में जगह न थी, इसलिए कोने में पड़े रिकार्डों के ऊँचे चेस्ट पर टाँगें नीचे को लटकाये बैठ गया था। तभी जाने

---

[१] **योगेश्वरी कालिज बम्बई के विद्यार्थियों के सामने भाषण करते हुए मंटो ने कहा—"अलबत्ता जब मैं बैठा-बैठा अपना नया ख़रीदा हुआ कीमती पेन निकालता हूँ तो मुझे अपना यह सिफ़लापन (ओछापन) बहुत दिलचस्प मालूम होता है।" (लज़्ज़ते संग)**

किसने और कैसे सत्यार्थी की बात छेड़ दी और कहा कि बड़ा घटिया कहानीकार है।

दूसरे ने काटा—"लेकिन 'नये देवता' तो उसने ख़ूब लिखी हैं।"

"वाह !" कृष्ण ने सिर और दायाँ हाथ एक साथ उठाते हुए कहा। लेकिन उसी समय उसकी निगाहें मंटो से चार हुई जो सत्यार्थी का नाम सुनते ही चौकन्ना हो बैठा था और कृष्ण का उठा हुआ हाथ नीचे आ गया और निगाहें फिर झुक गयीं।

तब किसी ने (मंटो को सुनाते हुए) कहा—"अरे यार, सत्यार्थी क्या खाकर वैसी कहानी लिखेगा, वह तो बेदी की लिखी हुई है।"

"बेदी की तो नहीं," तीसरे ने कहा, "लिखी तो सत्यार्थी ही की है, बेदी ने उसमें पत्ते लगाये हैं और कहानी दो-आतिशा[1] होकर निकली है।"

"हमने सुना उस में फैज़ का भी हाथ है . . . ."

और तभी मंटो ने पाँव नीचे किये और सबकी आवाज़ों को जैसे अपनी आवाज़ की कर्कशता में डुबोते और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें जैसे गढ़ों से निकालते हुए कहा—"बेदी और फैज़ क्या, उसमें 'तासीर' का हाथ है, 'तबस्सुम' का हाथ है, सन्त सिंह सेखों और मोहन सिंह का हाथ है। मंटो इज़ ऐन इन्स्टीटयूशन . . . .।"

तब मुझे न जाने क्या सूझा। मंटो को बात ख़त्म करने का मौका दिये बिना मैंने कहा—"अपने बारे में यार सबको ग़लतफ़हमी होती है, वह श्यामलाल कपूर था न, 'गुरु घण्टाल'[2] का एडीटर, वह भी अपने आपको इन्स्टीटयूशन समझा करता था . . . . !"

मैंने श्यामलाल का नाम लिया ही था कि कमरे में ज़ोर का ठहाका

---

[1] दो बार खिंची हुई शराब।

[2] गुरु घण्टाल लाहौर का एक प्रसिद्ध साप्ताहिक था। स्तर उसका बेहद घटिया था। लेकिन कभी इतना बिकता था कि छकड़े पर लदकर डाकखाने जाता था।

गूँज उठा। लेकिन इससे पहले कि मैं बात पूरी करता या ठहाके बन्द होते मंटो झुँझलाकर उठा और उसने गुस्से से पागल होकर दो-तीन गंदी गालियों के ढेले मेरी ओर फेंक दिये ।

कोई दूसरा मौका होता, मंटो मुझे गाली देता तो मैं खींचकर एक थप्पड़ उसके मुँह पर जमा देता। लेकिन लड़ने की तरह, मज़ाक करने की भी एक कला है। मज़ाक मज़ाक में जो चिढ़ जाता है, गाली देता है या हाथ उठाता है, वास्तव में वही पिट जाता है। मंटो ने गालियाँ दीं तो लोग और ज़ोर से हँस दिये। कृष्ण नहीं हँसा। उसने मंटो का हाथ थामते हुए कहा—"क्या करते हो?" और दूसरे क्षण मंटो ने अपने पर काबू पा लिया। बढ़कर मेरा हाथ थामा और धीरे से अंग्रेजी में कहा—डोण्ट माइण्ड इट ! (Don't mind it )

उस समय चाहे मंटो और दो गालियाँ दे लेता तो शायद मैं हाथ न उठाता। लेकिन दूसरी बार मुझे याद है, मंटो ने गाली दी और मैं हाथ उठाने को तैयार हो गया। वह ज़रा भी मुँह खोलता तो सिर-फुटौवल हो जाती।

फ़िल्मिस्तान की नौकरी के दिनों की बात है।'आठ दिन' की शूटिंग चल रही थी और मैंने उसमें पं० तोताराम का कॉमिक रोल ले लिया था। दिनको फ़िल्मिस्तान के स्टुडियो खाली न थे और अशोककुमार ने ज़बरदस्ती प्रोडक्शन ले लिया था, इसलिए 'आठ दिन' की अधिकांश शूटिंग रात को होती। मंटो रात को सेट पर आने का अभ्यस्त न था। उसके शौक दूसरे थे, लेकिन जब से मैंने तिकड़म भिड़ाकर 'आठ दिन' में रोल ले लिया और मंटो के लिखे सम्वादों में अदला-बदली करने लगा तो मंटो रात को भी सेट पर आने लगा था। रात को वह पिया-पिलाया करता था और सेट पर आना उसे बहुत खलता था। लेकिन मैं उसके सम्वादों को बिगाड़ न दूँ, इस बात का उसे डर था। अशोक कुमार की कहानी के सम्बन्ध में उसने मेरे साथ जो ज़्यादती की थी, उससे मैं बेहद चिढ़ा हुआ था और उसको तंग करने पर तुला था। लेकिन मेरी यह आदत है कि लड़ाई में भी मैं कम ही ग़लती अपने सिर लेता हूँ।

सदा इस बात की कोशिश करता हूँ कि ग़लती दूसरों के सिर रहे। उस मौके पर भी मैंने मंटो को इतना चिढ़ा दिया कि वह गुस्से में पागल होकर गाली दे बैठा। लेकिन सुनने वालों को भूल उसी की मालूम हुई।

'आठ दिन' की शूटिंग के बाद मैं बीमार होकर पंचगनी चला गया था और मैंने वह फ़िल्म नहीं देखा, इसलिए उसकी कहानी मुझे याद नहीं। इतना याद है कि रात की शूटिंग थी, विवाह का सेट था। मुझे उस लड़की से नायक का विवाह कराना था जिसे वह भगा लाया था और मैं कमर में धोती कसे, नंगे बदन पर यज्ञोपवीत पहने, रामनामी दुपट्टा गले में डाले, सिर पर पंडितों सी पगड़ी सजाये वेदी पर बैठा था और नायक की माँ से, जो अचानक आ गयी थी (यह पार्ट लीला मिस्रा कर रही थी।) मेरा झगड़ा हो रहा था। उसमें कहीं यह वाक्य आ गया—"तो क्या मैं झख मार रहा हूँ।" शायद लीला मिस्रा ने मुझे एक अनजानी लड़की से अपने बेटे की शादी पढ़ाते देखकर क्रोध से कहा था, "और पंडित तुम भी क्या झख मार रहे हो ?" और मैंने भड़ककर क्रोध से यह वाक्य कहा था। कुछ भी हो, झख मारने का मुहाविरा मंटो ने इस्तेमाल किया था। अशोक निर्देशन कर रहे थे। मंटो पिये हुए, चुपचाप एक तरफ़ बैठा सीन शूट होते देख रहा था कि अचानक मुझे शरारत सूझी और मैंने गम्भीर स्वर में कहा—"मैं यह डायलाग नहीं बोल सकता !"

"क्यों ?" अशोक ने पूछा।

"झख मारना हिंसा भरा शब्द है। वेदी पर बैठा हुआ वेदों का वक्ता, धर्म-परायण ब्राह्मण ऐसा वाक्य कभी नहीं बोल सकता।"

"पर यह तो मुहाविरा है।" मंटो तमककर उठा।

"बहुत से ऐसे मुहाविरे हैं जो अर्थपूर्ण हैं, लेकिन शरीफ़ लोग नहीं बोलते। इसी तरह वेदी पर बैठा हुआ पंडित यह हिंसा भरा मुहाविरा नहीं बोल सकता।" मैं बोला।

"लेकिन मुहाविरे का मतलब हिंसा भरा नहीं है।"

"झख क्या है, मछली।" मैं बोला, "झख मारना, मछली मारना—

मतलब इस मुहाविरे का कुछ भी हो, लेकिन कोई पंडित इसे नहीं बोल सकता।"

"बंगाल के पंडित मछली मारते ही नहीं, खाते भी हैं!"

"लेकिन पंडित तोताराम बंगाली नहीं, न यह कहानी बंगालियों की है।"

"तुम बकवास करते हो!" मंटो झल्ला उठा, "तुम्हें यही फ़िकरा बोलना होगा।"

"मैं नहीं बोल सकता। मैं वेदी पर बैठा हुआ ब्राह्मण हूँ।"

"मैं भी ब्राह्मण हूँ।" मंटो गरजा।

"ब्राह्मण तुम्हारे पुरखे होंगे। इस वक्त तो तुम यहाँ झख मार रहे हो।"

और मंटो ने मुझे एकदम ज़ोर से गाली दी।

आज मैं अपनी इस आपत्ति की बात सोचता हूँ तो मुझे अनायास हँसी आती है। वास्तव में मुझे उस समय भी हँसी आ रही थी, परन्तु ऊपर से मैं पूरा गम्भीर बना हुआ, इस बात पर ज़ोर दे रहा था कि उत्तर भारत का कोई धर्म-परायण पंडित वेदी पर बैठकर ऐसा मुहाविरा नहीं बोल सकता। मेरी आपत्ति एकदम लचर थी, लेकिन जो लोग फ़िल्मी दुनिया से परिचित हैं, वे जानते हैं कि ऐसी लचर आपत्तियाँ वहाँ सेटों पर रात-दिन होती हैं। आपत्ति चाहे लचर थी, लेकिन ब्राह्मण यह बोल सकता है या नहीं, इस सवाल ने उसे एकदम मह व प्रदान कर दिया। फ़िल्मी दुनिया वाले निहायत डरपोक आदमी होते हैं। बड़े-से-बड़ा नास्तिक फ़िल्म शुरू करने से पहले मुहूर्त निकलवाकर फ़िल्म का पहला दृश्य लेता है। (यद्यपि इन मुहूर्तों के बावजूद आये दिन दुर्घटनाएँ होती हैं, फ़िल्म फ़ेल होते हैं और फ़नान्सरों को घाटा पड़ता है।) मेरी बात अशोक और वाचा को ठीक लगी। मंटो ने गाली दी तो मेरा पल्ला और भी भारी हो गया। और क्योंकि मैं मज़ाक न कर रहा था और लड़ाई पर उतारू था, इसलिए मैंने कहा—"देखो मंटो, मैं पहलवान नहीं, लेकिन इतना जानता हूँ कि तुम भी पहलवान नहीं हो और तुमने अब ओठ भी खोले तो मैं तुम्हें उठाकर स्टुडियो के बाहर फेंक दूँगा।"

मामले ने कुछ ऐसा रूप धारण किया कि अशोक घबरा गये। शूटिंग रुक गयी। उन्हें चिन्ता हुई कि हम दोनों अड़े रहे तो शूटिंग हो न सकेगी और चार-छः हज़ार की डज़ पड़ जायगी। वे मंटो को बाहर ले गये (या शायद मुझे ले गये, यह मुझे याद नहीं) लेकिन कुछ देर बाद जब हम सेट पर आये तो मंटो ने मेरे हाथ को धीरे से दबाते हुए खेद प्रकट किया और मैंने वही डायलाग बोल दिया।

इसके बाद वह फिर नहीं बैठा, घर चला गया। फिर कभी वह रात को सेट पर नहीं आया। मैंने सम्वाद ही नहीं, दृश्य तक बदल डाले, लेकिन फिर उसने मेरा रास्ता नही काटा।

मंटो को गाली देने का बहुत शौक था। इस बात की उसे बड़ी इच्छा रहती थी कि वह कृष्ण को एकाध गन्दी गाली दे (साले वाले तो वह कहता ही रहता था।) कृष्ण कभी ऐसा मौका न आने देता था। मंटो मुझे भी गाली देना चाहता था। दो घटनाओं का तो मैंने उल्लेख कर दिया। एक बार उसने फिर मुझे गाली दी। उन दिनों हम में अपेक्षाकृत कम तनाव था। (मुखर्जी ने अशोक और मंटो आदि को नीचा दिखाने के लिए संतोषी को फिर बुला लिया था और 'आठ दिन' के लिए उसका एक गीत ले लिया था। मुझे इस बात की ख़बर न थी, लेकिन मंटो संतोषी का वहाँ आना पसन्द न करता था, इसलिए वह एक गीत मुझ से लिखवा रहा था। हम म्यूज़िक-रूम से दफ़्तर की ओर आ रहे थे कि सीढ़ियाँ चढ़ते हुए मंटो ने बातों-बातों में अचानक मुझे धीरे से गाली दी।

किसी ज़माने में मैं स्वयं बड़ी गालियाँ बकता था। पिता जी नित्य नयी गालियों की रचना करने में बड़े दक्ष थे। वैसे भी जालंधर की भूमि गालियों के लिए बड़ी उर्वरा है। दोस्त जब मिलते हैं तो बड़ी भारी भरकम गालियों से एक दूसरे का स्वागत करते हुए आलिंगनबद्ध होते हैं। मुझे अच्छी तरह याद है मैं 'भीष्म' लाहौर के दफ़्तर में काम करता था और अपने सीनियर सम्पादक श्री सागरचन्द्र 'गोर्खा' के साथ (जो बाद में

दैनिक प्रताप के हास्य लेखक के रूप में बड़े प्रसिद्ध हुए और अब ऑल इंडिया रेडियो के किसी विभाग में गुमनामी का जीवन बिता रहे हैं ) रेलवे रोड पर जा रहा था कि सामने से मेरा लड़कपन का दोस्त कुलवन्त सिंह आता दिखायी दिया। दूर ही से उसने एक मोटी सी गाली से मेरा हाल-चाल पूछा और मैं उससे भी मोटी गाली देता हुआ उससे लिपट गया (आज यह बात कुछ स्वप्न की-सी लगती है और यद्यपि मेरी पत्नी मुझे अब भी ख़ासा असभ्य समझती है, लेकिन जालंधर से लाहौर आने वाले अश्क और इलाहाबाद के अश्क में आकाश-पाताल का अंतर है, यह मै भली-भाँति जानता हूँ।) 'गोर्खा' साहब चकित-विस्मित खड़े देखते रह गये। बाद में मैंने उन्हें समझाया कि वह मेरा लंगोटिया यार था और जालंधर के लंगोटिये यारों में अभिवादन की यह पुरानी रीत है. . . . काश मंटो में और मुझ में ऐसा याराना होता और हम दोनों बेतकल्लुफ़ी से एक दूसरे को गाली दे सकते। लेकिन दफ़्तर की सीढ़ियों पर चढ़ते हुए उसने धीरे से मुझे जो गाली दी थी, उसमें बेतकल्लुफ़ी न थी, याराना न था, सरपरस्ती का अस्पष्ट-सा भाव था। मुझे लगा कि यदि यह गाली मैंने ख़ामोशी से सुन ली तो मुझे और गालियाँ सुननी पड़ेंगी और बेतकल्लुफ़ी के अभाव में मैं गाली न दे सकूँगा। मैंने तुरन्त कहा—"देखो मंटो, तुम अमृतसर के हो तो मैं जालंधर का हूँ। मैं गालियाँ दूँगा तो तुम्हारी तबीयत साफ़ हो जायगी। दोबारा तुम मुझे कभी मत गाली देना।"

और मंटो ने मुझे फिर कभी गाली न दी। उसकी अत्यधिक झुंझलाहट मेरी कपाल-क्रिया करने की इच्छा में अवश्य प्रकट हुई, लेकिन वह गाली मुझे कभी न दे सका।

मंटो जब गाली देने पर माफ़ी माँग लेता था, इतना मादा उसमें था, तब फिर क्या कारण है कि हममें बराबर खिंचाव रहा और हम लड़ते रहे ? मैंने स्वयं इस बात पर ग़ौर किया है और मैं हमेशा इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि ज़िन्दगी की बिसात पर हमें एक-दूसरे के सामने रख दिया

गया और हम लड़ने पर मजबूर रहे। अगर कहीं बराबर मिलकर बैठे भी तो एक-दूसरे से लड़ते हुए, एक दूसरे के पैंतरे को काटकर किश्त देने वाले मोहरों की तरह ।

हमने एक दूसरे से मिलने की चेष्टा न की हो, ऐसी बात नहीं, किन्तु हमारा अहं या हमारी सतर्कता खुलकर हमारे मिलने के रास्ते में सदा दीवार बन गयी। मैंने मिलने की कोशिश की तो मंटो तना रहा, मंटो ने मिलने का प्रयास किया तो मैं तना रहा। ठीक सन याद नही, लेकिन कृष्णचन्द्र लखनऊ जा चुका था, राशिद प्रोग्राम डायरेक्टर की कुर्सी पर जा विराजे थे, चोपड़ा साहब को अभी मंटो ने फाँसा न था, मंटो को दिन-ब-दिन विरोध का घेरा अपने गिर्द तंग होता दिखायी देता था। शाम का वक्त था, दिये जल चुके थे और मैं मेज़ पर बैठा कोई नाटक या कहानी लिख रहा था। कौशल्या अन्दर रसोई घर में खाना पकाने के प्रबन्ध में लगी थी कि अचानक बाहर सड़क पर से सख्त और तीखी आवाज़ आयी—
"अश्क !"

'मंटो !'—मुझे ख़याल आया और मेरा जी धक्क से रह गया। क्योंकि यद्यपि मैं उसके घर (९, हसन बिल्डिंग्ज़,निकलसन रोड )में तीन-चार बार गया था, लेकिन वह पिछले डेढ़ वर्ष में कभी मेरे घर न आया था, हालांकि हमारे घरों में आध मील से अधिक का फ़ासिला न था। मेरे यहाँ तो दूर रहा, वह कभी कृष्णचन्द्र के यहाँ भी न आया, जो मेरे निकट ही रहता था। (मेरे आने से पहले आया हो तो मैं नहीं जानता।)

लेकिन मैंने तुरन्त उत्तर न दिया, न उठकर दरवाज़ा खोला। क्योंकि आवाज़ यद्यपि मंटो की लगी, लेकिन विश्वास न हुआ कि मंटो है।

"अश्क !" वही ऊँची, तीखी, क़द्रे चिड़चिड़ी कर्कश आवाज़ !

मैंने उठकर दरवाजा खोला। मंटो, सफ़िया भाभी और उनके साथ एक गोरा-चिट्टा, बड़ी ही सुन्दर आँखों और तीखे नाक-नक्शे वाला युवक—तीनों अन्दर आये ।

मंटो ने परिचय कराया—"यह मसऊद परवेज़ है (मेरा भतीजा

या मेरा दोस्त, मंटो ने क्या कहा यह मुझे याद नहीं) तुमसे मिलना चाहता था, मैंने कहा, चलो मिला लायें।"

मेरे पास उस समय दो छोटे-छोटे कमरे, एक कोठरी और एक रसोई घर था। मनोहरलाल भार्गव, म्युनिसिपल कमिश्नर देहली, ने बड़ी कृपा करके हम जैसे परदेशियों के लिए बैरिकों जैसे २६ क्वार्टर तीस हजारी में भैरों के मन्दिर के सामने बनवा रक्खे थे। जिस समय की बात है, राशिद एक नम्बर में, मै तीन नम्बर में और कृष्ण पाँच नम्बर के क्वार्टर में रहते थे। एक कमरा सोने का और एक बैठने का था। बैठने के कमरे में मैंने एक कुर्सी-मेज़ काम करने के लिए रख छोड़ी थी और बैठने के लिए एक दरी और जाजम फ़र्श पर बिछा रखा था—। उसकी ओर संकेत करते हुए मैंने कहा—"बैठो, बैठो !" और कौशल्या को आवाज़ दी कि देखो मंटो और सफ़िया भाभी आये हैं। मंटो और परवेज़ बैठ गये। सफ़िया भाभी अन्दर रसोई की ओर चली गयीं और मैं उस समय तक बात चलाने की कोशिश करता रहा जब तक सफ़िया भाभी कौशल्या के साथ बैठक में नहीं आ गयीं।

मुझे उस मुलाकात की कोई बात याद नहीं, सिवाय इसके कि मसऊद परवेज़ की आँखें बड़ी ख़ूबसूरत थीं, उसका नाक-नक्शा अत्यन्त आकर्षक था और मैंने कई बार कनखियों से उसकी ओर देखा था और मेरा ख़याल था कि वह फ़िल्मी दुनिया में निश्चय ही नायक के रूप में ख्याति पायेगा। (शायद वह उस समय किसी फ़िल्म कम्पनी में नौकर था या जाने की कोशिश कर रहा था।) मंटो इधर-उधर की बड़ी ऊपरी बातें करता रहा और मै तना बैठा रहा। बात को मैंने अपनी ओर नहीं मोड़ा। परवेज़ से यह भी नहीं पूछा कि उसने मेरी कौन-सी चीज़ पढ़ी है, वह कब दिल्ली आया है, क्या कर रहा है, कब तक रहेगा? बातचीत को मैंने व्यक्तिगत 'टच' नहीं दिया, मंटो को बातें करने के लिए छोड़ दिया, बल्कि जब कौशल्या आयी तो उन लोगों को बातें करता छोड़, मैं अपने काम में व्यस्त होने का नाटक करता रहा।

मैंने ऐसा क्यों किया, जब मैं इसके बारे में सोचता हूँ तो पाता हूँ कि मुझे इस बात का एक मिनट को भी विश्वास नहीं हुआ कि परवेज़ मुझसे मिलना चाहता था और मंटो शाम के अपने पीने के शग़ल को छोड़कर उसे मुझ से मिलाने चला आया है। सफ़िया भाभी कौशल्या से मिलना चाहती होंगी, यह बात मेरी समझ में आ सकती थी। सफ़िया कौशल्या को चाहती थीं और कौशल्या भी सफ़िया भाभी और मंटो दोनों का आदर करती थी। लेकिन मंटो ने इस बात की चर्चा नहीं की और मेरे यहाँ आने का जो बहाना उसने बनाया, उस का मुझे विश्वास नहीं हुआ। फिर मंटो के उस आने में, उसके उस तरह आवाज़ देने, मेरे यहाँ बैठने और बातें करने में कुछ ऐसा अन्दाज़ था मानो मेरे यहाँ आकर वह मुझ पर कोई बड़ा एहसान कर रहा था और मुझे उसका आभारी होना चाहिए। बातों-बातों में उसने जता भी दिया कि वह इस डेढ़ वर्ष में कृष्ण के घर भी कभी नहीं आया। और मुझे उसका यही अन्दाज़ खल गया।

मंटो की बात मैं नहीं जानता, लेकिन उस मुलाक़ात की विरसता मुद्दतों मेरे दिमाग़ पर छायी रही। मैं फक्कड़ आदमी हूँ। मंटो भी अव्वल दर्जे का फक्कड़ रहा है। लेकिन एक दूसरे की उपस्थिति जाने हमारे अहं के किन तारों को छेड़ देती थी कि वे अनायास तन जाते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि जब मैं कुर्सी पर बैटा लिखने का बहाना कर रहा था और पास ही दरी पर बैठे मंटो और मसऊद, सफ़िया भाभी और कौशल्या बातें कर रही थीं, मैं सोच रहा था कि मैं क्यों इनकी बातों में शामिल नहीं होता, जब वे मेरे घर आये हैं तो मुझे ऐसा घटियापन न करना चाहिए। और क्योंकि मैं मंटो के आने का असल उद्देश्य जानता था, जिसे उसने अपने उच्च-भाव (superiority complex) से दबा रक्खा था, इसलिए मैं खुल नहीं सका। हल्का-सा दया का भाव मंटो को अपनी ऊँचाई से तनिक नीचे उतरते देखकर मेरे मन में अवश्य उभरा, किन्तु उन ऊँचाइयों से उसे उतार पाने की सफलता पर मुझे उतनी ही मात्रा में प्रसन्नता भी हुई।

मंटो फिर मेरे घर नहीं आया—दिल्ली में भी नहीं, बम्बई में भी नहीं। और उसने दिल्ली छोड़ जाना मंज़ूर कर लिया, किन्तु और अधिक नीचे उतरना उसने स्वीकार न किया।

बम्बई में जब १९४५ के अगस्त में मेरे घर लड़का हुआ तो महीने-डेढ़ महीने बाद अचानक एक दिन मंटो ने मुझसे स्टुडियो में कहा—"सफ़िया आयी है, कौशल्या से मिलना चाहती है, तुम उसे ज़रा ले जाओ।"

मैं 'मज़दूर' के सम्वाद लिख रहा था और मंटो और मुझमें कोई प्रतिद्वन्द्वता न थी, तो भी मुझसे बात करते समय उसे झल्लाहट होती थी। फ़िल्मिस्तान की कार आ गयी तो मंटो सफ़िया भाभी को ऊपर से ले आया। वह दफ़्तर के पोर्च तक उन्हें छोड़ने आया। जब वे कार में बैठ गयीं तो (यद्यपि मैं जानता था कि वह नहीं जायेगा) मैंने कहा—"तुम भी चलो।"

"नहीं तुम जाओ।" मंटो ने तेवर चढ़ाते हुए कहा और पीठ मोड़कर चल दिया। कार के स्टार्ट होने का भी उसने इन्तज़ार नहीं किया।

मैंने कहा न कि नियति के सूत्रधार ने हमारे लिए पहले ही से भूमिकाएँ निश्चित कर दी थीं और हम उन्हें खेलने को विवश थे। इसमें हमारे फक्कड़-पन, अहं और हठ का ही दोष न था, बाह्य परिस्थितियाँ भी ऐसी थीं। दोस्तों ने जब हमें एक-दूसरे का प्रतिद्वन्द्वी मान लिया तो हमारी हर बात को वे इसी रोशनी में देखने लगे। हमारा मतलब एक दूसरे को चिढ़ाना हो या न हो, लेकिन मित्रगण हमारी बातों का यह मतलब अवश्य निकाल लेते। मुझे एक छोटी सी घटना याद आती है—मंटो यों खादी का कुर्ता-पायजामा पहनने का आदी था, लेकिन रेडियो के जीवन में सूट भी पहनता था। उसने कोई फ़िल्मी कहानी बेची थी। उसके रुपये आये थे या यों ही उसने एक बढ़िया सूट सिलवाया था। दस-ग्यारह रुपये गज़ का कपड़ा था (जो उस समय काफ़ी महँगा समझा जाता था।) उन्हीं दिनों कौशल्या ने नौकरी छोड़ दी थी। वेतन और साल भर के प्राविडेंट-फंड के उसे तीन सौ रुपये मिले थे, जिनसे उसने मेरे लिए एक बढ़िया सूट और शेरवानी बनवा

दी थी। मैं सूट पहनकर दफ़्तर में आया। संयोग से मीटिंग के समय मैं और मंटो कृष्ण के दायें बायें बैठे थे। कृष्ण ने सूट के कपड़े की ओर संकेत करते हुए पूछा —"कहो भाई, कैसे गज़ आया है?" मैंने कहा— "बारह रुपये!" कृष्ण मंटो की ओर देखते हुए शरारत से मुस्कराया और बोला —"यह तुम्हें किसी मैदान में जमने नही देगा।"

इसके पहले कि मंटो कोई जली-कटी बात कहता, मीटिंग शुरू हो गयी।

कृष्णचन्द्र ने 'नये मेमार' के सिलसिले में मंटो पर लिखते हुए टाइपराइटरों की चर्चा की है और इस घटना को अच्छा खासा कहानी का-सा रंग दे दिया है,[1] यद्यपि यथार्थ इसके विपरीत है। यह बात ग़लत है कि मंटो के पास दो टाइपराइटर थे और मैंने तीन लिये थे। असल बात यह है कि मंटो के पास उर्दू का टाइपराइटर था और मैंने उर्दू-हिन्दी दोनों के टाइपराइटर ख़रीदे थे। मंटो की प्रतिस्पर्धा के कारण मैंने ऐसा नहीं किया था। हाँ, दोस्तों ने उसे वह रंग ज़रूर दिया और मेरे दो टाइपराइटरों को लेकर मंटो को चिढ़ाया।

बात यह है कि मैं किसी समय होल्डर-दवात से फ़ुलस्केप काग़ज़ पर कहानियाँ लिखता था। मुझे अपनी रचनाओं में काट-छाँट करने की बीमारी है, इसलिए कई बार आधा पृष्ठ लिख चुका होता और कुछ वाक्य कट जाते तो सारा पृष्ठ फिर से लिखना पड़ता। इस कष्ट से बचने के लिए मैंने फ़ुलस्केप की आधी स्लिपों पर लिखना शुरू किया कि यदि कोई स्लिप ख़राब हो जाये तो पूरा फ़ुलस्केप काग़ज़ दोबारा लिखने की जगह आधा लिखना पड़े। इस तरह कहानी लिखकर मैं पत्र-पत्रिकाओं को देता, और जैसा कि मैंने सुदर्शन जी को देखा था, पत्र या पत्रिका में छपते ही उसकी कतरन काटकर फ़ाइल में रख लेता। इससे पत्रिका ख़राब हो जाती, किन्तु अपने पास कहानी की कापी रखने के लिए ऐसा करना ज़रूरी होता।

---

[1] देखिए मंटो पर कृष्ण का रेखा-चित्र।

मैं १९३५ में हिन्दी में लिखने लगा। उन्हीं दिनों मैंने 'ग़ैर-मारूफ़-जर्नलिस्ट'[1] को देखा कि वे पेंसिल-रबर लेकर बैठते। जो शब्द, वाक्य या उपमा अच्छी न लगती उसे रबर से मिटाकर दोबारा लिखते। मैं ग्रहणशील (Receptive) आदमी हूँ। जो चीज़ मुझे अच्छी लगती है, उसे अपना लेता हूँ। मैंने स्लिपों का तरीका हटाकर यह रबर और पेंसिल वाला तरीका अपना लिया। पहली पाण्डुलिपि मैं इस प्रकार उर्दू में तैयार करता, दूसरी हिन्दी में लिखकर किसी पत्र को भेज देता। लेकिन हिन्दी में रूपान्तर करते समय मैं कई बार बड़े सुन्दर संशोधन कर देता और जब कहानी हिन्दी में छपकर आ जाती तो वही संशोधन उर्दू की पाण्डुलिपि में भी कर लेता। उन्हीं दिनों दो बार ऐसा हुआ कि मेरी हिन्दी कहानियाँ पत्रिका के कार्यालय में नहीं पहुँचीं। मैं उन दिनों 'विश्वमित्र' कलकत्ता में लिखा करता था। यह भी हो सकता है कि कार्यालय वालों ने कहानियाँ खो दी हों और अपनी अयोग्यता का दोष डाक विभाग के सिर थोप दिया हो। उर्दू पाण्डुलिपि मेरे पास थी, लेकिन उसे फिर हिन्दी करने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई। इसके अतिरिक्त हिन्दी रूपान्तर करते समय जो संशोधन मैंने किये थे, वे मैं एकदम भूल गया था और मुझे बड़ी कोफ़्त हुई। तब मैंने निश्चय किया कि मैं पेंसिल और कार्बन से तीन कापियाँ किया करूँगा। एक पत्रिका को भेजा करूँगा, एक अपनी फ़ाइल में रखा करूँगा और एक फ़ालतू इस उद्देश्य से रक्खूंगा कि यदि कोई कहानी खो जाये या सम्पादक वापस न करे तो मैं उसे किसी दूसरी पत्रिका को भेज सकूँ। सन् १९३७ से दिल्ली आने तक मैं बराबर कहानियों और नाटकों की तीन तीन प्रतियाँ तैयार करता रहा। काम मैं हमेशा नियमित रूप से और विधि-पूर्वक करता हूँ। कुछ-न-कुछ लिखता भी रहता हूँ, इसलिए लगातार

---

[1] पंडित रतनचन्द मोहन जो सरकारी मुलाज़िम होने के कारण इस छद्मनाम से लिखते थे और अँग्रेज़ी कहानियों का उर्दू रूपान्तर करने में निपुण थे।

तीन-तीन कापियाँ करने से मेरे अँगूठे पर गट्टा पड़ गया और यद्यपि इधर वर्षों से मैंने पेंसिल से काम नहीं किया तो भी वह गट्टा अभी तक मौजूद है। मंटो को उर्दू में टाइप करते देखकर वह तरीका मुझे बहुत पसन्द आया और मेरी इच्छा हुई कि एक टाइपराइटर मैं भी ख़रीद लूँ।

दूसरी बात यह है कि कृष्ण और अन्य मित्र टाइपराइटर पर नाटक लिखा जाता देखकर बड़े प्रभावित होते थे और उन पर बड़ा रौब पड़ता था। वे बार-बार उसकी तारीफ़ करते थे। मंटो को स्वयं भी इस बात का ज़ोम था कि वह जब चाहे, जिस विषय पर चाहे, सीधे टाइपराइटर पर खटाखट नाटक टाइप कर सकता है। प्राय: वह कृष्ण से पूछता—"बोलो भई कृष्ण, किस मौज़ूअ (विषय) पर ड्रामा लिखा जाये?" लेकिन कई बार ऐसा भी होता कि कोई रेडियो आर्टिस्ट ही विषय सुझा देता। एक बार गुलाम मुहम्मद ने कहा "मंटो साहब, आप रणधीर पर ड्रामा लिखिए।" और मंटो ने तुरन्त टाइपराइटर पर उगलियाँ रक्खीं और काग़ज़ पर शब्द बनने लगे। ७८६, फिर शीर्षक 'रणधीर पहलवान', फिर—

**[ढोर-डंगरों के हाँकने की आवाज़—घुँघुरुओं की झनझनाहट वग़ैरह—हाँकने के साथ यह आवाज़ भी आती है, 'ऐ, तुझे साँप काटे'—'तेरी टाँग टूट जाय'. . .नीचे लिखा गीत शुरू हो, जिसके पीछे गाय बैलों के डकारने और उनकी घंटियों की आवाज़ आती है।]**

फिर किसी ने एक दिन कहा—"मंटो साहब, 'कबूतरी' पर ड्रामा लिखिए।" और मंटो ने तुरन्त टाइपराइटर खटखटाना शुरू कर दिया :—

**[मुर्ग़ की अज़ान—पथरीले ज़ीने पर कदमों की आवाज़—फिर मुर्ग़ की आवाज़—कदमों की आवाज़ दो लड़कियों के गुनगुनाने की आवाज़ें, मानो वे होंठों ही होंठों में पूजन कर रही हैं—यह गुनगुनाहट कुछ क्षणों तक जारी रहे—इसके बाद आरती शुरू—आरती ख़त्म हो जाती है—विश्राम—घंटा**

**एक बार बजता है—विश्राम—दूसरी बार बजता है—पथरीले ज़ीने पर कदमों की आवाज़—यह ज़ाहिर करने के लिए कि दोनों लड़कियाँ मन्दिर के बाहर निकल रही हैं।]**

ये लम्बे डैश और विश्राम जो मंटो के समस्त रेडियो नाटकों में कसरत से मिलते हैं, इस बात के गवाह हैं कि वह साथ-साथ सोचता रहता था। कुछ भी हो, एक बार शुरू करके, एकाध पैरा टाइप करने के बाद वह सिगरेट सुलगा लेता। कुछ क्षणों के लिए पाँव ऊपर करके कुर्सी पर बैठ जाता और फिर लिखना शुरू कर देता। एक बार मंटो ने मुझे भी यह गुर बताया था कि कुछ न सूझे तो कोई शेर या गीत लिख दो, इतने में अगले डायलाग सोच लो और कुछ न हो तो नस्र (गद्य) में शायरी शुरू कर दो।

परन्तु ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली में नौकर होने से पहले मैं अपने कुछ सफल नाटक जैसे—'लक्ष्मी का स्वागत', 'अधिकार का रक्षक', 'पापी', 'समझौता', 'छठा बेटा' आदि लिख चुका था और नाटक के बारे में मेरा विचार है कि नाटक वही अच्छा है जो खेला जा सके। इसमें कोई सन्देह नहीं, रेडियो-नाटक की सम्भावनाएँ बहुत अधिक हैं और उसके सुनने वालों की संख्या इस समय भी रंगमंच का नाटक देखने वालों की अपेक्षा कहीं अधिक है, लेकिन मुझे कई कारणों से ध्वनि-नाटक के मुकाबिले में रंग नाटक ही अच्छा लगता था। रेडियो-नाटक के सुनने वालों और रंग-नाटक के देखने वालों की संख्या में जो अंतर है, दस वर्ष पहले तो यह और भी ज़्यादा था। क्योंकि अब तो स्वाधीनता के बाद, लोग स्टेज कॉनशेस (stage conscious) होते जा रहे हैं और स्कूलों, कालेजों और एमेचर स्टेज पर नाटक धड़ाधड़ खेले जा रहे हैं। उस समय शायद ही कभी नाटक खेला जाता था। कभी होता भी था तो किसी अँग्रेज़ी नाटक का अनुवाद। लेकिन मुझे लड़कपन ही से रंगमंच से अनुराग था, इस कारण मैं उसकी उन्नति के लिए आरम्भ ही से प्रयत्नशील था और चाहता था कि ऐसे नाटक लिखूँ जो आसानी से कम ख़र्च पर खेले जा सकें और जब कोई

एमेचर क्लब या स्कूल नाटक खेलना चाहे तो अंग्रज़ी से अनुवाद की जगह उसे हिन्दुस्तानी नाटक मिल सके। मेरा यह विचार कितना सही था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि आज मेरे नाटक काश्मीर से त्रिवेन्द्रम और पंजाब से बंगाल तक खेले जाते हैं, पढ़े जाते हैं, पढ़ाये जाते है और मेरे नाटकों के संग्रह कहानियों या उपन्यासों से किसी तरह कम नहीं बिकते।

मंटो के रेडियो-नाटकों का मुझ पर ज़रा भी रौब नहीं पड़ा। यह ठीक है कि जहाँ तक रेडियो-नाटकों का सम्बन्ध है, मंटो ने तेकनीक के नये और सफल प्रयोग किये और रेडियो तेकनीक की सम्भावनाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया, लेकिन मंटो के कुछ नाटक देखने और सुनने के बाद में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि रंग-नाटक को थोड़े से संशोधन के बाद ध्वनि-नाटक में बदला जा सकता है और वह समय, स्थान और कार्य संपादन की इकाई के कारण रेडियो के सुनने वालों के लिए महज़ ध्वनि-नाटकों के मुकाबिले में यदि अधिक नहीं तो कम मनोरंजक भी नहीं उतरता। इस प्रकार हम दोनों के नाटकों की तेकनीक भिन्न थी। कृष्ण मंटो के नाटकों को पसन्द करता था, किन्तु अंसार नासिरी को मेरे और बेदी के नाटक पसन्द थे। इसमें कोई शक नहीं कि उस समय मंटो ने और मैंने कुछ बहुत अच्छे नाटक लिखे—'चरवाहे' और 'आदि मार्ग' के अधिकांश नाटक उसी समय लिखे गये।

मंटो के ड्रामों का मुझ पर रौब नहीं पड़ा, लेकिन यह इच्छा ज़रूर हुई कि एक-दो नाटक सीधे टाइपराइटर पर लिखूँ और कृष्ण को दिखला दूँ कि न इस तरह के रेडियो-नाटक (जो फ़ीचर के निकट पड़ते थे) लिखना मुश्किल है, न उन्हें सीधे टाइप करना। और मैंने एक दिन मंटो के सामने हिन्दी टाइपराइटर ख़रीदने की चर्चा की। मंटो ने अपना उर्दू टाइपराइटर किस्तों पर ख़रीदा था। शायद एजेंट उसका परिचित था— यों भी मंटो का घर रेमिंग्टन रैंड कम्पनी कश्मीरी गेट के निकट ही था। एक दिन एजेंट दफ़्तर में आया। मैंने काण्ट्रेक्ट भर दिया। वह काण्ट्रेक्ट अब भी मेरे पास सुरक्षित है और उस पर ज़ामिन के रूप में मंटो के हस्ताक्षर हैं। मंटो यह

चाहता था कि मैं भी उसी की तरह किश्तों पर टाइपराइटर लूँ। मैंने काण्ट्रेक्ट किया भी था, लेकिन किस्तों पर लेने में २३३ रुपये के टाइपराइटर के तीन-सवा तीन सौ रुपये मुझे देने पड़ते। यह ठीक है कि साल-ड़ेढ़ साल का अरसा और छोटी किस्त थी, लेकिन मुझे इतनी थोड़ी रकम का ७५ रुपये सूद काफ़ी ज़्यादा मालूम हुआ। इसलिए जब एजेंट पहली किश्त लेने आया तो मैंने उसे सारे-का-सारा रुपया दे दिया और इस प्रकार मित्रों के मन में अपने प्रति उपेक्षा का एक और कारण पैदा कर लिया। मंटो हो, कृष्ण हो या राशिद—तीनों पैसा जोड़ने के सख़्त ख़िलाफ़ थे। जो आया, उड़ा दिया, बल्कि यदि कर्ज़ मिल गया तो उसमें भी कोई संकोच नहीं। मैं ढाई सौ रुपया टाइपराइटर के लिए एकमुश्त दे सकता हूँ, जब कि वह किस्तों पर मिल जाता है, यह बात मंटो को अच्छी न लगी। पैसा दरअसल मैं भी न जोड़ता था, किन्तु पहली पत्नी की मृत्यु के बाद साठ रुपये की तुच्छ रकम के लिए (जो मैंने एक सम्बन्धी से उधार ली थी) मुझे ख़ासा ज़लील होना पड़ा था और मैंने निश्चय किया था कि मैं कभी किसी से उधार न लूँगा और जिस तरह भी हो, कुछ-न-कुछ बचाया करूँगा। जब मैंने रेडियो की नौकरी की तो मेरे पास डेढ़ हज़ार रुपये थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि जिस तरह टाइपराइटर पर मंटो के ड्रामा लिखने पर मित्र मुझे चिढ़ाया करते थे, उसी तरह मेरे इकट्ठा रुपया देने पर उन्होंने मंटो को चिढ़ाया। और जब एकाध महीने टाइपराइटर पर अभ्यास करने के बाद (मुझे अधिक कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि अँग्रेज़ी टाइप करना मुझे आता था) मैंने सीधे टाइपराइटर पर एक फ़ीचर टाइप करके कृष्णचन्द्र को दिया तो मित्रों ने मंटो से कहा—"लो भई मंटो, तुम्हारा इजारा ख़त्म हुआ।"

उस समय तक मैं उर्दू में भी बराबर लिखता था और नाटक हिन्दी लिपि में कम और उर्दू में अधिक लिखता था, इसलिए मैंने कई दोस्तों से कह रखा था कि रेमिंग्टन के पास इस समय उर्दू का टाइपराइटर नहीं, लेकिन यदि किसी मित्र के पास उर्दू टाइपराइटर बिकाऊ हो तो मुझे पता दें। उन मित्रों में एक पत्रकार भी थे, जो आजकल ऑल इंडिया रेडियो के

एक बहुत बड़े पद पर आसीन हैं, लेकिन उस समय एक फ़िल्म डिस्ट्रीब्यूटर के यहाँ पब्लिसिटी आफ़िसर थे। उनके किसी मित्र के पास एक उर्दू टाइप-राइटर था। उन्होंने मंटो से कहा कि भई अश्क को ज़रूरत है, एक सौ दस में ये देने को तैयार हैं, तुम अश्क को ले दो। उन सज्जन ने शौक में उर्दू टाइप-राइटर ले लिया था, लेकिन उसे काम में न ला सके थे और उसमें ज़ंग लग गया था। मंटो टाइपराइटर घर ले आया। वह मशीन को खोलना और साफ़ करना जानता था। उसने उस मशीन को अच्छी तरह साफ़ किया। पैट्रोल की एक पूरी बोतल उस पर ख़र्च कर दी और दूसरे दिन मुझे लाकर मशीन दिखायी कि उसके एक दोस्त की है, बिलकुल चली नहीं। मैं चाहूँ तो ख़रीद लूँ।

मैंने मशीन को चलाकर देखा तो मुझे वह बहुत पसन्द आयी। मेरी हिन्दी वाली मशीन नयी होने के बावजूद बहुत भारी थी और यह उर्दू वाली मशीन पुरानी थी, किन्तु, बड़ी रवाँ थी। मैंने मंटो से दाम पूछे। उसने कहा—"मेरे दोस्त ने तो तीन सौ में ख़रीदी थी, लेकिन वह डेढ़ सौ में दे देगा।"

मैंने चपरासी के हाथ चेकबुक मँगायी, लेकिन जब मैं चेक काटने लगा तो मंटो ने कहा "तुम अभी एक सौ दस का चेक काट दो, चालीस रुपये नकद अगले महीने दे देना।"

मुझे यह बात अजीब तो मालूम हुई, लेकिन मैंने उस समय एक सौ दस रुपये का एक चेक काट दिया और दूसरे महीने वेतन के दिन मंटो को चालीस रुपये नकद दे दिये।

कई महीने बाद अचानक वे पत्रकार मित्र मुझ से मिलने दफ़्तर में आये। मैंने उर्दू मशीन की कोई चर्चा न की तो उन्होंने स्वयं ही कहा—"भई वह मशीन एक सौ दस रुपये में मैंने भिजवायी थी।"

"कौन-सी मशीन?"

"उर्दू मशीन, जो तुमने माँगी थी!"

"लेकिन वह तो मंटो ने अपने दोस्त से ख़रीदकर दी थी।"

"मेरे दोस्त के पास थी। वह तो डेढ़ सौ माँग रहा था, लेकिन मैं ने एक सौ दस में फ़ैसला कर दिया था।"

"पर मंटो ने तो मुझ से डेढ़ सौ रुपये ले लिये।"

मित्र को बड़ा दुख हुआ। उन्होंने कहा, "मै बाहर जा रहा था और मंटो से कह गया था कि अश्क ने एक बार मशीन की चर्चा की थी, यह उसे दिला दो। और बात एक सौ दस की हुई थी।"

उनके जाने के बाद मै नीचे गया तो मैंने मंटो से कहा कि तुमने मुझ से ठीक बात क्यों नहीं कही। चालीस रुपये के लिए झूठ क्यों बोले?"

"मैने कहा यह अश्क सब से सौदा करता हैं, हम भी उससे एक सौदा कर लें।" मंटो ने आँखें निकालकर कहा। लेकिन उसके चेहरे पर अचानक आ जाने वाले खिसियानेपन को उसकी वे आँखें छिपा न सकीं।

"यह तुमने उस वक्त क्यों न कहा?" मै बोला, "अगर तुम कहते, देखो भई, यह मशीन चाहे मैंने मुफ़्त ली हो, लेकिन तुम्हें इसके डेढ़ सौ रुपये देने होंगे तो मैं उस सूरत मे भी मशीन ले लेता। तुमने चालीस रुपये के लिए झूठ बोला, इसका मुझे रंज है।"

लेकिन उस समय तक मंटो के और मेरे सम्बन्ध काफ़ी बिगड़ गये थे, इसलिए इससे अधिक बात न हुई।

बहरहाल उर्दू का टाइपराइटर आ गया तो मै दोनों टाइपराइटर लेकर दफ़्तर आने लगा और दोस्त मंटो को चिढ़ाने लगे। मुझे एक शाम की याद है, हम दोनों दफ़्तर से एक साथ बाहर निकले। मंटो के दायें हाथ में टाइपराइटर और बायीं बग़ल में बढ़िया चमड़े का बैग था। मेरे दोनों हाथों में टाइपराइटर थे। (हम लोग एक्सचेंज बिल्डिग तक पैदल आते थे और वहाँ से ताँगा लेते थे।) उस शाम दोस्तों ने मंटो को इतना चिढ़ाया कि वह झल्लाकर बोला, "मैं यह टाइपराइटर साला बेच दूँगा और पेन से लिखा करूँगा।"

लेकिन मंटो ने ड्रामा कभी पेन से नहीं लिखा और न अपना उर्दू का टाइपराइटर बेचा (यद्यपि 'नये अदब के मेमार' सीरीज़ में कृष्णचन्द्र ने ऐसा

लिखा है। )[1] मंटो जब तक दिल्ली के रेडियो स्टेशन पर रहा, ड्रामा सदैव टाइप करता रहा। जब मैं उसके आमंत्रण पर बम्बई गया और उसी के घर ठहरा तो उस समय भी टाइपराइटर उसके पास था, यद्यपि मंटो ने उसे एक वर्ष से इस्तेमाल न किया था। फ़िल्मिस्तान के स्टुडियो में मैंने कभी उसे टाइपराइटर लाते नहीं देखा। बात यह है कि रेडियो स्टेशन पर मंटो सप्ताह में एक नाटक देता था। ख़ासी जल्दी में उसे नाटक लिखने पड़ते थे। रेडियो आर्टिस्टों के लिए कापियाँ करने का समय न रहता था और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इतनी जल्दी नाटक लिखना हो, उसमें रंगमंच की आवश्यकताओं का ध्यान न रखना हो और उस की चार-पाँच कापियाँ दरकार हों तो इसके लिए टाइपराइटर से बढ़कर कोई दूसरी चीज़ नहीं। बम्बई में ऐसी कोई जल्दी न थी। हफ़्ते में एकाध सीन होता था और उसके लिए बीस मील से टाइपराइटर उठाये लाना निरर्थक था।

टाइपराइटरों की याद आते ही कैमौस लेदर के बड़े से सफ़ेद टुकड़े और ब्रश की याद आती है जो मंटो सदैव अपने टाइपराइटर के अन्दर रखता था। सुबह आते ही मीटिंग के बाद, वह जब अपनी मेज़ पर केस से टाइपराइटर निकालकर रखता तो पहले ब्रश से टाइप के अक्षर साफ़ करता, फिर लेदर के उस टुकड़े से उसे साफ़ करके चमका देता और फिर अपने चमड़े के सुन्दर बैग से काग़ज़ों की फ़ाइल निकालता और नाटक टाइप करने बैठता। मंटो में सआदत[2] थी या नहीं, यह मैं अधिकार के साथ नहीं कह सकता, लेकिन नफ़ासत[3] ज़रूर थी और इस दृष्टि से सत्यार्थी ने अपनी कहानी 'नये देवता' में उसका नाम नफ़ासत हसन बिलकुल ठीक ही रक्खा था। मंटो गन्दे होटलों या रेस्तरानों में शराब पी लेता था, मैंने स्वयं दो बार उसे

---

[1] कृष्ण चन्द्र का वह स्केच परिशिष्ट में संकलित है।

[2] सआदत = विनम्रता, नेकी।

[3] सफ़ाई-पसन्दी।

काफ़ी गन्दे होटलों में शराब पीते देखा है, लेकिन उसके घर की प्रत्येक वस्तु में उसकी नफ़ासत पसन्दी प्रकट होती थी। उसकी पत्नी बाहर गयी हो तो उसे स्वयं घर की सफ़ाई करने में संकोच न होता। जिस धैर्य से वह अपनी मशीन साफ़ करता था, उसी धैर्य से समय पड़ने पर, अपना घर भी आप ही साफ़ कर लेता था। एक बार दिल्ली की नौकरी के आरम्भिक दिनों में मैं कृष्णचन्द्र के साथ उसके घर गया तो उसे हाथ में झाड़ू लिये हुए कमरे साफ़ करते पाया—खादी का कुर्ता-पायजामा धूल से तनिक मैला हो गया था। वह अपने फ़्लैट के छोटे कमरे को साफ़ करके मिट्टी देहलीज़ के बाहर निकाल रहा था. शायद कुछ थक भी गया था। अपनी बड़ी-बड़ी आँखें गड्ढों से एक-दम बाहर निकालते हुए उसने हमारी ओर देखा और इशारा किया कि बैठक में चलो। उसकी उन बाहर को निकली हुई आँखों में न जाने क्या था कि मैं आज तक भी उन को नहीं भुला सका।

हसन बिल्डिंग्ज़ में दो मंज़िलें हैं और पन्द्रह-बीस एक जैसे फ़्लैट हैं। पहली मंज़िल में आँगन आधा छता और खुला हुआ है। ऊपर की मंजिल में आँगन उतना ही है जितना कि नीचे छता हुआ। मंटो पहली मंजिल में रहता था। दो बड़े और एक छोटा कमरा, रसोई अलग। मंटो ने एक ड्राइंग रूम बना रक्खा था, एक सोने का कमरा। छोटा कमरा सम्भवतः सामान का था। खाने की मेज़ बाहर छत के नीचे एक ओर लगी रहती थी।

हाथ-मुँह धोकर और कपड़े बदलकर मंटो आ गया। कृष्ण को शायद नये नाटक का मसौदा दरकार था। मंटो ने एक ड्रार से बड़ी सुन्दर फ़ाइलें निकाली, जिनमें पीतल के चमचमाते पेपर-क्लिप लगे थे। वास्तव में रेडियो से जो फ़ाइलें मिलती थीं, मंटो उन्हें बीच से काटकर उनके दोनों पन्ने अलग-अलग कर लेता था। फिर मसौदा दोनों पन्नों में रखकर फ़ाइल में दायीं ओर ऊपर, बीच में और नीचे पीतल के तीन पेपर-क्लिप लगा लेता था। प्रत्येक नाटक उसने इसी प्रकार सँवारकर पीली, नीली या गुलाबी फ़ाइल में लगा रक्खा था। मैं मंटो की किसी और चीज़ से प्रभावित हुआ या नहीं, लेकिन इस नफ़ासत-पसन्दी और बाक़ायदगी का मुझ पर

ज़रूर असर पड़ा। अपनी रचनाओं की पाण्डुलिपियों को उसका यों सम्हाल-कर रखना मुझे बहुत भाया और घर आकर सब से पहला काम मैंने यह किया कि बाज़ार गया और ढूँढ़-ढाँढ़कर कहीं से पेपर-क्लिप लाया और दफ़्तर की फ़ाइलों को दो भागों में बाँटकर, ऊपर के पृष्ठ पर टाइपराइटर से कहानी या नाटक का नाम लिखकर मंटो ही की तरह मैंने अपने मसौदे पीतल के चमकते हुए पेपर-क्लिपों से बाँध दिये। इस प्रकार न केवल तीन-तीन कार्बन कापियाँ तैयार करने की मुसीबत से छुटकारा मिला, बल्कि पत्रिकाएँ फाड़कर कहानी की कापी रखने और इस तरह संग्रह सम्पादित करने के झंझट से भी मुक्ति मिली।

•

मंटो ने अपनी कहानियों का क्या पारिश्रमिक लिया, अपनी पुस्तकों की क्या रायल्टी ली, इसका मुझे कुछ अधिक ज्ञान नहीं। आवश्यकता पड़ने पर वह जो भी मिल जाय, लेकर कहानी, नाटक या उनका संग्रह प्रकाशक को दे सकता था। जहाँ तक मेरा ख़याल है, उसने अपनी बीस-इक्कीस कहानियों के पहले संग्रह का कापीराइट दो तीन सौ रुपये में प्रकाशक को दे दिया था। लेकिन एक बात तय है कि बिना कुछ भी लिये वह कहानी देने के ख़िलाफ़ था। इसके विपरीत कृष्ण ने कभी इस बात की परवाह नहीं की। अब की बात मैं नहीं जानता, उस समय वह बिना पहले कुछ लिये कहानी दे देता था। (एक कहानी की बात दूर रही, उसने अपना पहला उर्दू-कहानी-संग्रह 'तिलिस्मे-ख़याल' बिना कुछ पेशगी लिये दे दिया था।) और क्योंकि वह अपनी कहानी के लिए पारिश्रमिक न लेता था, इसलिए पत्र-सम्पादक उसकी तारीफ़ में नोट छापते थे, उसकी तस्वीरें छापते थे और उसका डिंडुम पीटते थे। पारिश्रमिक लेने का कृष्ण का ढंग दूसरों से भिन्न था। वह रचना देते समय कुछ न माँगता था। हाँ, बाद में कोई-न-कोई सख़्त ज़रूरत बताकर कुछ-न-कुछ ले लेता था और इस प्रकार सम्पादक या प्रकाशक को अपने ऊपर एहसान करने का मौका दे देता था। मेरा तरीका दोनों से भिन्न रहा। मैंने आज तक कभी कहानी मुफ़्त नहीं

दी[1]। कभी इस बात की परवाह नहीं की कि कहानी शुरू में छपती है या आख़िर में और जहाँ तक हो सका है, मैंने उसकी पूरी कीमत वसूल की है। ज़ाहिर है कि 'मीरा' लाहौर के प्रकाशक चौधरी नज़ीर हों, 'अदबी दुनिया' लाहौर के सम्पादक मौ० सलाहुद्दीन हों, 'साक़ी' दिल्ली के मालिक शाहिद अहमद देहलवी हों, कोई मुझसे प्रसन्न नही रहा। कुछ भी हो, मंटो और मुझमें एक बात समान थी कि वह भी कहानी देते समय पारिश्रमिक (कम या ज़्यादा) चाहता था और मैं भी। इसी सिलसिले में दिल्ली की एक मनोरंजक घटना मुझे याद है। दिल्ली में एक सज्जन थे आग़ा सरख़ुश। अपने स्वर्गीय पिता की याद में, जो उर्दू के मशहूर शायर थे, एक पत्रिका निकालते थे। उसका नाम भूल रहा हूँ, शायद 'चमनिस्तान' था। घटिया किस्म की पात्रिका थी। उनकी छोटी बहन रेडियो में कभी-कभी ड्रामों में काम किया करती थी और बाद में स्थायी आर्टिस्ट हो गयी थी। नाम भला सा था, हिजाब या सहाब कज़लबाश। सरख़ुश साहब ने चमनिस्तान में कृष्ण की कहानी-कला पर कोई लेख छापा था। कृष्ण की कहानियाँ भी छापी थीं, एक कहानी-संग्रह भी प्रकाशित किया और जब कृष्ण दिल्ली से चला गया तो कृष्ण के ख़िलाफ़ (कृष्ण ने राशिद के कविता-संग्रह 'मावरा' की जो भूमिका लिखी थी, उसमें किस पश्चिमी कवि के आलोचनात्मक निबन्ध से पैरे चुराये हैं, इस सम्बन्ध में ) एक लेख भी छापा था। बहरहाल, आग़ा सरख़ुश साहब एक दिन दफ़्तर में आये। नाटे-से कद के युवक थे। मुफ़्तख़ोरे सम्पादकों की बात-चीत में जो विनम्रता और झिझक होती है, वह उनके यहाँ भी थी। मैं ऊपर अपने कमरे में बैठा था। अँग्रेज़ी

---

[1] **मेरे इस सिद्धान्त का केवल एक अपवाद रहा है। जब कभी किसी मेरे मित्र-लेखक ने स्वयं प्रकाशन किया या कोई संकलन करके प्रकाशक से पारिश्रमिक स्वरूप लम्प-सम्प** (lump sum) **नहीं, रायल्टी ली तो अपनी कहानी के पैसे या रायल्टी मैंने कभी नहीं लिये।**

प्रोग्राम के इंचार्ज मिस्टर नौबी क्लार्क यद्यपि परले सिरे के फक्कड़ आदमी थे, लेकिन थे तो अँग्रेज़ और तब अॅग्रेजों का बोलबाला था। सरखुश साहब झिझकते-झिझकते आज्ञा लेकर अन्दर आये और अपना परिचय दिया। मैं उनको जानता था। कृष्ण के कमरे में चोरों की तरह आते और उसके कान में कुछ खुसुर-फुसुर करते मैंने उन्हें देखा था। मैंने कुर्सी पेश की, किन्तु वे बैठे नही। खड़े-खड़े ही उन्होंने कहा कि दिल्ली के मशहूर शायर —अपने स्वर्गीय पिता की याद मे वे 'चमनिस्तान' का आग़ा शायर कज़ल्बाश नम्बर निकालने जा रहे है। कृष्ण ने एक कहानी देने का वायदा किया है। मै भी एक कहानी उन्हें प्रदान करूँ।

मैंने कहा कि मै तो बिना पेशगी पैसे लिये कहानी देता नहीं, लेकिन चूँकि आप बड़े अच्छे उद्देश्य से विशेषांक निकाल रहे है, इसलिए यदि मंटो भी उसमें मुफ़्त कहानी देने को तैयार हो तो मै भी दे दूँगा। कृष्ण तो कभी पैसे लेता नहीं. इसलिए उसके मुफ़्त कहानी देने का अनुकरण मैं नहीं कर सकता

सरखुश साहब ने कहा—"मैंने मंटो साहब से पूछा नहीं, लेकिन मैं उनसे ज़रूर अर्ज़ करूँगा और मुझे पूरा यकीन है कि वे अपना अफ़साना मरहमत फ़रमा देंगे।"[1]

"ठीक ! वह मरहमत फ़रमायेंगे तो मैं भी फ़रमा दूँगा।"

आग़ा सरखुश क्या कहते। चुपचाप 'आदाब' बजाते हुए चले गये। वे एक तरफ़ से गये, मै दूसरी तरफ़ से नीचे पहुँचा। म्यूज़िक रूम में इससे-उससे बातें करता, इस बात की ताक में रहा कि कब वे मंटो के कमरे में जाते हैं। पर वे कृष्ण के कमरे में ऐसे घुसे कि निकलने ही में न आये। तब मै मंटो के कमरे में गया। वह कोई नाटक टाइप कर रहा था। मुझे आते देख उसने सर उठाया।

"आग़ा सरखुश नहीं आये ?" मैंने पूछा।

"सरखुश ?"

---

[1] **मरहमत फ़रमा देंगे = प्रदान कर देंगे।**

'चमनिस्तान के एडीटर, आग़ा शायर कज़लबाश के फरज़न्दे-अर्ज़मंद।'[1] कृष्ण अमूमन[2] उनके रिसाले के लिए कहानियाँ लिखा करता है, लेकिन इस बार वह अपने वालिद बुज़ुर्गवार की याद में रिसाले का ख़ास नम्बर निकाल रहे हैं। मेरे पास कहानी के लिए आये थे। मैं तो बिना पैसे लिये अफ़साना देता नहीं, सो मैंने कहा कि तुम कहानी दो तो मैं भी दे दूँ।"

मैं अभी बात कर ही रहा था कि आग़ा साहब झिझकते हुए दाखिल हुए और उन्होंने अपने आने का उद्देश्य बताया।

"कितने रुपये देंगे?" मंटो ने कहा, "अफ़साना आज ही लिख दूँगा।"

इस पर आग़ा साहब ने खीसें निपोर दीं, "यह नम्बर तो मंटो साहब, मैंने अपने मरहूम वालिद की याद में निकालने का फ़ैसला किया है। वह दिल्ली के मशहूर शायर...."

लेकिन मंटो ने उन्हें बात पूरी न करने दी, "साहब, आप अपने वालिद की याद में नम्बर निकाल रहे हैं मुझे भी कुछ पैसे चाहिएँ कि मैं अपने वालिद की क़ब्र पर कुछ फूल चढ़ाऊँ। और नम्बर नहीं निकाल सकता तो एकाध फलदार दरख़्त ही लगाऊँ।" और मंटो ने कुछ इस तरह आँखें निकालकर उनकी तरफ़ देखा कि वे क्षण भर को भी वहाँ नहीं रुके।

मैं यद्यपि उनके साथ ही बाहर आया, लेकिन फिर उन्हें मुझसे कहानी लेने का साहस नहीं हुआ।

मैं और मंटो हमेशा लड़ते ही नहीं रहे। हमें एक दूसरे के निकट आने का अवसर भी मिला। दिल्ली में तो ख़ैर पहली ही बात ठीक है, लेकिन बम्बई में मंटो ने जब मुझे फ़िल्मिस्तान में सम्वाद-लेखक की हैसियत से बुलाया तो मैं आठ-दस दिन उसी के यहाँ रहा और बाद में जब मैंने इस बात

---

[1] फ़रज़न्दे अर्जमंद-सुपुत्र।

[2] प्रायः

का प्रबन्ध कर लिया कि मंटो और मैं एक यूनिट में काम न करें, हम दोनों कई बार इकट्ठे भी बैठे। इकट्ठे हमने मुखर्जी को शेर और चुटकुले सुनाये। राजा मेहदी अली खां की गप्पे सुनीं और यद्यपि मैंने तो कभी मंटो को अपनी कोई चीज़ नहीं सुनायी, लेकिन मैंने उसकी दो-तीन कहानियाँ उसके मुँह से सुनीं और 'स्वराज्य के लिए' तो उसने मेरे सामने ही लिखी। आधी लिखकर मंटो ने उसे छोड़ दिया और फिर जब दो-तीन महीने बाद उसे समाप्त किया तो उसने सारी कहानी मुझे नये सिरे से सुनायी।

मंटो क्लेयर रोड पर एडल्फ़ी चैम्बर्ज़ में रहता था। दूसरे माले पर उसका फ़्लैट था। इमारत पुराने ढंग की थी, इसलिए उसमें कैडिल रोड या चौपाटी या मैरिन लाइन्ज़ जैसे फ़्लैट न थे। लकड़ी की सीढ़ियाँ एक काफ़ी बड़े कमरे में खुलती थीं जो ड्राइंग रूम और डाइनिंग रूम का काम देता था। एक दूसरा तनिक छोटा कमरा था, जिसमें एक पार्टीशन थी। उसके इस ओर पलंग बिछा था और दूसरी ओर रसोई थी। लकड़ी वाले चूल्हे पर तो बम्बई में बहुत कम खाना बनता है। कोयले की अँगीठी पर सब काम होता है।

सोने के कमरे में सजावट की उतनी गुंजाइश न थी, यद्यपि पलंग और ड्रेसिंग टेबुल सुन्दर थी। लेकिन बाहर का बड़ा कमरा सोफ़ा सेट, मेज़ और कुर्सियों से खूब सजा था। उधर कोने में छोटी-सी खाने की मेज़ थी, जिसके इर्द-गिर्द चार या छः कुर्सियाँ थीं। इस कोने में अलमारी थी, जिसमें मंटो के कपड़े और जूते थे। दायीं ओर दीवार के साथ मेज़ थी, जिस पर हर चीज़ करीने से सजी थी।

मंटो मुझे स्टेशन पर लेने आया था। बम्बई सेण्ट्रल पर फ्रंटियर मेल रुकी। मंटो सेकेण्ड क्लास के आगे ही खड़ा था। उतरते ही उसने मुझे बग़ल में ले लिया। कौशल्या को चूँकि एडमिरल हाउस जाना था, इसलिए उसने वहाँ फ़ोन करके एक पिक-अप मँगाने के लिए कहा। यह जानकर मंटो को कुछ झल्लाहट हुई, किन्तु उसने इसका प्रबन्ध कर दिया। कौशल्या एडमिरल हाउस चली गयी और मैं मंटो के साथ क्लेयर रोड पहुँचा। मैं इसके बाद

दिल्ली नहीं गया। पहले सात-आठ दिन मंटो के यहाँ रहा। फिर केडिल कोर्ट , केडिल रोड पर एक सम्बन्धी के यहाँ उठ गया।

उन सात दिनों में पहली याद बम्बई के मच्छर, मंटो के फ़्लैट के बाहर का शोर और फिर मंटो का सुबह चार बजे उठकर पानी भरना है।

पहली रात मंटो ने मेरा बिस्तर बड़े कमरे में लगा दिया। चारपाइयाँ और पलंग बम्बई में अधिक नही होते। लोग ज़मीन पर सोते है या फ़ोल्डिंग चारपाइयों पर। एक फोल्डिंग चारपाई मंटो ने मेरे लिए बिछवा दी थी। यद्यपि दिसम्बर का महीना था तो भी अन्दर कमरे में गर्मी थी। मुझे बम्बई के जलवायु का ज्ञान न था। दिल्ली में सख़्त सर्दी थी। मै भारी बिस्तर साथ ले गया था। नयी जगह, गर्म लिहाफ़, फ़ोल्डिंग चारपाई और फिर मच्छर ! गयी रात तक मुझे नींद नहीं आयी। उस समय जब मुझे महसूस हुआ कि अभी आँख लगी है कि अन्दर कमरे में खड़खड़ाहट की आवाज़ आने लगी। मैं जग उठा और सोचता रहा कि क्या बात है? कहीं मंटो या भाभी को कोई तकलीफ़ तो नहीं? एक बार उठकर अन्दर के दरवाज़े तक गया भी। फिर वापस आ गया। लगभग आध-एक घंटे तक यह आवाज़ आती रही। मै इतना परेशान हुआ कि दूसरे दिन जब मंटो ने फ़ोल्डिंग चारपाई बिछायी तो मैंने कहा—"यार मुझे नींद नहीं आती। चारपाई बाल्कोनी में लगा दो।"

और मंटो ने चारपाई बाल्कोनी में लगा दी।

परन्तु मुझे नींद तब भी नहीं आयी। अन्दर यदि गर्मी के कारण बेचैनी रही तो बाल्कोनी पर शोर के कारण।— मंटो का मकान सड़क के निकट ही था और बम्बई में इधर आधी रात तक मोटरें, बसें, ट्रामें घड़घड़ाती रहती हैं और उधर सुबह तड़के उनका शोर शुरू हो जाता है। मेरी नींद ख़ासी कच्ची है। काग़ज़ की खड़खड़ाहट भी उसमें बाधा डालने के लिए यथेष्ट हैं। मैं रात को कई बार जागा और जब भी मेरी आँख खुली, मैंने किसी-न-किसी बस, ट्राम या मोटर को रात के सन्नाटे को अपने शोर से तोड़ते पाया। फिर न जाने किस तरह आँख लगी। जब उठा तो रात का

आख़िरी पहर था। हवा में ठंडक थी। अन्दर रसोई में फिर पहली रात की तरह खड़खड़ाहट की आवाज़ आ रही थी। सोचने लगा, क्या बात है? ज़रूर किसी को कोई तकलीफ़ है। लेकिन तकलीफ़ होती तो उसके लक्षण भाभी या मंटो के चेहरे से प्रकट होते। इसलिए उठकर पूछ-ताछ करने का संकल्प छोड़ चुपचाप लेटा रहा। जब तक वह आवाज़ आती रही, मैं नहीं सो पाया। फिर अभी आँख लगी ही थी कि शायद पहली ट्राम क्लेयर रोड के वासियों को प्रभात के आगमन की सूचना देती हुई कहीं पास से निकल गयी और फिर सोना कठिन हो गया। सुबह उठा तो लगा मानो शरीर को किसी ने ओखली में रखकर कूट दिया है।

नाश्ते के समय मैंने मंटो से पूछा कि यार सुबह क्या बात थी? क्या तुम उठे थे? मंटो ने एक बड़ी सी गाली देते हुए कहा, "पानी सुबह ही आता है। जब हम लोग उठते हैं तो ऊपर की मंज़िल होने की वजह से उसकी बूँद भी नहीं आती, इसलिए मैं सुबह चार बजे उठकर दिन भर की ज़रूरत का पानी भर लेता हूँ।"—और मैं जितने दिन वहाँ रहा, यद्यपि ट्रामों और बसों की आवाज़ों का आदी हो गया, लेकिन जब मंटो सुबह चार बजे उठकर पानी भरता तो एक बार अवश्य मेरी आँख खुल जाती।

उन सात दिनों की याद के रूप में दूसरी बात जो मेरे दिमाग़ में सुरक्षित है, वह मंटो का दस्तरख़्वान[1] है।—वैसे तो वह मेज़ अंग्रेज़ी ढंग की थी, किन्तु खाने का ढंग बिल्कुल देसी था। छुरी-काँटे वहाँ नहीं थे। ज़मीन पर बैठने की बजाय कुर्सियों पर बैठते थे और बस। सफ़िया भाभी के हाथों के पकाये तरतराते पराठों और सालनों की याद मैं कभी नहीं भूल सकता। मंटो बहुत कम खाता था। अधिक पीने के कारण शायद उसकी भूख कम हो गयी थी, लेकिन घर में हो या स्टुडियो में, खाना उसके यहाँ का बहुत अच्छा और स्वादिष्ट होता था। यद्यपि मेरा मेदा ख़राब नहीं, लेकिन

---

[1] **खाने का कपड़ा=मुसलमान ज़मीन पर कपड़ा बिछा लेते हैं और सब मिलकर इकट्ठे खाना खाते हैं।**

उन दिनों मुझे वहम था कि वह ख़राब है और मैं इस बात का विशेष ध्यान रखता था कि अधिक न खा जाऊँ। लेकिन इस सावधानी के बावजूद, मुझे विश्वास है, मैंने हमेशा अधिक खाया।

उन सात दिनों की तीसरी याद यह है कि घर में शायद ही मंटो कभी साहित्य के बारे में बात करता था। दूसरों का अनुभव क्या है, मैं यह नहीं जानता, लेकिन मैंने कभी उसे सफ़िया भाभी से अपनी किसी कहानी या नाटक की बात करते नहीं देखा। मंटो घर में चुप रहता हो, यह बात नहीं। इधर-उधर की बीसियों बातें, मज़ाक, चुटकुले उसके मुँह से झड़ते रहते। मज़ाक, जिनमें व्यंग्य होता, बातें—जिनसे और बातें निकलतीं और जिनका साहित्य से दूर का भी लगाव न होता. . . .और मैं सोचा करता, इतनी ऊपरी और सतही बातें करने वाला किस तरह 'नया कानून' और 'हतक' जैसी गहरी कहानियाँ लिख सकता है। लेकिन जिस प्रकार रूसी कथाकार चेखव के बारे में प्रसिद्ध है कि वह दुनिया भर की बातें करता था, किन्तु अपने साहित्य की बात आने पर टाल जाता था, उसी प्रकार मंटो भी अपने साहित्य की संगीनी[1] को अपने हास्य में छिपाये रखता था—उस समुद्र की तरह जिसके सीने में भयानक तूफान उठते हों, लेकिन सतह पर हल्की-हल्की लहरों के छींटों के सिवा कुछ दिखायी न देता हो।

मंटो अपनी इंसानियत और इंसान-दोस्ती को इसी तरह अपनी बेतुकी टेढ़ी-बेंगी बातों, निम्नकोटि के चुटकुलों, गालियों और शराबनोशी में छिपाये रखता था। मुझे व्यक्तिगत झगड़ों के कारण मंटो से कई बार नफ़रत हुई, लेकिन मैंने जब उसकी कहानियाँ पढ़ीं, मैं हमेशा उसकी ओर खिंचा। मंटो को अपनी कहानियों की तेकनीक पर नाज़ था। कृष्ण ने लिखा है—"मंटो अपनी कहानियों का लिबास नफ़ासत से तैयार करता है, उनमें कहीं झोल नहीं आता, कहीं कच्चे टाँके नहीं होते—इस्त्री किये हुए साफ़-

---

[1] संगीनी = ठोसपन।

सुथरे अफ़साने, ज़बान मँझी, सलीस[१] और सादा! ....'' लेकिन मुझे मंटो की कहानियाँ तेकनीक के इस कमाल के कारण अच्छी न लगती थीं। कोई समय था जब मुझे मॉपासां की कहानियाँ पसन्द आती थीं, लेकिन जैसे-जैसे चेतना में परिपक्वता आती गयी, मालूम होता गया कि उन कहानियों की तेकनीक के कमाल में वास्तव में बनावट छिपी है। और जब वैसी दस-बीस कहानियाँ एक साथ पढ़ीं तो वह बनावट, जो कहानी के अन्त में निहित रहती है, खलने लगी। तब मैंने चेखव को पढ़ा और महसूस हुआ कि उसकी कहानियाँ मॉपासाँ, मॉम या ओ-हनरी की तेकनीक से सर्वथा वंचित होते हुए भी कहीं अधिक प्रभावशाली हैं। कहानी समाप्त करने पर मालूम ही नहीं होता कि हमने कहानी पढ़ी है। मैं नहीं जानता, मंटो पर चेखव का प्रभाव था या नही, लेकिन एक ओर गोर्की और दूसरी ओर मॉम और उसके सहारे मॉपासाँ का प्रभाव उस पर अवश्य था। लेकिन इसके बावजूद उसकी तेकनीक उसकी अपनी थी। गोर्की से उसने मानव-प्रेम और पद-दलित लोगों के प्रति स्नेह और प्रगतिशील दृष्टिकोण लिया और मॉम या मॉपासाँ से तेकनीक का कमाल। मंटो यदि जीवित रहेगा तो तेकनीक के इस कमाल के कारण नहीं, बल्कि उस मानव-प्रेम के कारण जो उसकी कहानियों की नस-नस में रचा हुआ है। तेकनीक का वह कमाल, जिसका उसे ज़ोम था और जिसका उल्लेख कृष्ण ने किया है, उसकी कहानियों को कमज़ोर कर देता है। मिसाल के तौर पर मंटो की तीन प्रसिद्ध कहानियाँ लें—'हतक', 'स्वराज्य के लिए' और 'नंगी आवाज़ें'। तीनों मुझे अच्छी लगीं। तीनों का दृष्टिकोण प्रगतिशील है और तीनों में मंटो का असीम मानव-प्रेम निहित है, लेकिन तीनों का अन्त मेरे निकट बनावटी है।

'हतक' ही को लीजिए—'हतक' इसलिए महान नहीं कि मॉपासाँ की कहानी 'नेक्लस' की तरह उसका अन्त महान है। 'नेक्लस' की वह अन्तिम

---

[१] सलीस = सुगम, प्रवहमान।

पंक्ति काट दीजिए, कहानी रेत की दीवार-सी ढह जायेगी। लेकिन 'हतक' में यह बात नहीं। जब सेठ सुगंधी को नापसन्द करके, विरक्ति की एक 'उँह' करता हुआ मोटर दौड़ा ले जाता है और सुगंधी चौंकती है, उसके भीतर की नारी चौंकती है--नारी, जो अक्षुण्ण रही है--तो उसके बाद कहानी कहीं भी समाप्त हो सकती है।

इसलिए सुगंधी घर आकर जब माधो को देखती है तो उस अत्यधिक गुस्से के बाद, जिसे मंटो ने चार पृष्ठों में बयान किया है, एक कठोर वाक्य, गाली या 'उँह' जैसी ही कोई अपमानजनक बात काफ़ी थी। वह उसे कमरे से बाहर कर, उसके मुँह पर थूक, दरवाज़ा बन्द करते हुए उसे उसी तरह आश्चर्य-चकित छोड़ सकती थी, जैसे वह सेठ उसे छोड़ गया था। यह अन्त मॉम या मॉपासाँ की कहानी का-सा होता, लेकिन मंटो मॉम या मॉपासाँ नहीं। उसे नाटकीय अन्त पसन्द है। इसलिए सुगंधी बारी-बारी एक-एक तस्वीर उतारकर नीचे बाज़ार में फेंकती है (यद्यपि यथार्थ जीवन में पहली तस्वीर ही दो मंज़िल ऊपर से किसी के सिर पर गिरकर सारा मामला गुड़-गोबर कर सकती थी।)

सुगंधी को पता न था कि माधो उसके यहाँ बैठा है। मालूम होता तो वह उससे बदला लेने की स्कीम बनाती--कि वह पहले उसके केस की बात पूछेगी, फिर उसकी तस्वीर बाहर फेंकेगी, फिर उसका मज़ाक उड़ाते हुए उसे बाहर निकालेगी। (मंटो ने यह सारी योजना अपने दिमाग़ में बना ली थी, बिल्कुल उसी तरह जैसे 'ख़ुशिया' में) सुगंधी के दिमाग़ में यह स्कीम न थी, लेकिन वह उसी तरह करती गयी, जैसे लेखक ने चाहा कि वह करे। यथार्थ जीवन में जब क्रोध अपनी चरम-सीमा पर होता है, इस तरह फैलकर नहीं निकलता। फैलने और स्कीम बनाने के लिए वक्त चाहिए।

लेकिन अन्त की इस कमज़ोरी के बावजूद, 'हतक' की महानता में सन्देह नहीं और वह महानता उसके कण्टेण्ट (वस्तु) की महानता है। दो-तीन वर्ष पहले इलाहाबाद के प्रगतिशील लेखकों की एक मीटिंग में उर्दू के प्रगतिशील आलोचक मुमताज़ हुसेन ने जब 'हतक' के

खिलाफ़ यह फ़तवा दिया कि यह कहानी प्रगतिशील नहीं तो मैंने विरोध किया था। 'हतक' कृष्णचन्द्र द्वारा संकलित 'नये ज़ाविये' के पहले भाग में प्रकाशित हुई थी और प्रगतिशील कहानियों में ऊँची समझी गयी थी। एक समय जो चीज़ प्रगतिशील समझी जाय, वह दूसरे समय प्रतिक्रियावादी कैसे हो सकती है, यह बात मेरी समझ में नहीं आयी—मुमताज़ हुसेन के समझाने के बावजूद......सुगंधी जब घर की ओर लौटती है तो सोचती है:

> "उसे केवल मेरा रूप पसन्द नहीं आया—नहीं आया तो क्या हुआ ?—मुझे भी तो कई आदमियों की शक्ल पसन्द नहीं आती—वह जो अमावस की रात को आया था, कितनी बुरी सूरत थी उसकी—क्या मैंने नाक-भौं नहीं चढ़ायी थी ? जब वह मेरे साथ सोने लगा था तो मुझे घिन नहीं आयी थी—क्या मुझे उबकाई आते-आते नहीं रुक गयी थी—ठीक है, पर सुगंधी, तूने उसे धतकारा नहीं था, तूने उसे ठुकराया नहीं था...."

ठुकराया नहीं था, इसलिए कि वह ठुकरा न सकती थी, वह गन्दे-से-गन्दे मर्द के हाथ में भी अपना तन बेचने को मजबूर थी और इसलिए उसे न अपने आप पर गुस्सा था, न रामलाल पर, बल्कि सेठ पर गुस्सा था (और यह गुस्सा वही है जो लेखक को है। लेखक सुगंधी और रामलाल को इस महाजनी दौर का शिकार समझता है, इसलिए उन्हें बेबस और लाचार समझता है और उनके दर्द-व-ग़म से वह तिलमिलाता है और उस सेठ के ख़िलाफ़ अपना सारा क्रोध प्रगट करता है, क्योंकि वह उसे इस सभ्यता का प्रतीक समझता है।)

'हतक' का यह पैरा कहानी को मनुष्य की ज़बरदस्त ट्रेजेडी बना देता है। जब तक यह व्यवस्था रहेगी, जिसमें नारी का इस प्रकार अपमान होता रहेगा, वह अपना तन चन्द सिक्कों के बदले गन्दे-से-गन्दे पुरुष के

हाथ बेचने को मजबूर रहेगी, 'हतक' की प्रगतिशीलता बनी रहेगी—कच्चे प्रगतिशील आलोचकों के फ़तवों के बावजूद! यह व्यवस्था बदल जायेगी तो 'हतक' एक ऐतिहासिक रूप धारण कर लेगी, जिसे भावी पीढ़ियाँ बर्बरता और अत्याचार की स्मृति के रूप में पढ़ा करेंगी।

'स्वराज्य के लिए' का आधारभूत विचार भी मनुष्य के अस्वाभाविक संकल्पों और उसके ढोंग के ख़िलाफ़ एक व्यंग्य है। मंटो ने उस ढोंग की पोल बड़ी कुशलता से खोली है। उसकी एक-एक परत उधेड़कर रख दी है, किन्तु इस कहानी का भी अन्त कमजोर है। यह इशारा कि शहज़ादा ग़ुलाम अली एक स्वाभाविक क्रिया को जिस अस्वाभाविक ढंग से करता रहा, उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उसने रबर की चीज़ें न बेचने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली, अपनी जगह काफ़ी है और मंटो जिस बात की ओर संकेत करना चाहता है, वह भली-भाँति उजागर हो जाती है। लेकिन मंटो इसी पर बस नहीं करता। जिस प्रकार सुगंधी को उसने गुस्से में सनकी बना दिया, उसी तरह शहज़ादा ग़ुलाम अली को 'नार्मल' इंसान बनाते-बनाते, वह सनकी बना देता है और उस कहानी का अन्त इस प्रकार करता है :—

> "ग़ुलाम अली इसके आगे भी कुछ कहने वाला था कि उसका नौकर अन्दर दाख़िल हुआ। उसकी गोद में शायद ग़ुलाम अली का दूसरा बच्चा था, जिसके हाथ में एक ख़ुशनुमा बैलून था। ग़ुलाम अली दीवानों की तरह उस पर झपटा—पटाख़े की-सी आवाज़ आयी—बैलून फट गया और बच्चे के हाथ में धागे के साथ रबर का एक छोटा-सा टुकड़ा लटकता रह गया—ग़ुलाम अली ने दो उँगलियों से उस टुकड़े को छीन कर यों फेंका गोया वह कोई गन्दी चीज़ हो।"

और यह अन्त कहानी को हल्का-सा अशोभन बना देता है और अनावश्यक है। ग़ुलाम अली को रबर की जिस चीज़ से घृणा थी, उसकी ओर मंटो ने पाठक का ध्यान पहले ही इस बात की चर्चा करके आकृष्ट कर दिया

है कि वह रबर की चीजें नहीं बेचता। रबर के गुब्बारे को देखते ही उस पर उसका झपटना स्वाभाविक नहीं। यदि यह स्पष्ट संकेत देना आवश्यक था तो पहले संकेत की आवश्यकता नहीं थी। पहले संकेत के बाद वह दूसरा संकेत कहानी को कमज़ोर और शहज़ादा ग़ुलाम अली को सनकी बना देता है।

लेकिन इस कमज़ोरी के बावजूद यह कहानी मंटो की कहानियों में एक विशिष्ट स्थान रखती है। मूल-विचार को उजागर करने के साथ-साथ मंटो ने उस समय के राजनैतिक जीवन का ऐसा यथार्थ चित्र 'स्वराज्य के लिए' में खींचा है कि बरबस प्रशंसा करनेकी इच्छा होती है। शहज़ादा ग़ुलाम अली कोई यथार्थ चरित्र है या नहीं ? इस सम्बन्ध में विश्वास के साथ मैं कुछ नहीं कह सकता। लेकिन मंटो ने जिस दिन यह कहानी लिखनी शुरू की उससे कुछ दिन पहले यह समाचार मोटे अक्षरों में छपा था कि महात्मा गांधी ने अपने आश्रम में एक जोड़े की शादी अपने हाथों सरंजाम दी और उस जोड़े ने विवाह के बन्धन में बँधने के बाद यह एलान किया कि जब तक भारत स्वतन्त्र न होगा, वे मित्रों की तरह रहेंगे—मुझे याद नहीं कि मंटो ने उस समाचार को पढ़कर क्या कहा था। वह व्यंग्य से मुस्कराया था और इस मूर्खता पर उसने कोई गाली उस जोड़े को दी थी। इसके कुछ दिन बाद ही उसने यह कहानी शुरू कर दी थी।

इस कहानी के आधारभूत-विचार पर मंटो पहले भी एक कहानी 'पाँच दिन' के नाम से लिख चुका था। 'पाँच दिन' में प्रोफ़ेसर कहता है—प्रोफ़ेसर जो अपनी छात्राओं को अपनी बच्चियाँ समझता था—

> **"मैं एक झूठ हूँ, बहुत बड़ा झूठ—मेरी सारी ज़िन्दगी अपने आपसे झूठ बोलने और फिर उसे सच बनाने में गुज़री है—उफ़ कितना तकलीफ़देह, ग़ैर फ़ितरी (अस्वाभाविक) और ग़ैर-इंसानी काम था! मैंने एक ख़्वाहिश को मारा था, लेकिन मुझे यह मालूम न था कि इस क़त्ल के बाद मुझे और**

**बहुत-से ख़ून करने पड़ेंगे। मैं समझता था, एक मसाम (लोम रंध्र) को बन्द कर देने से क्या होगा, लेकिन मुझे इसकी ख़बर न थी कि मुझे अपने जिस्म के सारे दरवाज़े बन्द कर देने पड़ेंगे।"**

इसी आधारभूत-विचार को और भी उभारकर मंटो ने 'स्वराज्य के लिए' में बयान किया है। महात्मा गांधी ने अपनी जीवनी में लिखा है कि जब उनके पिता बीमार थे, वे अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ आनन्द ले रहे थे। आश्चर्य है, इस तथ्य को जानने के बावजूद, उन्होंने क्यों दूसरों के लिए स्वाभाविक रास्तों को बन्द करना उचित समझा। उन्होंने अपने एक बेटे को आज्ञा दी (जो उनके एक मित्र की पुत्री को चाहता था।) कि यदि तुम पाँच वर्ष बाद भी इस लड़की को चाहोगे तो तुम्हारा विवाह कर दिया जायेगा और उन्होंने अपने बेटे को किसी दूर-दराज़ इलाके में आज़ादी की लड़ाई लड़ने को भेज दिया। एक दूसरे आश्रमवासी जोड़े में जब प्रेम हुआ और उन्होंने महात्मा गांधी का आशीर्वाद चाहा तो महात्मा गांधी ने वही पाँच साल की क़ैद लगा दी कि आज़ादी के यज्ञ में पाँच साल तक अपनी भावनाओं की आहुति देने के बाद भी, यदि तुम दृढ़ रहे तो मैं अपने हाथों तुम्हारा विवाह कर दूँगा।

उनके बेटे पाँच वर्ष तक दृढ़ रहे और महात्मा गांधी ने उनको अपनी प्रेमिका से विवाह की अनुमति दे दी। दूसरे भक्त यह क़ैद सहन न कर सके और वे अपनी प्रेमिका के साथ भाग गये।

मंटो को इन घटनाओं का ज्ञान न था, नहीं तो मुझे विश्वास है कि वह उन पर भी 'स्वराज्य के लिए' जैसी व्यंग्यात्मक कहानियाँ लिखता। जैसा कि मैं उसे जानता हूँ, पहली कहानी में महात्मा गांधी (या उनके स्थान पर कोई भी आध्यात्मिक या राजनैतिक गुरु) के इस फ़ैसले के बाद वह दिखाता कि नौजवान पाँच वर्ष उस लड़की से प्रेम किये जाता है, क्योंकि प्रेम तृष्णा से पलता है। छठे वर्ष जब उसका विवाह हो जाता है और वह उस युवती

को आध्यात्मिक आँखो से नहीं, वास्तविक आँखों से देखता है तो वह उससे घृणा करने लगता है।— दूसरी घटना पर वह शायद कहानी लिखना पसन्द न करता या ज्यों-का-त्यों उसे लिख देता और दोनों आश्रमवासियों को भगा देता कि यह प्रकृति के सर्वथा अनकूल है।

न जाने महात्मा गांधी में यह यन्त्रणा-प्रियता (Sadism) क्यों थी। अपनी जवानी की याद करते समय वे दूसरों की जवानी की बात क्यों भूल जाते थे। लेकिन वे शायद जनता के मनोविज्ञान के बहुत बड़े पंडित थे और भारतीय जनता के हृदय को किस तरह जीता जा सकता था, इसे वे भली-भाँति जानते थे—किन्तु मंटो राजनीतिज्ञ नहीं था और वह जहाँ कहीं मनुष्य की प्राकृतिक भावनाओं का ख़ून होते देखता था, तिलमिला उठता था। 'स्वराज्य के लिए' में उसकी तिलमिलाहट देखिए। शहज़ादा ग़ुलाम अली के मुँह से वह कहलवाता है :—

> "दुनिया में इतने सुधारक पैदा हुए हैं, उनकी शिक्षा को लोग भूल चुके हैं। लेकिन सलीबें (क्रास) धागे, यज्ञोपवीत डाढ़ियाँ, कड़े ओर बग़लों के बाल रह गये हैं—एक हज़ार बरस पहले जो लोग यहाँ बसते थे, हम उनसे ज्यादा तजरुबेकार हैं। मेरी समझ में नहीं आता आज के सुधारक क्यों ख़याल नहीं करते कि वे इंसान की सूरत बिगाड़ रहे हैं। मन में कई बार आती है कि बुलन्द आवाज़ में चिल्लाना शुरू कर दूँ—ख़ुदा के लिए इंसान को इंसान रहने दो। उसकी सूरत तुम बिगाड़ चुके हो, ठीक है—अब उसके हाल पर रहम करो—तुम उसको ख़ुदा बनाने की कोशिश करते हो, लेकिन वह ग़रीब अपनी इंसानियत भी खो रहा है...नफ़्स को (काम को) हज़ारों में एक दो आदमी मारेंगे। सबने काम को भस्म कर दिया तो मैं पूछता हूँ यह कुश्ता (भस्म) किस काम आयेगा?"

और ज्यों ही मनुष्य की इन आधारभूत-भावनाओं को मंटो

अपनी इस कहानी में उजागर करता है, कहानी महानता प्राप्त कर लेती है।

'नंगी आवाज़ें' का अन्त भी 'हतक' और 'स्वराज्य के लिए' के अन्त से भिन्न नहीं। कहानी का आधारभूत-विचार भी 'हतक' की भाँति मनुष्य की एक दूसरी ट्रेजेडी है। एक लम्बी छत पर भारत से आने वाले मुसलमान शरणार्थी अपनी-अपनी चारपाइयों के गिर्द टाट बाँधकर याने अपनी ओर से पर्दा करके सोते हैं। लेकिन उनके दायें-बायें विवाहित और अविवाहित लोगों के सोने से उन कुँआरों पर क्या बीतती है, जो इस प्रकार सोने पर विवश हैं, इसी का ख़ाका मंटो ने इस कहानी में खींचा है। 'नंगी आवाज़ें' का भोलू भी खुशिया की भाँति भावुक है। क्योंकि भावुक न होता तो उसे उस वातावरण में अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ सोने में किसी प्रकार का संकोच न होता। (स्पष्ट है कि खुशिया की तरह भोलू की काया में भी मंटो ने अपनी निजी भावुकता को डाल दिया है।) लेकिन कहानी वहीं समाप्त हो जाती है, जहाँ भोलू की भाभी अपने देवर की तकलीफ़ का ठीक निदान न कर अपने पति से कहती है कि वह (भोलू) औरत के काम का नहीं है। कहानी की ट्रेजेडी वहाँ पूर्ण हो जाती है। मॉपासाँ इसके बाद एक शब्द भी लिखना पाप समझता। लेकिन मंटो मॉपासाँ नहीं। वह अपना गुस्सा इस तरह काबू में नहीं रख सकता और इसलिए जहाँ उसने सुगंधी और शहज़ादा ग़ुलाम अली को गुस्से में अर्ध-विक्षिप्त दिखाया था, वहाँ भोलू को बिलकुल पागल बना दिया—भोलू क्रोध की इस सीमा पर पहुँचकर कोठे पर लगे हुए टाटों को उखाड़ने पर ही संतोष नहीं करता, बल्कि सिर पर कल्लन के बाँस की चोट खाकर बिलकुल पागल हो जाता है और मंटो इस कहानी को यों समाप्त करता है :—

> **अब वह अलिफ़ नंगा बाज़ारों में घूमता फिरता है। कहीं टाट लटकता देखता है तो उसको उतारकर टुकड़े-टुकड़े कर देता है।**

लेकिन अन्त की इस कमज़ोरी के बावजूद इस कहानी का दर्द मंटो की एक दूसरी कहानी 'शरीफ़न' की भाँति चिरस्मरणीय है। मंटो को गुस्सा है--बेपनाह गुस्सा कि मनुष्य जो अनुभूति की दौलत से मालामाल है, क्यों पशुओं की तरह जीवन बिताने को विवश है। और जब मंटो को क्रोध आये तो उसे नियंत्रण में रखना उसके लिए कठिन हो जाता है। और इसी क्रोध में वह अनेक बार कहानी की कला को भूल कर सनकी हो जाता है। 'हतक' 'स्वराज्य के लिए' और 'नंगी आवाज़ें' के ये एक जैसे अन्त उसके इसी असीम क्रोध के द्योतक है, लेकिन शायद इसी क्रोध के कारण इन कहानियों में वह दर्दमन्दी आ गयी है जो इन्हें अमर बनाती है।

मंटो अपने गुस्से में हमेशा तेकनीक को भूल जाता हो, यह बात नही। 'शरीफ़न' में उसका गुस्सा और दर्दमन्दी वही है और तेकनीक सिर से पैर तक दुरुस्त है। पंजाब के दंगों और बर्बरता को देखकर हर कोई यह प्रश्न करता है कि यह कैसे हुआ ? कैसे सभ्य लोग, एक दूसरे को चाहने वाले, एक दूसरे को प्यार करने वाले, एक साथ खाने-पीने और रहने वाले इतने बर्बर हो गये कि जिन्हें वे अपनी माएँ और बहनें समझते थे, उन्हीं की लाज लूटने पर उतारू हो गये ? मंटो ने शरीफ़न में इसका जवाब दिया है और कहानी की अन्तिम पंक्ति लोहे की गर्म सलाख़ की तरह दिल और दिमाग़ पर हमेशा के लिए अपना निशान छोड़ जाती है।

मैं मंटो की कहानियों को हमेशा पसन्द करता रहा हूँ। उसके गुस्से और झुँझलाहट के प्रति मेरे मन में सदैव सहानुभूति रही है। यद्यपि 'इंसान' के बारे में उसके दृष्टिकोण से मैं सहमत नहीं रहा। मंटो महात्मा गांधी, बुद्ध या ईसामसीह पर व्यंग्य कर सकता है, मैं उसके व्यंग्य को पसन्द भी कर सकता हूँ, लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि स्वयं भी वह व्यंग्य करना पसन्द करूँ। जब मंटो मानव की मूल-भावनाओं का चित्रण करता है तो वह ग़लत नहीं करता, क्योंकि हमारी पाशविकता, कच्ची मानवता, हमारी ग्रंथियाँ, हमारे परवर्शन्ज़ और हमारे चरित्र की दुर्बलताओं को दिखाना ग़लत नहीं।

लेकिन जब वह उनका ख़ाका खींचता हुआ (कहीं-कहीं) उन परवर्शन्ज़ को उचित समझता है और मनुष्य की मूल भावनाओं पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध पसन्द नहीं करता और चाहता है कि उसकी मूल भावनाओं को खुल खेलने का मौक़ा देना ही उसे मनुष्य बनाये रखना है (मंटो की कई कहानियाँ—'मम्मी, 'पढ़िये कलमा'—आदि इस बात का उदाहरण हैं।) तो मेरी राय में वह ग़लती पर है। मनुष्य की मूल-भावनाएँ वही हैं जो उसके पूर्वजों की ! मूल रूप में वह पशु है और यही कारण है कि जब सभ्यता और संस्कृति के प्रतिबंध उसकी इन मूल-भावनाओं के ऊपर से हट जाते हैं तो वह अपने यथार्थ रूप में सामने आ जाता है—स्वार्थी, अहंकारी, नीच लोलुप, क्रोधी, कामुक, पशु—अपनी इन मूल-भावनाओं को दबाकर या उन्हें सुधारकर ही वह मानव बना है। जिस चीज़ को आज हम मानवता कहते हैं—जो बर्बरता का उलट है—उसे उस पशु ने (जिसे हम आज मनुष्य कहते हैं) सदियों के परिश्रम से प्राप्त किया है और उसकी प्राप्ति में उन असंख्य अवतारों, विचारकों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों और कवियों का हाथ है, जिन्होंने अपनी मूल-भावनाओं के बावजूद विचार और कर्म के वे मार्ग निकाले, जिन पर चलकर वह पशु मनुष्य बना—मंटो मानवता का पुजारी है, इसलिए जब वह मनुष्यों को पशुओं जैसे काम करते देखता है तो तिलमिला उठता है। लेकिन मनुष्य क्यों ऐसा करते हैं, उसे किस पर गुस्सा करना चाहिए, किस पर अपनी कलम का वार करना चाहिए, उसे मालूम नहीं। अली सरदार जाफ़री ने 'चुग़द' की भूमिका में मंटो के पात्रों पर लिखते हुए उसके क्रोध का अच्छा विश्लेषण किया है।

> **"ये (मंटो ने जिन चरित्रों का ख़ाका अपनी कहानियों में खींचा है) कभी इंसान थे या इनमें इंसान बनने की क्षमता थी, लेकिन इस समाज ने, जिसकी नींव लूट-खसूट पर रखी है, इन सब को जानवर बना दिया। वे जानवर, जिनकी सूरतें इंसानों की-सी हैं, लेकिन जो फिर भी इंसान नहीं हैं। मंटो**

झुंझला उठता है, वह उनकी रूह के अन्दर झाँककर देखता है और उसे यह देखकर हैरत होती है कि उनके सीनों के अन्दर इंसानी दिल धड़क रहे हैं।

"लेकिन इसी समाज ने दूसरे चरित्र भी पैदा किये हैं। वे जो अपनी खोयी हुई इंसानियत को प्राप्त करने के लिए संघर्ष-रत हैं। उनके चेहरे भी इंसानों के-से हैं, उनकी रूह भी इंसानों की-सी है और उनके दिल भी। संघर्ष ने उनकी दौलत उन्हें वापस दे दी है, लेकिन मंटो उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।

यही कारण है कि वह साहित्यिक आतंकवाद (Literary Terrorism) पर उतर आता है और अगर उसका बस चले तो वह राजनीतिक आतंकवाद पर भी उतर आये। अपने संग्रह 'मंटो के अफ़साने' की भूमिका में वह लिखता है :—

"जब मेरे हाथ में पिस्तौल होगा और दिल में धड़का न रहेगा कि यह आप से आप चल जायगा तो मैं इसे लहराता हुआ निकल जाऊँगा और अपने असली दुश्मन को पहचानकर या तो सारी गोलियाँ उसके सीने में ख़ाली कर दूँगा या ख़ुद छलनी हो जाऊँगा। इस मौत पर जब कोई नक़्क़ाद (आलोचक) कहेगा कि यह पागल था तो मेरी रूह उन शब्दों को ही सबसे बड़ा तमग़ा समझकर उठा लेगी।"

लेकिन मंटो को यह मालूम नहीं कि इंसान का सब से बड़ा दुश्मन ख़ुद इंसान याने उसकी पाशविक वृत्तियाँ हैं, जिन्होंने प्रकटतः इस युग में पूँजीवाद का रूप धारण कर लिया है, लेकिन जो वास्तव में सदा उसके अन्दर से बाहर निकलने को खलबली मचाती रहती हैं। मनुष्य को अपने पूर्वजों की तरह हमेशा उनसे लड़ते रहना है। एक व्यक्ति के सीने में पिस्तौल की सारी गोलियाँ ख़त्म करने से उस दुश्मन का नाश नहीं हो सकता। यह

लड़ाई अनादिकाल से चल रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी। मनुष्य एक व्यवस्था के बाद दूसरी व्यवस्था बदलता रहेगा और अन्त में या तो अपनी पाशविकता को ख़त्म करके देवता बन जायेगा या स्वयं नष्ट हो जायगा—लेकिन जब तक दोनों में से एक चीज़ नहीं हो जाती, वह इंसान बनने की कोशिश करता रहेगा, यह निश्चित है। अली सरदार जाफ़री ने ठीक ही लिखा है :—

> **"मंटो अपने असली दुश्मन को नहीं पहचानता और खाली हवा में वार करता है, जिसकी चोट किसी पर नहीं पड़ती, इसलिए आतंकवाद अपने अन्तिम विश्लेषण में स्वयं इंसान के विरुद्ध जा पड़ता है, उस इंसान के विरुद्ध, जिससे कि मंटो को बेपनाह मुहब्बत है।"**

लेकिन मंटो की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में उसका मानव-प्रेम और मानव के प्रति उसका स्नेह और सहानुभूति अपनी चरम-सीमा पर है। उपरोक्त उद्धरण पढ़कर उसने कहा होगा—'अली सरदार मसख़रा है, इंसानी दिल की उन तारीकियों का उसे पता नहीं, जिनका पता मैंने मुद्दत हुई पा लिया है।' अफ़सोस इसी बात का है कि इन तारीकियों का पता पाने के बाद, वह उनसे लड़ता हुआ जिया नहीं बल्कि अपने ग़म को शराब की भेंट कर, लगभग आत्महत्या करके मर गया।

फ़िल्मिस्तान की दो वर्ष की नौकरी में चौदह पन्द्रह-हज़ार रुपया मैंने इकट्ठा कर लिया था। इरादा था हिन्दी-उर्दू दोनों में प्रकाशन का काम शुरू करूँगा। मंटो और मैं दोनों फ़िल्मिस्तान से अलग हो रहे थे। एक दिन मैंने उससे कहा, "मैं पब्लिशिंग शुरू करूँगा तो तुम्हारी तीस बेहतरीन कहानियाँ छापूँगा। कितने फ़ी-सदी रायल्टी लोगे?"

"रायल्टी-वायल्टी छोड़ो।" मंटो बोला, "तुम पाँच सौ नकद आज दे दो। फिर चाहे क़ियामत तक कहानियाँ छापते रहो।"

मैं मंटो की कहानियाँ अवश्य प्रकाशित करता, लेकिन कुछ ही दिन बाद

में बीमार हो गया। डाक्टरों ने टी० बी० का फ़तवा दिया और मैं लाहौर जाने के बदले पंचगनी के बेल-एयर सेनेटोरियम में चला गया। पिछले पाँच वर्ष से मैं इस कोशिश में हूँ कि मंटो से किया हुआ अपना वायदा पूरा करूँ पर अभी तक सफल नहीं हो सका, यद्यपि कहानियाँ अनुवाद करायी पड़ी हैं। मंटो इतनी जल्दी दोस्ती या दुश्मनी छोड़कर चल देगा, यदि मुझे यह मालूम होता तो मै अपनी पुस्तकें छोड़ पहले उसकी प्रतिनिधि कहानियों का संग्रह हिन्दी में प्रकाशित कर देता।

मंटो ने एक जगह लिखा है :—

**बचपन और लड़कपन में मैंने जो कुछ चाहा, वह पूरा न होने दिया गया। यों कहो कि मेरी इच्छाएँ कुछ इस तरह पूरी की गयीं कि उनकी पूर्ति मेरे आँसुओं और मेरी हिचकियों में लिपटी हुई थी। मैं शुरू से ही जल्दबाज़, भावुक और तुनक-मिज़ाज रहा हूँ। यदि मेरा जो कोई मिठाई खाने को चाहा है और वह चाह ठीक समय पर पूरी नहीं हुई तो मेरे लिए उस ख़ास मिठाई में कोई स्वाद नहीं रहा। इन बातों के कारण मैंने हमेशा अपने गले में एक कड़वाहट-सी महसूस की है और इस कड़वाहट की शिद्दत बढ़ाने में इस कष्टप्रद वास्तविकता का हाथ है कि मैंने जिससे मुहब्बत की, जिसको अपने दिल में जगह दी, उसने न सिर्फ़ मेरी भावनाओं को चोट पहुँचायी, बल्कि मेरी इस कमज़ोरी (मुहब्बत) का अनुचित लाभ भी उठाया।**

**"जब इस सम्बन्ध में मुझे हर तरफ़ से निराशा हुई—याने जिसको मैंने दिल से चाहा, उसने मेरी मुहब्बत की क़द्र न की तो मेरी तबियत बुझ गयी और मैंने महसूस किया कि मैं रेगिस्तान में एक भौंरे के समान हूँ, जिसे रस चूसने के लिए दृष्टि-सीमा तक कोई फूल नज़र नहीं आ सकता, लेकिन इसके बावजूद मैं मुहब्बत करने से बाज़ न रहा और हमेशा की तरह**

किसी ने भी मेरी इस भावना के महत्त्व को न पहचाना। जब पानी सिर से गुज़र गया और मुझे मेरे तथाकथित मित्रों की बेवफ़ाइयाँ और सर्दमेहरियाँ—असह्य अलगाव और उपेक्षाएँ याद आने लगीं तो मेरे सीने के अन्दर एक हलचल-सी मच गयी। मेरे भावुक और सतर्क अस्तित्व में एक जंग सी छिड़ गयी।

सतर्क अस्तित्व उन लोगों को निन्दनीय और घृणित घोषित करता और पिछली घटनाओं की कष्टप्रद तस्वीर मुझे दिखाते हुए यह चाहता था कि मैं आगे से अपना दिल पत्थर का बना लूँ और मुहब्बत को हमेशा के लिए बाहर निकाल फेंकूँ, लेकिन भावुक अस्तित्व इन कष्टप्रद घटनाओं को दूसरे ही रंग में प्रस्तुत करते हुए मुझे इस बात पर गर्व करने को विवश करता कि मैंने जीवन का सही मार्ग अपनाया है, वह चाहता यह कि मैं मुहब्बत किये जाऊँ कि यही सृष्टि की रूह है।

''यह जंग ख़ुदा जाने किस बुरे वक्त शुरू हुई कि अब मेरे जीवन का एक अंग बनकर रह गयी है। दिन हो या रात, जब कभी मुझे अवकाश के कुछ क्षण मिलते हैं, मेरे अस्तित्व के ये दोनों अंश हथियार बाँधकर खड़े हो जाते हैं। इन क्षणों में यदि कोई मेरे साथ बात करे तो मेरा स्वर निश्चय ही कुछ और प्रकार का होता है। मेरे कण्ठ में एक अकथ कटुता घुल रही होती है। मैं बहुत चाहता हूँ कि अपने स्वर को कर्कश न होने दूँ और कभी-कभी इस प्रयत्न में सफल भी हो जाता हूँ। लेकिन यदि ऐसे वक्त मेरे कानों को कोई अप्रिय समाचार सुनायी दे या मैं कोई ऐसी चीज़ महसूस करूँ जो मेरे स्वभाव के एकदम विरुद्ध हो तो फिर मैं कुछ नहीं कर सकता। मेरे सीने की गहराइयों से जो कुछ भी उठे, ज़बान के रास्ते बाहर निकल जाता है। उसकी कटुता और कर्कशता का एहसास मुझे उस समय कभी नहीं हुआ, इसलिए कि यथासम्भव मैं मित्रता में

**शिष्टाचार को हाथ से नहीं जाने देता और मुझे मालूम होता है कि मैं कभी किसी को दुख नहीं पहुँचा सकता। यदि मैंने अपने मिलने वालों में से किसी दोस्त को नाख़ुश किया है तो उसका कारण मैं नहीं हूँ, बल्कि वे ख़ास क्षण हैं, जब मैं पागल से बेहतर नहीं होता......"**

मंटो की यह कहानी जिसका शीर्षक 'एक ख़त' है, पढ़ते-पढ़ते जब ये पंक्तियाँ मेरी नज़र से गुजरीं तो मुझे दुख हुआ कि मैं मंटो से उस समय क्यों न मिला जब उसका सतर्क-अस्तित्व सोया हुआ था और वह दोस्तों की उपेक्षा और अलगाव से अनभिज्ञ था। क्योंकि दोस्तों की बेवफ़ाइयों और सर्द-मेहरियों की शिकायत उसे ही नहीं, मुझे भी है। इन पंक्तियों को पढ़ते समय अनुभव हुआ कि मंटो अपने बारे में नहीं, मेरे बारे में यह लिख रहा है। अंतर केवल इतना है कि मेरे जागरूक सतर्क अस्तित्व ने मुझे कभी इस तरह परेशान नहीं किया। किसी पुराने दोस्त ने बेवफ़ाई की, उपेक्षा का व्यवहार किया तो चाहे कष्ट कितना भी क्यों न हो, स्वर में कटुता नहीं आयी। कारण यह है कि जाने कहीं पढ़कर या अपने पिता के और अपने अनुभवों से मैंने बहुत पहले दोस्ती और प्रेम के बारे में एक ढंग अपना लिया था और वह यह कि दोस्ती और प्रेम एकदम एकतरफ़ा चीज़ है। मैं जिसे अपने दोस्त के रूप में चाहता हूँ, जिसके सामीप्य में मुझे सुख मिलता है, उससे दोस्ती बनाये रखना, उससे प्रेम करना मेरा काम है। जब उससे प्रेम करते-करते इस बात की अभिलाषा होने लगती है कि वह भी मुझ से मुहब्बत करे, उसी तरह जैसे कि मैं उससे करता हूँ और जब ऐसा नहीं होता तो बड़ा दुख होता है। पहले यह दुख बड़ा तीव्र होता था, लेकिन अब नहीं होता। मैं उससे पूर्ववत् मन में प्रेम करता रहता हूँ, लेकिन प्रकट चुप हो जाता हूँ। और क्योंकि बिना प्रेम किये नहीं रहा जाता, इसलिए दोस्ती निभाने के लिए कोई दूसरा चुन लेता हूँ। और मैं अपने आपको ऐसे फूल सा पाता हूँ जो रस और गंध से भरा है। उसे कोई भौंरा अच्छा लगता है तो उसे

अपनी सुगंध से बुला लेता है, रस और गंध लुटाकर प्रसन्न होता है, लेकिन भौंरा चला जाता है। तब वह उसकी याद दिल में रखता है और किसी दूसरे को बुला लेता है। इस पर भी कभी-कभी वह अपने आपको बेहद तनहा और उदास पाता है, लेकिन उस सुख की याद उसके दिल की उदासी को दूर कर देती है, जो उसने प्रेम का रस और गंध लुटाने में पायी थी....

'एक ख़त' की उपरोक्त पंक्तियाँ मंटो ने बड़ी अनुभूति के साथ लिखी हैं और क्योंकि मैंने मंटो को निकट से देखा है, इसलिए इनकी वास्तविकता से मुझे इनकार नहीं। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं मंटो से उस समय मिला जब उसका सतर्क अस्तित्व उसके कंठ को कटु और स्वर को कर्कश कर चुका था।

मंटो ठीक कहता है। वह जान बूझकर किसी को कष्ट न पहुँचाना चाहता था और यही कारण है कि जब दो बार उसने मुझे सख़्त गुस्से में गाली दी तो तुरन्त ही इस पर खेद प्रकट कर दिया ... दोनों बार मुझे महसूस हुआ था कि हम दोनों बहुत अच्छे मित्र हो सकते हैं, लेकिन हम बहुत देर में मिले थे। जवानी के शुरू में मिले होते तो निश्चय ही बहुत अच्छे दोस्त होते।

बम्बई से आने के बाद मंटो की कुछ ज़्यादा ख़बर नहीं मिली। उसका एक ख़त लाहौर से आया था, 'मक्तबा जदीद' के लेटर-पैड पर कि वह मुहम्मद हसन अस्करी के साथ मिलकर एक पत्र निकाल रहा है और मैं उसके लिए कहानी लिखूँ। मैं उन दिनों बीमार था, सख़्त मानसिक और शारीरिक कशमकश में फँसा था। लेकिन मैंने उसे विश्वास दिलाया था कि मैं कहानी ज़रूर लिखूँगा। फिर न जाने वह पत्र निकला या नहीं। निकला तो मुझ तक नहीं पहुँचा। इतना यक़ीन है कि उसके एक दो अंक आते तो मैं जैसे भी होता, उसके लिए अवश्य कहानी लिखता।

बस इस एक ख़त के अतिरिक्त बम्बई के फ़िल्मी जीवन के बाद मंटो से किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार नहीं हुआ। हाँ, जब भी उसकी कोई नयी

कहानी आती, उसकी चर्चा घर में चलती। दो-एक दिन मैं और कौशल्या उसकी बातें करते, फिर ज़िन्दगी के झमेले दूसरी बातों में उलझा लेते। फिर अचानक गतवर्ष[1] जनवरी में सुना कि मंटो मर गया है। सहसा विश्वास न हुआ। मेरे दोस्त ओर पड़ोसी भैरवप्रसाद गुप्त ने मुझे यह समाचार दिया। वे मंटो के बड़े भक्त हैं। दस वर्ष हिन्दी की सबसे अधिक छपने वाली कहानी पत्रिका 'माया' का सम्पादन करके अब 'कहानी' में आये हैं। वे 'माया' में मंटो की अनेक कहानियों के अनुवाद छाप चुके हैं। मेरे कहने पर उन्होंने मंटो की कहानी 'बाबू गोपीनाथ' का अनुवाद 'माया' में प्रकाशित किया था और अभी कुछ ही दिन पहले 'टोबा टेक सिंह' कहानी के वार्षिकांक में छापी थी, जिसने हिन्दी पाठकों के मन पर मंटो का सिक्का जमा दिया।

मुझे अचानक भैरवप्रसाद की बात का विश्वास न हुआ। लेकिन उन्होंने कहा कि 'अमृत पत्रिका' में समाचार छपा है और रेडियो से प्रसारित भी हुआ है। मैंने रेडियो के असिस्टेंट स्टेशन डायरेक्टर श्री गोपालदास को फ़ोन किया कि क्या सचमुच ऐसी कोई ख़बर प्रसारित हुई है? उनकी लड़की सख़्त बीमार थी। उन्होंने समाचार न सुने थे। तब मैंने स्टुडियो फ़ोन किया। वहाँ प्रायः ड्यूटी पर मुनीर साहब रहते हैं। मुझे विश्वास था कि उन्हें अवश्य पता होगा। लेकिन ट्रांसमिशन शुरू न हुई थी और मुनीर साहब आये न थे। मुझे चैन न आया। दिया जले मैंने फिर उन्हें फ़ोन किया। उन्होंने इस समाचार की पुष्टि कर दी, बल्कि उन्होंने कहा कि पाकिस्तान रेडियो से आध घंटे प्रोग्राम भी ब्रॉडकास्ट हुआ है।

तब मैंने आकर कौशल्या को बताया कि यह समाचार ठीक है। वह अनायास ही आँखें भर लायी। मेरे यहाँ उन दिनों हिन्दी की प्रसिद्ध कहानी लेखिका कुमारी कृष्णा सोबती आयी हुई थीं—खाना खाने को बिलकुल मन न था, लेकिन कुछ बच्चों के और कुछ मेहमान के ख़याल से

---

[1]—१९५५

खाने की मेज़ पर जा बैठे। किन्तु मैं खाना खाने के बदले उन्हें मंटो के बारे में बताता रहा।

इलाहाबाद में मंटो के जानने वालों में मैं और महमूद अहमद 'हुनर' थे। कुछ लोगों ने उसका नाम सुना था और कुछ ने उसकी कहानियाँ पढ़ी थीं। भैरवप्रसाद गुप्त और हुनर ने मिलकर तय किया कि मंटो के इस आकस्मिक निधन पर शोक प्रकट करने के लिए उर्दू-हिन्दी साहित्यिकों की एक मीटिंग की जाय।

यद्यपि पिछली ग़लत नीति के कारण प्रगतिशील लेखक काफ़ी बिखर चुके हैं, लेकिन इलाहाबाद में प्रायः वे तब भी काफ़ी तादाद में मिल बैठते थे और ख़ासी अच्छी मीटिंग हो जाती थी। अली सरदार जाफ़री, एहतशाम हुसेन और राजेन्द्र सिंह बेदी के आगमन के सिलसिले में जो मीटिंगें हुईं, उनमें काफ़ी लोग शरीक हुए। लेकिन मंटो की मृत्यु के सिलसिले में शोक सभा कुछ ऐसी बेतुकी हुई कि उसकी कड़वी याद कभी न भूलेगी।

पहले मीटिंग मेरे या 'फ़िराक' साहब के घर करने की सोची गयी। फिर न जाने कैसे जब उसकी घोषणा हुई तो यह मालूम हुआ कि मीटिंग चौक के एक ऐसे प्रकाशक के घर हो रही है जो हिन्दी के कई जासूसी पत्र एक साथ निकालते हैं और अब साल भर से उर्दू में एक जासूसी पत्र भी निकाल रहे हैं। पढ़े-लिखे तो ख़ाक नहीं हैं, लेकिन इधर जब से उनके पास पैसा हो गया है, उनकी बड़ी इच्छा रहती है कि दो-एक साहित्यिक उनके साथ रहें। अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए वे कभी इसको, कभी उसको काफ़ी-हाउस में दावत देते रहते हैं और हमेशा जब बिल आता है तो जेब से सौ रुपये का नोट निकालकर तश्तरी में रखते हैं।

उन दिनों हुनर साहब शायद उनके यहाँ काम करते थे, इसलिए मीटिंग वहीं करने की ठहरी। लेकिन दुर्भाग्य से सुबह से ही बादल छाये हुए थे और दस-ग्यारह बजे से वर्षा होने लगी। जनवरी का महीना और बारिश ! शाम होते-होते खूब सर्दी हो गयी। छाते, बरसातियाँ ताने रिक्शों पर बैठ मैं, कौशल्या, कुमारी कृष्णा सोबती और कुमारी देशी सेठ उन प्रकाशक

महोदय के यहाँ पहुँचे। साइकिलों पर हिन्दी के दो तरुण कहानी लेखक कमलेश्वर और दुष्यन्त भी भीगते हुए साथ हो लिये। वहाँ भैरवप्रसाद गुप्त और 'हुनर' के अतिरिक्त स्वंय प्रकाशक महोदय और उनके भतीजे मौजूद थे।

दूसरी मंज़िल पर उनका दफ़्तर और निवास-स्थान है। बारजे में टाट के पर्दे लगाकर उन्होंने दफ़्तर लगा रक्खा है। पर्दे के बावजूद सख़्त ठंडी हवा चल रही थी। तीन औरतों का साथ, मैं कुछ देर से पहुँचा था। लेकिन यह जानकर संतोष हुआ कि अभी बहुत लोग नहीं आये, सिर्फ़ नया हिन्द के मुजीब आये थे और यह जानकर कि बारिश के कारण लोग देर से आयेंगे, चले गये।

दफ़्तर की मेज़ों के बीच से गुज़रते हुए हम अन्दर के बड़े कमरे में आये, जिसमें कुछ जगह तो छत तक लगी किताबों ने घेर रक्खी थी, बाकी हिस्से में कालीन बिछी थी और सोफ़े पड़े थे, जिनकी पीठ का रंग बैठने वालों के सिर के बालों में चुपड़े तेल के कारण काला हो गया था। दायीं मेज़ पर रेडियो पड़ा था, जिसे बजाने के लिए प्रकाशक महोदय बेचैन नज़र आते थे: बीच में गोल मेज़ लगी थी। कमरे की प्रत्येक वस्तु पुकार-पुकार कर गृह-स्वामी की 'सुरुचि' की घोषणा कर रही थी। लेकिन बाहर की सर्दी के मुकाबिले में कमरा गर्म था। हम बैठ गये। इधर-उधर की बातें होती रहीं। जब आध घंटा इन्तज़ार करने के बावजूद एक भी और साहित्यिक न पहुँचा और बारिश और भी ज़ोर से शुरू हो गयी तो मीटिंग शुरू हुई। मेरा नाम सभापतित्व के लिए प्रस्तुत किया गया। मौके की संगीनी के बावजूद मैं दिल-ही-दिल में हँसा। इस मीटिंग में हम क्या कहेंगे जो अपने घर में न कह चुके थे, क्योंकि गृह-स्वामी और उनके भतीजे को छोड़कर आठ में से सात तो मेरे ही यहाँ से आये थे . . . .।

लेकिन मीटिंग शुरू हुई। 'हुनर' ने मंटो के एक संग्रह 'यज़ीद' का अंतिम लेख 'जेबे-क़फ़न' पढ़ना शुरू किया जो मंटो ने पाकिस्तान में अपने साहित्यिक संघर्ष और वहाँ के साहित्यिक जीवन के बारे में लिखा था :—

"मुल्क के बटवारे से जो इन्कलाब बरपा हुआ उससे मैं एक अर्से तक बाग़ी रहा और अब भी हूँ। लेकिन बाद में इस ख़ौफ़नाक हक़ीक़त को मैंने तसलीम कर लिया।

मैंने उस ख़ून के समुद्र में गोता लगाया जो इंसान ने इंसान की रगों से बहाया था और चन्द मोती चुनकर लाया अश्के-इनफ़आल के (ग्लानि के आँसुओं के) मशक़्क़त (मेहनत) के, जो उसने अपने भाई के ख़ून का आख़िरी कतरा बहाने में सर्फ़ की थी। उन आँसुओं के जो उस झुँझलाहट में कुछ इंसानों की आँखों से निकले थे कि वे अपनी इंसानियत क्यों ख़त्म नहीं कर सके....।"

'हुनर' पढ़ते जा रहे थे और मेरी आँखों में 'सियाह हाशिये' के कई मोती चमक उठे थे। अपने जोश में किसी प्रगतिशील आलोचक ने उनका उपहास यों उड़ाया था कि 'सियाह हाशिये' में मंटो ने लाशों की जेबों से सिगरेट के टुकड़े, अंगूठियाँ और इसी किस्म की चीज़ें निकालकर जमा की हैं।

मैं महसूस कर सकता हूँ कि मंटो को इस आलोचना से कितना कष्ट हुआ होगा। अवश्य ही उस आलोचक ने मंटो के उस मानसिक कष्ट को नहीं समझा, जिसके अन्तर्गत उसने वे सब चुटकुले लिखे। इसमें सन्देह नहीं कि 'सियाह हाशिये' के अधिकांश मोती आबदार नहीं, उनमें आँसुओं की नमी नहीं, सन्देहशीलता (Scepticism) की बेआबी है। लेकिन 'हैवानियत', 'जूता', 'कसर नफ़्सी' और 'सफ़ाई पसन्दी' 'सियाह हाशिये' के ये चुटकुले मंटो की झुँझलाहट, गुस्से, दर्दमन्दी और मानव-प्रेम के द्योतक हैं। यों 'करामात', 'मुनासिब कारवाई', 'सदक़े उसके' का व्यंग्य भी कभी न भूलने वाला है।

"....मैं इंसान हूँ, मुझे गुस्सा आया" हुनर पढ़ रहे थे—"

"मैंने उस आलम में उस कीचड़ के जवाब में ऐसी कीचड़ तैयार की जो बहुत देर तक मेरे नाम निहाद नक़्क़ादों

**(तथाकथित आलोचकों) के चेहरों पर जमी रहती। लेकिन मैंने सोचा और महसूस किया कि ऐसा करना ग़लती है। ईंट का जवाब पत्थर से देना इंसान की ख़सलत है, इसमें कोई शक नहीं, लेकिन ख़ामोश रहना उसकी दानिशमन्दी है, उसका तहम्मुल (ठहराव) है, उसकी बुर्दबारी है (सहिष्णुता) है।**

और मुझे राशिद के मज़ाक के जवाब में मंटो का गालियाँ देना और मेरी आलोचना के उत्तर में उसकी तिलमिलाहट याद हो आयी। उस समय वह इंसान था, ईंट का जवाब पत्थर से देने वाला, लेकिन जीवन के अनुभवों ने सम्भवतः उसे सहिष्णु और धैर्यवान बना दिया। मंटो की यह झाँकी मेरे लिए नयी थी। काश ऐसे में उससे मेरी मुलाक़ात हुई होती !

'हुनर' साहब के बाद मैंने रेडियो और फ़िल्मी जीवन के सिलसिले में और मंटो की कहानियों के बारे में वही सब कुछ कहा जो मैं हमेशा कहा करता था और जिसे सबने सुन रखा था। यद्यपि कौशल्या वे सब बातें कई बार सुन चुकी थी, लेकिन न जाने क्यों फिर उसकी आँखें भर आयीं। जब मैंने अपनी बात समाप्त की तो मैंने देखा कि उसकी आँखें भीगी हैं और नाक उसके चेहरे पर कुछ अधिक लम्बी-लम्बी सी लग रही है। अगर पास्पोर्ट का झगड़ा न होता और हम लाहौर से इतनी दूर न होते तो मुझे विश्वास है कि कौशल्या अपनी इच्छा के अनुसार इस मौके पर सफ़िया भाभी के पास ज़रूर लाहौर जा पहुँचती।

समय अधिक हो गया था। मैं उठा। लेकिन तभी प्रकाशक महोदय खीसें निपोरते हुए एक हाथ में चाय का प्याला और दूसरे में मिठाई या नमकीन की तश्तरी लिये हुए आये। उनके पीछे-पीछे उनके भतीजे और नौकर चाय के प्याले और नाश्ते की तश्तरियाँ लिये थे।

तश्तरी उन्होंने मेरे आगे रक्खी।

"मेरा मन नहीं करता।"

और वे चाय का प्याला लिये हुए कौशल्या की ओर बढ़े।

गुस्से से कौशल्या उठ खड़ी हुई। रोने के कारण लाल आँखें क्रोध से तमतमा रही थीं, "यह कोई मौका है चाय पीने का", उसने कहा और बाहर की ओर बढ़ी।

"आप पहली बार आये हैं तो क्या मुँह भी मीठा न कीजिएगा ?" हें-हें करते हुए उन्होंने कहा।

और मैं सोचने लगा कि मंटो ऐसे मौक़े पर होता तो वह ख़बर लेता कि उनकी तबीयत हरी हो जाती। लेकिन मैंने उनके कंधे को थपथपाते हुए समझाया कि फिर कभी मीटिंग रखिएगा तो डटकर खायँगे।

और हम सब चले आये। पानी को जैसे उसी दिन बरसना था। ऐसा पड़ रहा था जैसे फिर कभी मौक़ा न मिलेगा।

•

उस मीटिंग के तीन-चार दिन बाद की बात है। सुबह मैं अपनी मेज़ पर आकर बैठा तो ३१ जनवरी का 'आईना' मेरी मेज़ पर पड़ा था। पृष्ठ पलटते हुए अचानक सियाह हाशियों से घिरे कृष्णचन्द्र के लेख पर नज़र गयी—'सआदत हसन मंटो—खाली बोतल, भरा हुआ दिल'—एक ही नज़र में सारा लेख पढ़ गया। बड़े एहसास के साथ कृष्ण ने वह लेख लिखा है। यदि उसका अन्त कहानी का रंग लिये हुए न होता तो और भी अच्छा लगता। कृष्ण की यह आदत है और इसके लिए उसकी बेपनाह कल्पना-शक्ति ज़िम्मेदार है कि वह यथार्थ के साथ कहानी को मिला देता है। लेकिन इस कमज़ोरी के बावजूद लेख मुझे बहुत पसन्द आया और मैंने आकर कौशल्या से कहा—"कृष्ण ने मंटो पर बहुत अच्छा लेख लिखा है। कौशल्या कृष्णा सोबती के साथ बाहर बाग़ीचे में बैठी धूप ले रही थी। उसने फ़रमायश की कि मैं लेख उसे सुना दूँ।

मैं अन्दर से 'आईना' उठा लाया और चारपाई की पट्टी पर बैठकर मज़मून सुनाने लगा। अचानक जब आधा लेख समाप्त करके मैं इन पंक्तियों पर पहुँचा—"मंटो बयालीस साल की उम्र में मर गया। अभी उसके कहने

और सुनने के दिन थे, अभी ज़िन्दगी के तल्ख़ तजरुबों ने, समाज की बेरहमियों ने, मुरव्वजा निज़ामे-ज़िन्दगी के तज़ाद[1] ने उसकी बेतहाशा इनफ़रादियत[2] और नातरफ़दारी ख़त्म करके उससे 'टोबा टेक सिंह' जैसी कहानी लिखवायी थी। ग़म मंटो की मौत का नहीं—मौत नागुज़ीर[3] हैं, ग़म उन नातख़लीक़-करदा शहपारों[4] का है, जो सिर्फ़ मंटो ही लिख सकता था....!" कि मेरे गले में कुछ अजीब सी खरखराहट पैदा हुई और पढ़ना मेरे लिए मुश्किल हो गया। दरअसल यह खरखराहट उसी जगह पैदा हो गयी थी जहाँ कृष्ण ने लिखा था—"ऑल इंडिया रेडियो भी खुला है, मेडन होटल का बार भी, उर्दू बाज़ार भी, क्योंकि मंटो एक बहुत मामूली आदमी था। वह एक ग़रीब अदीब था। वह वज़ीर न था कि कहीं कोई झंडा उसके लिए सरनगूँ[5] होता....वह एक सतायी हुई ज़बान का ग़रीब और सताया हुआ अदीब था..."लेकिन मैं बड़ी कोशिश से उस भर्राहट को रोककर लेख सुनाये जा रहा था। पर यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते अचानक पढ़ना कठिन हो गया। मै पढ़ रहा था—"उर्दू अदब में अच्छे-अच्छे अफ़साना निगार पैदा हुए, लेकिन मंटो दोबारा पैदा नहीं होगा और कोई उसकी जगह लेने नहीं आयेगा। यह बात मैं भी जानता हूँ और राजेन्द्र सिंह बेदी भी, इस्मत चग़ताई भी, ख़्वाजा अहमद अब्बास भी और उपेन्द्रनाथ अश्क भी...." और आँसू बरबस मेरी आँखों से वह निकले—कुछ और पंक्तियाँ उसी हालत में मैंने पढ़ीं— "हम सब लोग उसके रक़ीब[6], उसके चाहने वाले, उससे झगड़ा करने वाले, उसे प्यार करने वाले, उससे नफ़रत

---

[1] वर्तमान समाज व्यवस्था के विरोधाभास।

[2] असीम व्यक्तिवादिता।

[3] अनिवार्य।

[4] अनलिखी उच्चकोटि की रचनाओं।

[5] नत।

[6] प्रतिद्वन्द्वी।

करने वाले, उससे मुहब्बत करने वाले रफ़ीक़[1] और हमसफ़र[2] थे। और आज जब वह हममें नहीं है, हम में से हर एक ने मौत के शहतीर को अपने शानों पर महसूस किया है......" आँसुओं ने दृष्टि को ढक लिया। अख़बार को वहीं फेंककर मैं अन्दर अपने कमरे में चला गया और फिर शाम तक बाहर नहीं आया।

आज जब मैं उस दिन की याद करता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है। मेरे पिता ने मेरे देखते-देखते आँखें बन्द की थीं, मैं न रोया था। पिता से ख़ैर मुझे प्यार न था। लेकिन मेरी माँ जब मरीं, तब भी आँसू मेरी आँखों में न आये। और अब इस लेख को पढ़ते हुए जिसे मैं ख़ाम समझता था, अनायास मेरी आँखों में आँसू आ गये और मंटो मेरा रिश्तेदार न था, भाई न था, दोस्त न था——मेरा दुश्मन था—— !"

●

---

[1] मित्र।

[2] सहयात्री।

# परिशिष्ट १

खुशिया

नंगी आवाज़ें

हतक

स्वराज्य के लिए

# ख़ुशिया

ख़ुशिया सोच रहा था।

बनवारी से काले तम्बाकू वाला पान लेकर वह उसकी दुकान के साथ उस पत्थर के चबूतरे पर बैठा था जो दिन के वक्त टायरों और मोटरों के विभिन्न पुर्ज़ों से भरा होता है। रात को साढ़े आठ बजे के क़रीब मोटर के पुर्ज़े और टायर बेचने वालों की यह दुकान बन्द हो जाती है और यह चबूतरा ख़ुशिया के लिए ख़ाली हो जाता है।

वह काले तम्बाकू वाला पान धीरे-धीरे चबा रहा था और सोच रहा था की गाढ़ी तम्बाकू मिली पीक उसके दाँतों की रीखों से निकलकर उसके मुँह में इधर-उधर फिसल रही थी और उसे ऐसा लगता था कि उसके विचार दाँतों तले उसकी पीक में घुल रहे हैं। शायद यही वजह है कि वह उसे फेंकना नहीं चाहता था।

ख़ुशिया पान की पीक मुँह में पुलपुला रहा था और उस घटना के बारे में सोच रहा था जो उसके साथ अभी-अभी घटी थी, यानी आध घंटे पहले।

वह उस चबूतरे पर नित्य की भाँति बैठने से पहले खेतवाड़ी की पाँचवीं गली में गया था। मंगलोर से जो नयी छोकरी कान्ता आयी थी, उसी गली की नुक्कड़ पर रहती थी। ख़ुशिया से किसी ने कहा था कि वह अपना मकान बदल रही है, अतएव वह इसी बात का पता लगाने के लिए वहाँ गया था।

कान्ता की खोली का दरवाज़ा उसने खटखटाया। अन्दर से आवाज़ आयी, "कौन है?" इस पर ख़ुशिया ने कहा, "मैं ख़ुशिया!"

आवाज़ दूसरे कमरे से आयी थी। थोड़ी देर के बाद दरवाज़ा खुला। ख़ुशिया अन्दर घुसा। जब कान्ता ने दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लिया, तब ख़ुशिया ने मुड़कर देखा। उसकी हैरत की कोई इन्तहा न रही, जब उसने कान्ता को बिलकुल नंगी देखा, बिलकुल नंगी ही समझो। क्योंकि वह अपने अंगों को सिर्फ़ एक तौलिये से छिपाये हुए थी। छिपाये हुए भी तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि छिपाने की जितनी चीज़ें होती है वे सब की सब ख़ुशिया की चकित आँखों के सामने थीं।

"कहो ख़ुशिया, कैसे आये? ......मैं बस अब नहाने ही वाली थी। बैठो बैठो......बाहर वाले से अपने लिए एक कप चाय के लिए तो कह आये होते......जानते तो हो, वह मुआ रामू यहाँ से भाग गया है।"

ख़ुशिया जिसकी आँखों ने कभी औरत को यों अचानक नंगा नहीं देखा था, बेहद घबरा गया। उसकी समझ में न आता था कि क्या कहे। उसकी निगाहें जो एकदम नग्नता से चार हो गयी थीं, अपने आपको कहीं छिपाना चाहती थीं।

उसने जल्दी-जल्दी सिर्फ़ इतना कहा, "जाओ...जाओ तुम नहा लो!" फिर एकदम उसकी ज़बान खुल गयी "पर जब तुम नंगी थीं तो दरवाज़ा खोलने की क्या ज़रूरत थी? ....अन्दर से कह दिया होता, मैं फिर आ जाता......लेकिन जाओ......तुम नहा लो।"

कान्ता मुस्करायी, जब तुमने कहा ख़ुशिया है तो मैंने सोचा क्या हर्ज है, अपना ख़ुशिया ही तो है, आने दो......"

कान्ता की यह मुस्कराहट अभी तक खुशिया के दिल-दिमाग़ में तैर रही थी। इस वक्त भी कान्ता का नंगा जिस्म मोम के पुतले की तरह उसकी आँखों के सामने खड़ा था और पिघल-पिघल कर उसके अन्दर जा रहा था।

उसका जिस्म सुन्दर था। पहली बार ख़ुशिया को मालूम हुआ था कि शरीर बेचने वाली औरतें भी ऐसा सुडौल शरीर रखती हैं। उसको इस बात पर हैरत हुई थी। पर सबसे अधिक आश्चर्य उसे इस बात पर हुआ था कि नंग-धड़ंग वह उसके सामने खड़ी हो गयी और उसको लाज तक न आयी––क्यों ?

इसका जवाब कान्ता ने यह दिया था......'जब तुमने कहा ख़ुशिया है, तो मैंने सोचा क्या हर्ज है, अपना ख़ुशिया ही तो है......आने दो।'

कान्ता और ख़ुशिया एक ही पेशे में शरीक थे। वह उसका दलाल था, इस दृष्टि से वह उसी का था......पर यह कोई कारण नहीं था कि वह उसके सामने नंगी हो जाती। कोई ख़ास बात थी। कान्ता के शब्दों में ख़ुशिया कोई और ही अर्थ कुरेद रहा था।

यह अर्थ एक ही समय इतना स्पष्ट और इतना अस्पष्ट था कि ख़ुशिया किसी ख़ास नतीजे पर नहीं पहुँच सका था। उस समय भी वह कान्ता के नंगे शरीर को देख रहा था जो ढोलकी पर मढ़े हुए चमड़े की भाँति तना हुआ था। उसकी लुढ़कती हुई निगाहों से बिलकुल बेपरवाह। कई बार उस विमूढ़ स्थिति में भी उसने उसके साँवले-सलोने शरीर पर टोह लेने वाली निगाहें गाड़ी थीं, पर उसका एक रोआँ तक भी न कँपकँपाया था। बस उस साँवले पत्थर की मूर्ति के समान वह खड़ी रही, जो अनुभूति-हीन हो !

"भई, एक मर्द उसके सामने खड़ा था––मर्द, जिसकी निगाहें कपड़ों में भी औरत के जिस्म तक पहुँच जाती हैं और जो परमात्मा जाने ख़याल-ही-ख़याल में जाने कहाँ-कहाँ पहुँच जाता है। लेकिन वह ज़रा भी न घबरायी और......और उसकी आँखें, ऐसा समझ लो कि अभी लाँड्री से धुलकर आयी हैं......उसको थोड़ी सी लाज तो आनी चाहिए थी। ज़रा सी

सुर्ख़ी तो उसके दीदों में पैदा होनी चाहिए थी। मान लिया, कस्बी थी, पर कस्बियाँ यों नंगी तो नहीं खड़ी हो जातीं!"

दस वर्ष उसे दलाली करते हो गये थे और इन दस वर्षों में वह पेशा कराने वाली लड़कियों के सारे भेदों से वाक़िफ़ हो चुका था। मिसाल के तौर पर उसे यह मालूम था कि पायधोनी के आख़िरी सिरे पर जो छोकरी एक नौजवान लड़के को भाई बनाकर रहती हैं, इसलिए 'अछूत कन्या, का रिकार्ड 'काहे करता मूरख प्यार प्यार. . .' अपने टूटे हुए बाजे पर बजाया करती है कि उसे अशोक कुमार से बुरी तरह इश्क है। कई मनचले लौडे अशोक कुमार से उसकी मुलाकात कराने का झाँसा देकर अपना उल्लू सीधा कर चुके थे। उसे यह भी मालूम था कि दादर में जो पंजाबिन रहती है, केवल इसलिए कोट पटलून पहनती है कि उसके एक यार ने उससे कहा था कि तेरी टाँगें तो बिलकुल उस अँग्रेज़ ऐक्ट्रेस की तरह है जिसने 'मराको' उर्फ़ 'ख़ूने-तमन्ना' में काम किया था। यह फ़िल्म उसने कई बार देखा और जब उसके यार ने कहा कि मार्लिन डिट्रेच इसलिए पतलून पहनती है कि उसकी टाँगें बहुत सुन्दर है और उसने उन टाँगों का दो लाख का बीमा करा रक्खा है तो उसने भी पतलून पहननी शुरू कर दी, जो उसके नितम्बों में बहुत फँसकर आती थी और उसे यह भी मालूम था कि मज़गाँव वाली दक्षिणी छोकरी सिर्फ़ इसलिए कॉलिज के ख़ूबसूरत लौंडों को फाँसती हैं कि उसे एक ख़ूबसूरत बच्चे की माँ बनने का शौक है। उसको यह भी पता था कि वह कभी अपनी इच्छा पूरी न कर सकेगी, इसलिए कि बाँझ है, और उस काली मद्रासिन की बाबत, जो हर समय कानों में हीरे की बूटियाँ पहने रहती थी, उसे यह बात अच्छी तरह मालूम थी कि उसका रंग कभी सफ़ेद नहीं होगा और वह उन दवाओं पर बेकार पैसा ख़र्च कर रही हैं जो वह आये दिन ख़रीदती रहती है।

उसको उन सभी छोकरियों का अन्दर-बाहर का हाल मालूम था जो उसके पेशे में शामिल थीं। मगर उसको यह पता न था कि एक दिन कान्ता कुमारी, जिसका असली नाम इतना कठिन था कि वह उम्र भर याद नहीं

कर सकता था, उसके सामने नंगी खड़ी हो जायेगी। और उसको ज़िन्दगी के सबसे बड़े ताज्जुब में डाल देगी।

सोचते-सोचते उसके मुँह में पान की पीक इतनी इकट्ठी हो गयी थी कि अब वह मुश्किल से छालिया के उन नन्हे-नन्हें रेज़ों को चबा सकता था जो उसके दाँतों की रीखों में से इधर-उधर फिसलकर निकल जाते थे। उसके तंग माथे पर पसीने की नन्हीं-नन्हीं बूँदे उभर आयी थीं जैसे मलमल में पनीर को धीरे से दबा दिया गया हो।......उसके पुंसत्व को धक्का-सा पहुँचता था जब वह कान्ता के नंगे जिस्म को अपनी कल्पना म देखता था। उसे महसूस होता था जैसे उसका अपमान हुआ है।

एकदम उसने अपने मन में कहा, 'भई यह अपमान नहीं है तो क्या है....यानी एक छोकरी नंग-धड़ंग तुम्हारे सामने खड़ी हो जाती है .....! 'तुम ख़ुशिया ही तो हो'......ख़ुशिया न हुआ साला वह बिल्ला हो गया जो उसके बिस्तर पर हर समय ऊँघता रहता है...... और क्या !

अब उसे विश्वास होने लगा कि सचमुच उसका अपमान हुआ है। वह मर्द था और उसको इस बात की अज्ञात रूप से आशा थी कि औरतें चाहे शरीफ़ हों, चाहे बाज़ारू, उसको मर्द ही समझेंगी और उसके तथा अपने बीच वह पर्दा क़ायम रखेंगी जो एक मुद्दत से चला आ रहा है। वह तो सिर्फ़ यह पता लगाने के लिए कान्ता के यहाँ गया था कि वह कब तक मकान बदल रही है और कहाँ जा रही है? कान्ता के पास उसका जाना बिलकुल व्यापार से सम्बन्धित था। अगर ख़ुशिया कान्ता के बारे में सोचता कि जब वह उसका दरवाज़ा खटखटायेगा तो वह अन्दर क्या कर रही होगी तो उसकी कल्पना में अधिक-से-अधिक इतनी ही बातें आ सकती थीं।

—सिर पर पट्टी बाँधे लेट रही होगी।

—बिल्ले के बालों से पिस्सू निकाल रही होगी।

—उस बाल-सफ़ा पाउडर से अपनी बग़लों के बाल उड़ा रही होगी जो

इतनी बास मारता था कि ख़ुशिया की नाक बर्दाश्त नहीं कर सकती थी।

—पलंग पर अकेली बैठी ताश फैलाये पेशन्स खेलने में मशग़ूल होगी।

बस इतनी चीज़ें थीं, जो उसके दिमाग़ में आतीं। घर में वह किसी को रखती नहीं थी, इसलिए इस बात का ख़याल ही नहीं आ सकता था। पर ख़शिया ने तो यह सोचा ही नहीं था। वह तो काम से वहाँ गया था कि अचानक कान्ता......यानी कपड़े पहनने वाली कान्ता, मतलब यह कि वह कान्ता जिसको वह हमेशा कपड़ों में देखा करता था, उसके सामने बिलकुल नंगी खड़ी हो गयी—बिलकुल नंगी ही समझो, क्योंकि एक छोटा सा तौलिया सब कुछ तो छिपा नहीं सकता। ख़ुशिया को वह दृश्य देखकर ऐसा महसूस हुआ था जैसे छिल्का उसके हाथ में रह गया है और केले का गूदा बिछल कर उसके सामने आ गिरा है—नहीं, उसे कुछ और ही महसूस हुआ था जसे—जैसे वह स्वयं नंगा हो गया है। अगर बात यहीं तक ही समाप्त हो जाती तो कुछ भी न होता। ख़ुशिया अपने आश्चर्य को किसी-न-किसी हीले से दूर कर देता। मगर यहाँ मुसीबत यह आ पड़ी थी कि उस लौंडिया ने मुस्कराकर कहा था—'जब तुम ने कहा ख़ुशिया है, तो मैंने सोचा, अपना ख़ुशिया ही तो है, आने दो'—यह बात उसे खाये जा रही थी।

'साली मुस्करा रही थी......'वह बार-बार बड़बड़ाया। जिस तरह कान्ता नंगी थी, उसी तरह उसकी मुस्कराहट ख़ुशिया को नंगी नज़र आयी थी। यह मुस्कराहट ही नहीं, उसे कान्ता का शरीर भी इस हद तक दिखायी दिया था जैसे उस पर रंदा फिरा हुआ है।

उसे बार-बार बचपन के वे दिन याद आ रहे थे जब पड़ोस की एक औरत उससे कहा करती थी, "ख़ुशिया बेटा, जा दौड़कर जा, यह बाल्टी पानी से भर ला। जब वह बाल्टी भरकर लाया करता था तो वह धोती के बनाये हुए पर्दे के पीछे से कहा करती थी, अन्दर आकर यहाँ मेरे पास रख दे। मैंने मुँह पर साबुन मला हुआ है। मुझे कुछ सुझायी नहीं देता।" वह धोती का पर्दा हटाकर बाल्टी उसके पास रख दिया करता था। उस समय साबुन

की झाग में लिपटी हुई नंगी औरत उसे नज़र आती थी, पर उसके मन में किसी तरह की उथल-पुथल पैदा नहीं होती थी।

'भई मैं उस समय बच्चा था। बिलकुल भोला-भाला! बच्चे और मर्द में बहुत फ़र्क होता है। बच्चों से कौन पर्दा करता है। मगर अब तो मैं पूरा मर्द हूँ। मेरी उम्र इस वक्त लगभग अट्ठाईस साल है और अट्ठाईस साल के जवान आदमी के सामने तो कोई बूढ़ी औरत भी नंगी खड़ी नहीं होगी।"

कान्ता ने उसे क्या समझा था? क्या उसमें वे सारी बातें नहीं थीं जो एक नौजवान मर्द में होती है? इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह कान्ता को एकाएक नंग-धड़ंग देखकर बहुत घबरा गया था। लेकिन चोर-दृष्टि से क्या उसने कान्ता की उन चीज़ों का जायज़ा नहीं लिया था जो रोज़ाना इस्तेमाल के बावजूद असली हालत पर कायम थीं और क्या आश्चर्य के साथ उसके दिमाग़ में यह ख़याल नहीं आया था कि दस रुपये में कान्ता बिलकुल महँगी नहीं और दशहरे के दिन बैंक का वह बाबू जो दो रुपये की रिआयत न मिलने पर वापस चला गया था, बिलकुल गधा था!—और इन सब के ऊपर क्या एक क्षण के लिए उसके सारे पुट्ठों में एक अजीब किस्म का तनाव नहीं पैदा हो गया था? और उसने एक ऐसी अगड़ाई नहीं लेनी चाही थी, जिससे उसकी हड्डियाँ तक चटख़ने लगे......। फिर क्या कारण था कि मंगलोर की उस साँवली छोकरी ने उसको मर्द न समझा और सिर्फ़ ......सिर्फ़ ख़ुशिया समझकर उसको अपना सब कुछ देखने दिया?

उसने ग़ुस्से में आकर पान की गाढ़ी पीक थूक दी जिसने फुटपाथ पर कई बेल-बूटे बना दिये। पीक थूककर वह उठा और ट्राम में बैठकर अपने घर चला गया।

घर में उसने नहा-धोकर नयी धोती पहनी। जिस बिल्डिंग में रहता था, उसकी एक दुकान में सेलून था। उसके अन्दर जाकर उसने आईने के सामने अपने बालों में कंघी की। फिर एकाएक कुछ ख़याल आया तो वह कुर्सी पर बैठ गया और बड़ी गम्भीरता से उसने दाढ़ी मूँड़ने के लिए नाई से कहा। आज चूँकि वह दूसरी बार दाढ़ी मुँड़वा रहा था, इसलिए नाई

ने कहा, "अरे भाई ख़ुशिया भूल गये क्या ? सुबह मैंने ही तो तुम्हारी दाढ़ी मूँड़ी थी।" इसपर ख़ुशिया ने बड़ी गम्भीरता से दाढ़ी पर उलटा हाथ फेरते हुए कहा, "खूँटी अच्छी तरह नहीं निकली......!"

अच्छी तरह खूँटी निकलवाकर और चेहरे पर पाउडर मलवाकर वह सेलून से बाहर निकला। सामने टेक्सियों का अड्डा था। बम्बई के ख़ास अन्दाज़ में उसने 'शी......शी' करके एक टैक्सी ड्राइवर को अपनी ओर आकृष्ट किया और उंगली के इशारे से उसे टैक्सी लाने के लिए कहा।

जब वह टैक्सी में बैठ गया तो ड्राइवर ने घूमकर उससे पूछा—"कहाँ जाना है साहब ?"

इन चार शब्दों ने और विशेष रूप से 'साहब' शब्द ने ख़ुशिया को सचमुच ख़ुश कर दिया। मुस्कराकर उसने बड़े दोस्ताना लहजे में जवाब दिया, "बतायेंगे। पहले तुम ऑपेरा हाउस की तरफ़ चलो—लेमिंग्टन रोड से होते हुए....समझे ?"

ड्राइवर ने मीटर की लाल झंडी का सिर नीचे दबा दिया। 'टन टन' हुई और टैक्सी ने लेमिंग्टन रोड का रुख़ किया। लेमिंग्टन रोड का जब अख़िरी सिरा आ गया तो ख़ुशिया ने ड्राइवर को आदेश दिया—"बायें हाथ मोड़ लो!"

टैक्सी बायें हाथ मुड़ गयी। अभी ड्राइवर ने गीयर भी न बदला था कि ख़ुशिया ने कहा—"यह सामने वाले खम्भे के पास रोक लेना ज़रा।"

ड्राइवर ने ठीक खम्भे के पास टैक्सी खड़ी कर दी। ख़ुशिया दरवाज़ा खोलकर बाहर निकला और एक पान वाले की दुकान की ओर बढ़ा। यहाँ से उसने पान लिया और उस आदमी से जो कि दुकान के पास खड़ा था, चन्द बातें कीं और उसे अपने साथ टैक्सी पर बैठाकर ड्राइवर से बोला—"सीधे ले चलो!"

देर तक टैक्सी चलती रही। ख़ुशिया ने जिधर इशारा किया, ड्राइवर ने उधर हेंडिल फिरा दिया। रौनक वाले कई बाज़ारों से होते हुए टैक्सी एक गली में दाखिल हुई, जिसमें धुंधली-सी रोशनी थी और बहुत कम लोग

आ-जा रहे थे। कुछ लोक सड़क पर बिस्तर जमाये लेटे थे। उनमें से कुछ बड़े इतमीनान से चम्पी करा रहे थे। जब टैक्सी उन चम्पी कराने वालों के आगे निकल गयी और एक काठ के बंगले-नुमा मकान के पास पहुँची तो ख़ुशिया ने ड्राइवर को ठहरने के लिए कहा, "बस, अब यहाँ रुक जाओ!"

टैक्सी ठहर गयी तो ख़ुशिया ने उस आदमी से, जिसको वह पान वाले की दुकान से अपने साथ लाया था, कहा, "जाओ—मैं यहाँ इन्तज़ार करता हूँ।"

वह आदमी मूर्खों की तरह ख़ुशिया की ओर देखता हुआ, टैक्सी से बाहर निकला और सामने वाले लकड़ी के मकान में घुस गया।

ख़ुशिया जमकर टैक्सी के गद्दे पर बैठ गया। एक टाँग दूसरी टाँग पर रखकर उसने जेब से बीड़ी निकालकर सुलगायी और एक-दो कश लेकर बाहर सड़क पर फेंक दी। वह अब बड़ा बचैन था, इसलिए उसे लगा कि टैक्सी का इंजन बन्द नहीं हुआ। उसके सीने में चूँकि फड़फड़ाहट-सी हो रही थी, इसलिए वह समझा कि ड्राइवर ने बिल बढ़ाने के लिए पैट्रोल छोड़ रखा है। अतः उसने तेज़ी से कहा—"यों बेकार इंजन चालू रखकर तुम कितने पैसे और बढ़ा लोगे ?"

ड्राइवर ने घूमकर ख़ुशिया की ओर देखा और कहा, "सेठ, इंजन तो बन्द है।"

जब ख़ुशिया को अपनी ग़लती का एहसास हुआ तो उसकी बेचैनी और भी बढ़ गयी और उसने कुछ कहने के बदले ओंठ चबाने शुरू कर दिये। फिर एकाएकी सिर पर वह किश्ती नुमा काली टोपी पहनकर, जो अब तक उसकी बग़ल में दबी हुई थी, उसने ड्राइवर का कंधा हिलाया और कहा, "देखो, अभी एक छोकरी आयेगी। जैसे ही अन्दर आये तुम मोटर चला देना ......समझे ? ......घबराने को कोई बात नहीं है, मामला ऐसा-वैसा नहीं!"

इतने में सामने लकड़ी वाले मकान से दो आदमी बाहर निकले। आगे-

आगे ख़ुशिया का दोस्त था और उसके पीछे-पीछे कान्ता, जिसने शोख रंग की साड़ी पहन रखी थी।

ख़ुशिया झट से उस तरफ़ को सरक गया जिधर अँधेरा था। ख़ुशिया के दोस्त ने टैक्सी का दरवाज़ा खोला और कान्ता को अन्दर दाख़िल करके दरवाज़ा बन्द कर दिया। उसी समय कान्ता की चकित आवाज़ सुनायी दी, जो चीख से मिलती-जुलती थी—"ख़ुशिया तुम ?"

"हाँ मैं......लेकिन तुम्हें रुपये मिल गये हैं न ?" ख़ुशिया की मोटी आवाज़ बुलन्द हुई......"देखो ड्राइवर......जुहू ले चलो।"

ड्राइवर ने सेल्फ दबाया। इंजन फड़फड़ाने लगा। वह बात जो कान्ता ने कही, सुनायी न दे सकी। टैक्सी एक धचके के साथ आगे बढ़ी और ख़ुशिया के दोस्त को सड़क के बीच चकित-विस्मित छोड़ उस अर्ध-प्रकाशित गली में ग़ायब हो गयी।

इसके बाद किसी ने ख़ुशिया को मोटरों की दुकान के उस पत्थर के चबूतरे पर नहीं देखा।

●

# नंगी आवाजें

भोलू और गामा दो भाई थे। बेहद मेहनती। भोलू क़लईगर था। सुबह धोंकनी सिर पर रखकर निकलता और दिन भर शहर की गलियों में 'बर्तन क़लई करा लो' की आवाज़ें लगाता रहता। शाम को घर लौटता तो उसकी धोती की टेंट में तीन-चार रुपये की रेज़गारी ज़रूर होती।

गामा खोंचा लगाता था। उसको भी दिन भर छाबड़ी सिर पर उठाये घूमना पड़ता था। तीन-चार रुपये वह भी कमा लेता था। पर उसे शराब की लत थी। शाम को दीने के भटियारख़ाने में खाना खान से पहले एक पाव शराब उसे ज़रूर चाहिए थी। पीने के बाद वह ख़ूब चहकता। दीने के भटियारख़ाने में रौनक़ हो जाती। सब को मालूम था कि वह पीता है और इसी के सहारे जीता है।

भोलू ने गामा को, जो उससे दो वर्ष बड़ा था, बहुत समझाया कि देखो, यह शराब की लत बहुत बुरी है। गृहस्थ आदमी हो। बेकार पैसा बरबाद करते हो। यही, जो तुम रोज़ एक पाव शराब पर ख़र्च करते हो, बचाकर

रखो तो भाभी ठाट से रहा करे। नंगी-बुच्ची अच्छी लगती है तुम्हें अपनी घरवाली? .....गामा इस कान सुनता, उस कान उड़ा देता। भोलू जब थक-हार गया, तो उसने कहना ही छोड़ दिया।

दोनों शरणार्थी थे। एक बड़ी बिल्डिंग के साथ सर्वेण्ट क्वार्टर थे। इन पर जहाँ औरों ने कब्ज़ा जमा रक्खा था, वहाँ इन दोनों भाइयों ने भी एक क्वार्टर को, जो दूसरी मंज़िल पर था, अपने रहने के लिए क़ब्ज़े में कर रखा था।

सर्दियाँ आराम से कट गयीं। गर्मियाँ आयीं तो गामा को बहुत कष्ट हुआ। भोलू तो ऊपर कोठे पर खाट बिछाकर सो जाता, पर गामा क्या करता? औरत थी और ऊपर पर्दे का कोई बन्दोबस्त ही न था। एक गामा ही को यह तकलीफ़ न थी, क्वार्टरों में जो भी विवाहित था, इसी मुसीबत में फँसा था।

कल्लू को एक बात सूझी। उसने कोठे पर कोने में अपनी और अपनी पत्नी की खाट के इर्द-गिर्द टाट तान दिया। इस तरह पर्दे का इन्तज़ाम हो गया। कल्लू की देखा-देखी दूसरों ने भी इस तरकीब से काम लिया। भोलू ने भाई की मदद की और कुछ ही दिनों में बाँस आदि गाड़, टाट और कम्बल जोड़कर पर्दे का प्रबंध कर दिया। यों हवा तो रुक जाती थी, पर नीचे क्वार्टर के नरक से हर हालत में यह जगह अच्छी थी।

ऊपर कोठे पर सोने से भोलू की तबीयत में एक अजीब परिवर्तन आ गया। वह शादी-ब्याह का बिलकुल क़ायल नहीं था। उसने मन में संकल्प कर रखा था कि यह जंजाल कभी नहीं पालेगा। जब गामा कभी उसके ब्याह की बात छेड़ता तो वह कहा करता, "ना भाई, मैं यह जंजाल नहीं पालना चाहता। जब गर्मियां आयीं और उसने ऊपर खाट बिछाकर सोना शुरू किया तो दस-पन्द्रह दिन ही में उसके विचार बदल गये। एक शाम को दीने के भटियारख़ाने में उसने अपने भाई से कहा, "मेरी शादी कर दो, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगा।"

गामा ने यह सुन अचरज से कहा, "यह क्या मज़ाक सूझा है तुम्हें?"

भोलू बहुत गम्भीर हो गया। बोला, "तुम्हें नहीं मालूम......
पन्द्रह रातें हो गयी हैं मुझे जागते हुए।"

"क्यों क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं यार,...दायें-बायें जिधर नज़र डालो, कुछ-न-कुछ हो रहा है...अजीब-अजीब आवाज़ें आती हैं। नींद क्या आयेगी खाक !"

गामा ज़ोर से अपनी घनी मूँछों मे हँसा।

भोलू शर्मा गया। फिर बोला, "वह जो कल्लू है, उसने तो हद कर दी है......साला रात भर बकवास करता रहता है....उसकी औरत साली की भी ज़बान तालू से नहीं लगती......बच्चे पड़े रो रहे हैं, पर वह......"

गामा पूर्ववत नशे में था। भोलू चला गया तो उसने दीने के भटियार-ख़ाने में अपने सब यार-दोस्तों को खूब चहक-चहक कर बताया कि उसके भाई को आजकल नींद नही आती। इसका कारण जब उसने अपने ख़ास अन्दाज़ में बयान किया तो सुनने वालों के पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गये। जब वे लोग भोलू से मिले तो उसका ख़ूब मज़ाक़ उड़ाया। कोई उससे पूछता..."हाँ भई, कल्लू अपनी जोरू से क्या बातें करता है?" कोई कहता..."यार, मुफ़्त में मज़े लेते हो...सारी रात फ़िल्में देखते रहते हो......सौ फ़ीसदी बोलती-गाती।"......कुछ ने उससे गन्दे-गन्दे मज़ाक किये। भोलू बेतरह चिढ़ गया।

दूसरे दिन उसने गामा को उस वक्त पकडा, जब वह नशे में नहीं था और बोला "तुम ने तो यार, मेरा मज़ाक बना दिया है।...... देखो जो कुछ मैंने तुम से कहा है, झूठ नहीं है। मैं भी इंसान हूँ। ख़ुदा की क़सम मुझे नींद नहीं आती। आज सच, पन्द्रह दिन हो गये हैं मुझे जागते हुए......तुम मेरी शादी का बन्दोबस्त कर दो नहीं तो, क़सम ख़ुदा की, क़सम पंजतन पांक की, मेरा ख़ाना ख़राब हो जायगा। भाभी के पास मेरा पाँच सौ रुपया जमा है......जल्दी करो मेरा बन्दोबस्त।"

गामा ने मूँछ मरोड़कर पहले कुछ सोचा, फिर कहा, "अच्छा, हो जायगा बन्दोबस्त। तुम्हारी भाभी से आज ही बात करता हूँ कि वह अपनी मिलने-जुलने वालियों से पूछ-ताछ करें।"

डेढ़ महीने के अन्दर-अन्दर बात पक्की हो गयी। समदू क़लईगर की लड़की आयशा गामा की बीवी को बहुद पसन्द आयी। खूबसूरत थी, घर का काम-काज जानती थी। वैसे समदू भी भला आदमी था। मुहल्ले वाले उसकी इज़्ज़त करते थे। भोलू मेहनती था, तन्दुरुस्त था। जून के महीने में ही शादी की तारीख़ निश्चित हो गयी। समदू ने बहुत कहा कि वह इतनी गर्मी में लड़की नहीं ब्याहेगा, पर गामा ने जब बहुत ज़ोर दिया, तब वह मान गया।

शादी से चार दिन पहले भोलू ने अपनी दुल्हन के लिए ऊपर कोठे पर टाट के पर्दे का बन्दोबस्त किया। बाँस बड़ी मज़बूती से चारपाइयों के पायों से बाँधे। टाट खूब कसकर लगाये। चारपाइयों पर नये खेस बिछाये। नयी सुराही मुँडेर पर रखी। शीशे का गिलास बाज़ार से ख़रीद लाया। सब काम उसने बड़े शौक से किये।

रात को जब वह टाट के पर्दे में घिरकर सोया तो उसको अजीब-सा लगा। वह खुली हवा में सोने का आदी था, पर अब उसको उससे उलटी आदत डालनी थी। यही कारण था कि शादी से चार दिन पहले ही उसने यों सोना शुरू कर दिया। पहली रात जब वह लेटा और उसने अपनी पत्नी के बारे में सोचा तो वह पसीने में तर-बतर हो गया। उसके कानों में वे आवाज़ें गूंजने लगीं, जो उसे सोने नहीं देती थीं और उसके दिमाग़ में तरह-तरह के परेशान ख़याल दौड़ाती थीं।

क्या हम भी ऐसी ही आवाज़ें पैदा करेंगे? . . . .'क्या आस-पास के लोग हमारी आवाज़ें भी सुनेंगे? . . . . क्या वे भी मेरी तरह रातें जाग-जागकर काटेंगे? किसी ने यदि झाँककर देख लिया तो क्या होगा?"

भोलू पहले से भी अधिक परेशान हो गया। हर समय उसको यही बात सताती रहती कि टाट का पर्दा भी कोई पर्दा है! फिर चारों ओर लोग बिखरे पड़े हैं। रात के सन्नाटे में हल्की-सी कानाफूसी भी दूसरे कानों

तक पहुँच जाती है।....लोग कैसे यह नंगी ज़िन्दगी बिताते हैं?...
एक कोठा है, इस चारपाई पर पत्नी लेटी है, उस चारपाई पर पति पड़ा है। सैकड़ों आँखें, सैकड़ों कान आस-पास खुले हैं। नज़र न आने पर भी आदमी सब कुछ देख लेता है। हल्की-सी आहट पूरी तस्वीर बनकर सामने आ जाती है......यह टाट का पर्दा क्या है? सूरज निकलता है तो उसकी रोशनी सारी चीज़ों पर से पर्दा हटा देती है। वह सामने कल्लू अपनी बीवी की छातियाँ दबा रहा है। वह कोने में उसका भाई गामा लेटा है। तहमत खुल-कर एक ओर पड़ा है। इधर ईदा हलवाई की कुँआरी बेटी शादां का पेट छिदरे टाट से झाँक-झाँककर देख रहा है।

शादी का दिन आया तो भोलू का जी चाहा कि वह कहीं भाग जाय। पर कहाँ जाता? अब तो वह जकड़ा जा चुका था। ग़ायब हो जाता तो समदू अवश्य ही आत्महत्या कर लेता। उसकी लड़की पर जाने क्या बीतती। जो तूफ़ान मचता, वह अलग।

'अच्छा, जो होता है, होने दो—मेरे साथी और भी तो हैं। धीरे-धीरे आदत हो जायेगी मुझे भी।'—भोलू ने अपने आप को ढारस दिया और अपनी नयी-नवेली दुल्हन की डोली घर ले आया।

क्वार्टरों में चहल-पहल पैदा हो गयी। लोगों ने भोलू और गामा को ख़ूब बधाइयाँ दीं। भोलू के जो ख़ास दोस्त थे, उन्होंने उसको छेड़ा और पहली रात के लिए कई सफल गुर बताये। भोलू चुपचाप सुनता रहा। उसकी भाभी ने ऊपर कोठे पर टाट के पर्दों के नीचे बिस्तर का बन्दोबस्त कर दिया। गामा ने चार मोतिये के बड़े-बड़े हार तकिये के पास रख दिये। एक दोस्त उसके लिए जलेबियों वाला दूध ले आया।

देर तक वह नीचे क्वार्टर में अपनी दुल्हन के पास बैठा रहा। वह बेचारी शर्म के मारे सिर निहुराये, घूँघट काढ़े सिमटी हुई थी। सख़्त गर्मी थी। भोलू का नया कुर्ता उसके शरीर के साथ पसीने से चिपका हुआ था। वह पंखा कर रहा था, पर हवा जैसे बिलकुल ग़ायब हो गयी थी। भोलू ने पहले सोचा था कि वह ऊपर कोठे पर नहीं जायगा। नीचे क्वार्टर ही में रात काटेगा

पर जब गर्मी चरम सीमा को पहुँच गयी, तब वह उठा और दुल्हन से चलने को कहा।

रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। सारे क्वार्टर निस्तब्धता में लिपटे हुए थे। भोलू को इस बात का संतोष था कि सब लोग सो रहे होंगे। कोई उसको नही देखेगा। चुपचाप दबे पाँव वह अपने टाट के पर्दे के पीछे अपनी दुल्हन सहित घुस जायगा और सुबह मुँह-अँधेरे ही नीचे उतर आयेगा।

जब वह कोठे पर पहुँचा तो बिलकुल सन्नाटा था। दुल्हन ने शर्माये हुए क़दम उठाये तो पायल के रुपहले घुँघरू बजने लगे। एकदम भोलू ने अनुभव किया कि चारों ओर जो नींद बिखरी हुई थी, चौंक कर जाग पड़ी है चारपाइयों पर लोग करवटें बदलने लगे। खाँसने-खँखारने की आवाज़ें इधर-उधर भरने लगीं। दबी-दबी कानाफूसियाँ उस तपे हुए वायुमंडल में तैरने लगी। भोलू ने घबराकर अपनी पत्नी का हाथ पकड़ा और तेज़ी से टाट की ओट में चला गया। दबी-दबी एक हँसी की आवाज़ उसके कानों के साथ टकरायी। उसकी घबराहट बढ़ गयी। पत्नी से बात की, तो पास ही खुसुर-पुसुर शुरू हो गयी। दूर कोने में जहाँ कल्लू की जगह थी, चारपाई की 'चर्र-चूँ चर्र-चूँ' होने लगी। वह धीमी पड़ी, तो गामा की चारपाई बोलने लगी।. . . . ईदा हलवाई की कुँआरी लड़की शादां ने दो-तीन बार उठकर पानी पिया। घड़े के साथ उसका गिलास टकराता तो एक छनाका-सा पैदा होता। खैरे कसाई के लड़के की चारपाई से बार-बार माचिस जलाने की आवाज़ आती थी।

भौलू अपनी दुल्हन से कोई बात न कर सका। उसे डर था कि आस-पास के खुले हुए कान तुरन्त उसकी बात निगल जायँगे और सारी चार-पाइयाँ 'चर्र-चूँ चर्र-चूँ' करने लगेंगी। दम साधे वह चुपचाप लेटा रहा। कभी-कभी सहमी हुई दृष्टि से अपनी पत्नी की ओर देख लेता, जो गठरी-सी बनी दूसरी चारपाई पर पड़ी थी। वह कुछ देर जागती रही फिर सो गयी।

भोलू ने चाहा कि वह भी सो जाय, पर उसे नींद न आयी। थोड़ी-

थोड़ी देर के बाद उसके कानों में आवाज़ें आती थीं. . .आवाज़ें, जो तुरन्त तस्वीरें बनकर उसकी आँखों के सामने गुज़र जाती थीं।

उसके मन में बड़ी उमंगें थीं, बड़ा जोश था। जब उसने शादी का इरादा किया था तो वे सारे मज़े, जिनसे वह अनभिज्ञ था, उसके मन-मस्तिष्क में चक्कर लगाते रहते थे। उसे एक गर्मी महसूस होती थी—बड़ी आनन्दमयी गर्मी ! किन्तु अब जैसे उसे 'पहली रात' से कोई दिलचस्पी ही न थी। उसने रात में कई बार यह दिलस्चपी पैदा करने का यत्न किया, लेकिन आवाज़ें—वे तस्वीरें खींचने वाली आवाज़ें सब-कुछ अस्त-व्यस्त कर देतीं। वह अपने आपको नंगा महसूस करता, बिलकुल नंगा, जिसको चारों ओर से लोग आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे हों और हँस रहे हों।

सुबह चार बजे के करीब वह उठा। बाहर निकलकर उसने ठंडे पानी का एक गिलास पिया। कुछ सोचा। वह संकोच, जो उसके मन में बैठ गया था, उसको किसी हद तक दूर किया। अब ठंडी हवा चल रही थी, जो काफ़ी तेज़ थी।. . . . . .भोलू की निगाहें कोने की तरफ़ घूमीं। कल्लू का घिसा हुआ टाट हिल रहा था। वह अपनी स्त्री के साथ बिलकुल नंग-धड़ंग लेटा था। भोलू को बड़ी घिन लगी। साथ ही गुस्सा भी आया कि हवा ऐसे कोठों पर क्यों चलती है ? चलती है, तो टाटों को क्यों छेड़ती है ? उसके जी में आया कि कोठे पर जितने टाट हैं, सब नोच डाले और नंगा होकर नाचने लगे।

भोलू नीचे उतर गया। जब काम पर निकला तो कई दोस्त मिले। सब ने सुहागरात का हाल पूछा। फ़ौजे दर्ज़ी ने उसको दूर ही से आवाज़ दी—"क्यों उस्ताद भोलू कैसे रहे ? कहीं हमारे नाम पर बट्टा तो नहीं लगा दिया तुमने ?"

छागे टीनसाज़ ने उससे बड़े भेद भरे स्वर में कहा, "देखो अगर कुछ गड़बड़ है तो बता दो, एक बड़ा अच्छा नुस्ख़ा मेरे पास है।"

बाले ने उसके कंधे पर ज़ोर का हाथ मारा और पूछा, "कहो पहलवान, कैसा रहा दंगल ?"

भोलू चुप रहा।

सुबह उसकी पत्नी मायके चली गयी। पाँच-छै दिन के बाद लौटी तो भोलू को फिर उसी मुसीबत का सामना करना पड़ा। कोठे पर सोने वाले जैसे उसकी पत्नी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। कुछ रातों तक शांति रही थी, लेकिन जब वे ऊपर सोये तो फिर वही खुसुर-पुसुर, वही 'चर्र-चूँ चर्र-चूँ,' वही खाँसना-खँखारना, वही घड़े के साथ गिलास के टकराने के छनाके, करवटों पर करवटें, दबी-दबी हँसी।....भोलू सारी रात अपनी चारपाई पर लेटा आकाश की ओर देखता रहा। कभी-कभी एक ठंडी आह भरकर अपनी दुल्हन को देख लेता और मन में कुढ़ता... 'मुझे क्या हो गया है ?'...'मुझे क्या हो गया है ?'...'यह मुझे क्या हो गया है ?"

सात रातों तक यही होता रहा। आख़िर तंग आकर भोलू ने अपनी पत्नी को मायके भेज दिया। बीस-पचीस दिन बीत गये तो गामा ने भोलू कहा, "तू अजीब आदमी है। नयी-नयी शादी, और बीवी को मायके भज दिया। इतने दिन हो गये उसे गये हुए। तुम अकेले कैसे सोते हो ?"

भोलू ने केवल इतना कहा, "ठीक है !"

गामा ने पूछा, "ठीक क्या है ? जो बात है, बताओ ! क्या तुम्हें पसन्द नहीं आयी आयशा ?"

"यह बात नहीं है।"

"यह बात नहीं है तो और क्या बात है ?"

भोलू बात गोल कर गया। पर थोड़े ही दिनों बाद उसके भाई ने फिर बात छेड़ी। भोलू उठकर क्वार्टर के बाहर चला गया। बाहर एक चारपाई पड़ी थी, उस पर बैठ गया। भीतर से उसको अपनी भाभी की आवाज़ सुनायी दी। वह गामा से कह रही थी ,"तुम जो कहते हो ना कि भोलू को आयशा पसन्द नहीं आयी, यह ग़लत है !'

गामा की आवाज़ आयी, "तो और क्या बात है ? भोलू को उससे कोई दिलचस्पी ही नहीं !"

"दिलचस्पी क्या हो?"

"क्यों?"

गामा की बीवी ने इसका जो जवाब दिया, भोलू न सुन सका। लेकिन इसके बावजूद उसको ऐसा लगा मानो उसका सारा अस्तित्व किसी ने चक्की में डालकर पीस दिया हो।

गामा एक दम ज़ोर से बोला, "नहीं, नहीं! यह तुमसे किसने कहा?"

गामा की बीवी बोली, "आयशा ने अपनी किसी सहेली से कहा..... बात उड़ते-उड़ते मुझ तक पहुँच गयी।"

बड़े दुख भरे स्वर में गामा ने कहा, "यह तो बहुत बुरा हुआ।"

भोलू के हृदय में छुरी-सी उतर गयी। उसका दिमाग़ी संतुलन बिगड़ गया। वह उठा और कोठे पर चढ़कर जितने टाट लगे थे, उन्हें उखेड़ना शुरू कर दिया। खट-खट, फट-फट सुनकर लोग ऊपर जमा हो गये। उन्होंने उसको रोकने की कोशिश की तो वह लड़ने लगा। बात बढ़ गयी। कल्लू ने बाँस उठाकर उसके सिर पर दे मारा। भोलू चकराकर गिरा और बेहोश हो गया। जब उसे होश आया, तो उसका दिमाग़ चल चुका था।

अब भोलू बिलकुल नंगा बाज़ारों में घूमता-फिरता है। कहीं टाट लटका देखता है तो उसको उतारकर टुकड़े-टुकड़े कर देता है।

# हतक

दिन भर की थकी माँदी वह अभी-अभी अपने बिस्तर पर लेटी थी और लेटते ही सो गयी थी। म्युनिसिपल कमेटी का सफ़ाई का दारोग़ा जिसे वह 'सेठ' के नाम से पुकारा करती थी, अभी-अभी उसकी हड्डियाँ-पसलियाँ झँझोड़कर शराब के नशे में चूर, घर को वापस गया था।... वह रात को यहीं ठहर जाता, पर उसे अपनी धर्म-पत्नी का बहुत ख़याल था जो उससे बेहद प्रेम करती थी।

वे रुपये जो उसने अपने शारीरिक परिश्रम के बदले उस दारोग़ा से वसूल किये थे, उसकी चुस्त और थूक भरी चोली के नीचे से ऊपर को उभरे हुए थे। कभी-कभी साँस के उतार-चढ़ाव से चाँदी के ये सिक्के खनखनाने लगते थे और उनकी खनखनाहट उसके दिल की बेसुरी धड़कनों में घुल-मिल जाती। ऐसा मालूम होता था कि उन सिक्कों की चाँदी पिघलकर उसके दिल के ख़ून में टपक रही है।

उसका सीना अन्दर से तप रहा था। यह गर्मी कुछ तो उस ब्राँडी

के कारण थी, जिसका अद्धा दारोग़ा अपने साथ लाया था और कुछ उस 'ब्योड़े' का फल थी जिसको सोडा ख़त्म होने पर दोनों ने पानी मिलाकर पिया था।

वह सागौन के लम्बे-चौड़े पलंग पर औंधे मुँह लेटी थी। उसकी बाहें, जो कंधों तक नंगी थीं, पतंग की उस काँप की तरह फैली हुई थीं जो रात ओस में भीग जाने के कारण पतले काग़ज़ से अलग हो जाय। दायें बाज़ू की बगल में झुर्रियों भरा माँस उभरा हुआ था जो बार-बार मूँडने के कारण नीली-काली रंगत धारण कर गया था। लगता था जैसे नुची हुई मुर्गी की खाल का एक टुकड़ा वहाँ पर रख दिया गया है।

कमरा बहुत छोटा था, जिसमें अनगिनत चीज़ें अस्त-व्यस्त बिखरी हुई थीं। तीन-चार सूखी-सड़ी चप्पलें पलंग के नीचे पड़ी थीं जिनके ऊपर मुँह रखकर एक खाज का मारा कुत्ता सो रहा था और नींद में किसी अज्ञात वस्तु का मुँह चिड़ा रहा था। उस कुत्ते के बाल जगह-जगह से खुजली के कारण उड़े हुए थे। दूर से यदि कोई उस कुत्ते को देखता तो समझता कि पैर पोंछने वाला पुराना टाट दोहरा कर ज़मीन पर रखा हुआ है।

उस तरफ़ छोटी-सी दीवारगीर पर सिंगार का सामान रखा था-- गालों पर लगाने की सुर्ख़ी, ओठों की लाल बत्ती, पाउडर, कंघी और लोहे के पिन, जो शायद वह अपने जूड़े में लगाया करती थी। पास ही एक लम्बी खूँटी के साथ तोते का पिंजड़ा लटक रहा था, जो गर्दन को अपनी पीठ के बालों में छिपाये सो रहा था। पिंजड़ा कच्चे अमरूद के टुकड़ों और गले हुए संतरे के छिलकों से भरा हुआ था। उन बदबूदार टुकड़ों पर छोटे-छोटे काले रंग के मच्छर या पतंगे उड़ रहे थे।

पलंग के पास ही बेंत की कुर्सी पड़ी थी, जिसकी पीठ सिर टेकने के कारण अत्यधिक मैली हो रही थी। कुर्सी के दायें हाथ को एक सुन्दर तिपाई थी, जिस पर हिज़ मास्टर्स वॉइस का पोर्टेबल ग्रामोफ़ोन पड़ा था। उस ग्रामोफ़ोन पर मढ़े हुए काले कपड़े की बहुत बुरी दशा थी। मोरचा लगी सुइयाँ तिपाई के अतिरिक्त कमरे के हर कोने में बिखरी पड़ी

थीं। उस ग्रामोफ़ोन के ठीक ऊपर, दीवार पर चार फ्रेम लटक रहे थे जिनमें विभिन्न व्यक्तियों की तस्वीरें जड़ी थीं।

इन तस्वीरों से ज़रा हटकर, याने दरवाज़े में दाख़िल होते ही बायीं तरफ़ की दीवार के कोने में चौखटे में जड़ा बड़े ही भड़कीले रंग का गणेश जी चित्र था जो ताज़ा और सूखे फूलों से लदा हुआ था। लगता था यह चित्र कपड़े के किसी थान से उतारकर फ्रेम कराया गया है। उस चित्र के साथ छोटी सी दीवारगीर पर, जो कि अत्यधिक चिकनी हो रही थी, तेल की एक प्याली धरी थी जो दिये को जलाने के लिए वहाँ रखी गयी थी। पास ही दिया पड़ा था, जिसकी लौ हवा बन्द होने के कारण माथे के तिलक की तरह सीधी खड़ी थी। उस दीवारगीर पर धूप की छोटी-बड़ी मरोड़ियाँ भी पड़ी थीं।

जब वह बोहनी करती थी तो दूर से गणेश जी की उस मूर्ति से दिया छुआकर और फिर अपने माथे के साथ लगाकर उन्हें अपनी चोली में रख लिया करती थी। उसकी छातियाँ काफ़ी उभरी हुई थीं, इसलिए वह जितने रुपये भी अपनी चोली में रखती, सुरक्षित पड़े रहते। हाँ, कभी-कभी जब माधो पूने से छुट्टी लेकर आता तो उसे अपने कुछ रुपये पलंग के पाये के नीचे उस छोटे से गढ़े में छिपाने पड़ते थे जो उसने विशेष रूप से इसी काम के लिए खोद रखा था। माधो से रुपया बचाये रखने का यह तरीक़ा सुगंधी को रामलाल दलाल ने बताया था। उसने जब यह सुना था कि माधो पूने से आकर सुगंधी पर धावे बोलता है तो कहा था, "उस साले को तूने कब से यार बनाया है ?....यह बड़ी अनोखी आशिक़ी-माशूकी है !... साला एक पैसा अपनी जेब से निकालता नहीं और तेरे साथ मज़े उड़ाता है। मज़े अलग रहे, तुझसे कुछ ले भी मरता है......सुगंधी ! मुझे कुछ दाल में काला नज़र आता है। उस साले में कोई बात ज़रूर है जो तुझे भा गया है....सात साल से यह धंधा कर रहा हूँ। मैं तुम छोकरियों की सारी कमज़ोरियाँ जानता हूँ।"

यह कहकर रामलाल दलाल ने, जो बम्बई के विभिन्न भागों में दस

रुपये से लेकर सौ रुपये तक वाली एक सौ बीस छोकरियों का धंधा करता था, सुगंधी को बताया, "साली अपना धन यों बरबाद न कर......तेरे तन पर से ये कपड़े भी उतारकर ले जायगा वह तेरी माँ का यार।...... इस पलंग के पाये के नीचे छोटा सा गढ़ा खोदकर, उसमें सारे पैसे दबा दिया कर और जब वह यहाँ आया करे तो उससे कहा कर—तेरी जान की क़सम माधो, आज सुबह से एक धेले का मुँह नहीं देखा। बाहर वाले से कहकर एक 'कोप' चाय और एक अफ़लातून बिस्कुट तो मँगा। भूख से मेरे पेट में चूहे दौड़ रहे हैं......समझी ? समय बहुत ख़राब आ गया है मेरी जान ......इस साली काँग्रेस ने शराब बन्द करके बाज़ार बिलकुल मंदा कर दिया है। पर तुझे तो कहीं-न-कहीं से पीने को मिल ही जाती है। भगवान क़सम, जब तेरे यहाँ कभी रात की ख़ाली की हुई बोतल देखता हूँ और दारू की बास सूँघता हूँ तो जी चाहता है तेरी जून (योनी) में चला जाऊँ !"

सुगंधी को अपने जिस्म में सबसे ज़्यादा अपना सीना पसन्द था। एक बार जमुना ने उससे कहा था, "नीचे से इन बम के गोलों को बाँधकर रखा कर! अंगिया पहना करेगी तो इनकी सख़्ताई ठीक रहेगी।"

सुगंधी यह सुनकर हँस दी थी, "जमुना, तू सब को अपने सरीखा समझती है। दस रुपये में लोग तेरी बोटियाँ तोड़कर चले जाते हैं तो तू समझती है कि सब के साथ भी ऐसा ही होता होगा......कोई मुआ लगाये तो ऐसी-वैसी जगह हाथ......अरे हाँ, कल की बात तुझे सुनाऊँ। रामलाल रात के दो बजे एक पंजाबी को लाया। रात का तीस रुपया तय हुआ...जब सोने लगे तो मैंने बत्ती बुझा दी...अरे, वह तो डरने लगा। ...सुनती हो जमुना ? तेरी क़सम, अँधेरा होते ही उसका सारा ठाठ किरकिरा हो गया।...वह डर गया। मैंने कहा, 'चलो देर क्यों करते हो। तीन बजने वाले हैं, अभी दिन चढ़ आयेगा।'... बोला, 'रोशनी करो।...रोशनी करो।'...मैंने कहा, 'यह रोशनी क्या हुआ ?'...बोला, 'लाइट...लाइट।'...उसकी भिंची हुई आवाज़ सुनकर मुझसे हँसी न रुकी।...भई मैं तो लाइट न करूँगी।'...और

यह कहकर मैंने उसकी माँस भरी रान में चुटकी ली।...वह तड़पकर उठ बैठा और लाइट ऑन कर दी। मैंने झट से चादर ओढ़ ली, और कहा, 'तुझे शर्म नहीं आती मर्दुए!'...वह पलंग पर आया तो मैं उठी और लपक-कर लाइट बुझा दी। वह फिर घबराने लगा...तेरी क़सम, बड़े मज़े में रात कटी। कभी अँधेरा, कभी उजाला, कभी उजाला, कभी अँधेरा... ट्राम की खड़खड़ाहट हुई तो पतलून-वतलून पहनकर वह उठ भागा...साले ने तीस रुपये सट्टे में जीते होंगे जो यों मुफ़्त दे गया...जमुना, तू बिलकुल अल्हड़ है। बड़े-बड़े गुर याद हैं मुझे इन लोगों को ठीक करने के लिए।"

सुगंधी को सचमुच बहुत से गुर याद थे, जो उसने अपनी एक-दो सहेलियों को बताये भी थे। आम तौर पर यह वह गुर सब को बताया करती थी—"अगर आदमी भला हो, अधिक बातें न करने वाला हो, तो उससे खूब शरारतें करो, अनगिनत बातें करो, उसे छेड़ो, सताओ, उसके गुदगुदी करो, उससे खेलो......अगर डाढ़ी रखता हो तो उसमें उंग-लियों से कंघी करते-करते दो-चार बाल भी नोच लो, पेट बड़ा हो तो थपथपाओ...उसको इतनी मोहलत ही न दो कि अपनी इच्छा से कुछ करने पाये......वह ख़ुश-ख़ुश चला जायगा और तुम भी बची रहोगी...ऐसे मर्द जो गुपचुप रहते हों, बड़े ख़तरनाक होते हैं बहन... हड्डी-पसली तोड़ देते हैं अगर उनका दाँव चल जाय।"

सुगंधी उतनी चालाक नहीं थी, जितनी ख़ुद को प्रकट करती थी। उसके गाहक बहुत कम थे। अत्यधिक भावुक लड़की थी, यही कारण है कि वे सारे गुर जो उसे याद थे, उसके दिमाग़ से फिसलकर उसके पेट में आ जाते थे, जिस पर एक बच्चा हो जाने के कारण, कई लकीरें पड़ गयी थीं। ..इन लकीरों को पहली बार देखकर उसे ऐसा लगा था कि उसके खाज मारे कुत्ते ने अपने पंजे से ये निशान बना दिये हैं।......जब कोई कुतिया बड़ी उपेक्षा से उसके पालतू कुत्ते के पास से गुज़र जाती थी तो वह शर्मिन्दगी दूर करने के लिए ज़मीन पर अपने पंजों से इसी तरह के निशान बनाया करता था।

सुगंधी दिमाग़ में अधिक रहती थी, लेकिन जैसे ही कोई नर्म-नाजुक बात—कोई कोमल बोल—उससे कहता, वह झट पिघलकर अपने शरीर के दूसरे भागों में फैल जाती। यद्यपि मर्द और औरत के शारीरिक मिलाप को उसका दिमाग़ एकदम व्यर्थ की चीज़ समझता था, पर उसके शेष अंग—सब-के-सब—इसके बुरी तरह क़ायल थे। वे थकन चाहते थे—ऐसी थकन जो उन्हें झकझोरकर—उन्हें मारकर सोने पर मजबूर कर दे। ऐसी नींद, जो थककर चूर-चूर होने के बाद आये, कितनी मज़ेदार होती है!... वह बेहोशी जो मार खाकर, जोड़-जोड़ ढीले हो जाने पर छा जाती है, कितना आनन्द देती है!......कभी ऐसा लगता है कि तुम हो और कभी ऐसा लगता है कि तुम नहीं हो! और इस होने और न होने के बीच कभी-कभी ऐसा महसूस होता है कि तुम हवा में बहुत ऊँची जगह लटके हुए हो। ऊपर हवा, नीचे हवा, दायें हवा, बायें हवा। बस हवा ही हवा! और फिर उस हवा में दम घुटना भी एक ख़ास मज़ा देता है।

बचपन में जब वह आँख-मिचौनी खेला करती थी और अपनी माँ का बड़ा सन्दूक़ खोलकर उसमें छिप जाया करती थी तो नाकाफ़ी हवा में दम घुटने के साथ-साथ पकड़े जाने के डर से वह तेज़ धड़कन, जो उसके दिल में पैदा हो जाया करती थी, कितना मज़ा दिया करती थी!

सुगंधी चाहती थी कि अपनी सारी ज़िन्दगी किसी ऐसे ही सन्दूक़ में छिपकर गुज़ार दे जिसके बाहर ढूँढ़ने वाले फिरते रहें। कभी-कभी उसको ढूंढ़ निकालें ताकि वह भी उनको ढूँढ़ने की कोशिश करे। यह ज़िन्दगी जो वह पाँच वर्ष से बिता रही थी, आँख-मिचौनी ही तो थी!...कभी वह किसी को ढूँढ़ लेती थी और कभी कोई उसे ढूंढ़ लेता था.....बस योंही उसका जीवन बीत रहा था। वह खुश थी, इसलिए कि उसको खुश रहना पड़ता था। हर रोज़ रात को कोई-न-कोई मर्द उसके चौड़े सागौनी पलंग पर होता था और सुगंधी, जिस को मर्दों को ठीक करने के अनगिनत गुर याद थे, इस बात का बार-बार निश्चय करने पर भी कि वह उन मर्दों की कोई ऐसी-वैसी बात नहीं मानेगी और उनके साथ बड़े रूखेपन से पेश

आयेगी, हमेशा अपनी भावनाओं में बह जाया करती थी और सिर्फ़ एक प्यासी औरत रह जाया करती थी !

हर रोज़ रात को उसका पुराना या नया मुलाक़ाती उससे कहा करता था, "सुगंधी ! मैं तुझसे प्रेम करता हूँ ।" और सुगंधी यह जानते हुए भी कि वह झूठ बोलता है, मोम हो जाती थी और अनुभव करती थी जैसे सचमुच उससे प्रेम किया जा रहा है—प्रेम—कितना सुन्दर बोल है ! वह चाहती थी उसको पिघलाकर अपने सारे अंगों पर मल ले, उसकी मालिश करे ताकि यह सारे-का-सारा उसके लोम-रंध्रों में रच जाय ......या फिर वह स्वयं उसके अन्दर चली जाय । सिमट-सिमटाकर उसके अन्दर दाख़िल हो जाय और ऊपर से ढकना बन्द कर दे । कभी-कभी जब प्रेम करने और प्रेम किये जाने की आकांक्षा उसके अन्तर में तीव्रतर हो उठती तो कई बार उसके मन में आता कि अपने पास पड़े हुए आदमी को गोद में लेकर थपथपाना शुरू कर दे और लोरियाँ देकर उसे अपनी गोद में ही सुलादे !

प्रेम कर सकने की क्षमता उसके अन्दर इतनी अधिक थी कि हर उस मर्द से, जो उसके पास आता था, वह प्रेम कर सकती थी और फिर उसको निभा सकती थी । अब तक चार मर्दों से वह प्रेम निभा ही तो रही थी, जिनकी तस्वीरें उसके सामने दीवार पर लटक रही थीं । हर समय यह भाव उसके मन में बना रहता था कि वह बहुत अच्छी है । लेकिन यह अच्छा-पन मर्दों में क्यों नहीं होता, यह बात उसकी समझ में न आती थी ।...... एक बार आईना देखते हुए अनायास उसके मुँह से निकल गया था— 'सुगंधी ! तुझसे ज़माने ने अच्छा सलूक नहीं किया !'

यह ज़माना, यानी पाँच वर्षों के दिन और उनकी रातें, उसके जीवन के हर तार के साथ बँधा था । यद्यपि उस ज़माने से उसको वह ख़ुशी नसीब नहीं हुई थी, जिसकी इच्छा उसके मन में मौजूद थी, फिर भी वह चाहती थी कि योंही उसके दिन बीतते चले जायँ । उसे कौन महल खड़े करने थे जो रुपये पैसे का लालच करती । दस रुपये उसका आम रेट था,

जिसमें से अढ़ाई रुपये रामलाल अपनी दलाली के काट लेता था। साढ़े सात रुपये उसे रोज़ मिल ही जाया करते थे जो उसकी अकेली जान के लिए काफ़ी थे और माधो जब पूने से, रामलाल दलाल के कथनानुसार, सुगंधी पर धावे बोलने के लिए आता था, तो वह दस-पन्द्रह रुपये टैक्स-स्वरूप भी अदा करती थी ! यह टैक्स सिर्फ़ इस बात का था कि सुगंधी को उससे कुछ वह हो गया था। रामलाल दलाल ठीक कहता था, उसमें कुछ ऐसी बात ज़रूर थी, जो सुगंधी को बहुत भा गयी थी। अब उसको छिपाना क्या ? बता ही क्यों न दें।...सुगंधी से जब माधो की पहली मुलाक़ात हुई तो उसने कहा था, 'तुझे लाज नहीं आती अपना भाव करते ! जानती है, तू मेरे साथ किस चीज़ का सौदा कर रही है ? ......और मैं तेरे पास क्यों आया हूँ ?...छिः-छिः-छिः...दस रुपये, और जैसा कि तू कहती है, ढाई रुपये दलाल के, बाकी रहे साढ़े सात—रहे न साढ़े सात ?... अब इन साढ़े सात रुपल्लियों पर तू मुझे ऐसी चीज़ देने का वचन देती है जो तू दे ही नहीं सकती और मैं ऐसी चीज़ लेने आया हूँ जो मै ले नहीं सकता... मुझे औरत चाहिए, पर तुझे क्या इसी वक्त, इसी घड़ी मर्द चाहिए ?... मुझे तो कोई भी औरत भा जायगी, पर क्या मैं तुझे जँचता हूँ ?... तेरा मेरा नाता ही क्या है, कुछ भी नहीं...बस ये दस रुपये, जिनमें से ढाई दलाली में चले जायेंगे और बाक़ी इधर-उधर बिखर जायेंगे, तेरे और मेरे बीच बज रहे हैं...तू भी इनका बजना सुन रही है और मैं भी ! तेरा मन कुछ और सोचता है, मेरा मन कुछ और...क्यों न कोई ऐसी बात करें कि तुझे मेरी ज़रूरत हो और मुझे तेरी...पूने में हवलदार हूँ। महीने में एक बार आया करूँगा, तीन-चार दिन के लिए...यह धंधा छोड़...मैं तुझे ख़र्च दे दिया करूँगा...क्या भाड़ा है इस खोली का ?'

माधो ने और भी बहुत कुछ कहा था, जिसका असर सुगंधी पर इतना ज़्यादा हुआ था कि वह कुछ क्षणों के लिए अपने आप को हवलदारिनी समझने लगी थी। बातें करने के बाद माधो ने उसके कमरे की बिखरी

हुई चीज़ें करीने से रखी थीं और नंगी तस्वीरें, जो सुगंधी ने अपने सिरहाने लगा रखी थीं, बिना पूछे फाड़ दी थीं और कहा था, 'सुगंधी, भई मैं ऐसी तस्वीरें यहाँ नहीं रखने दूंगा...और पानी का यह घड़ा...देख तो, कितना मैला है, और ये...ये चिथड़े...ये चिन्दियाँ...उफ़, कितनी बुरी बास आती है ! उठा के बाहर फेंक इनको...और तूने अपने बालों का क्या सत्यानाश कर रखा है...और...और...।'

तीन घंटे की बातचीत के बाद सुगंधी और माधो दोनों आपस में घुल-मिल गये थे और सुगंधी को तो ऐसा महसूस हुआ था कि वह बरसों से हवलदार को जानती है ! उस वक्त तक किसी ने भी कमरे में बदबूदार चिथड़ों, मैले घड़े और नंगी तस्वीरों की उपस्थिति का ख़याल नहीं किया था और न कभी किसी ने उसको यह महसूस करने का मौक़ा दिया था कि उसका एक घर है, जिसमें घरेलूपन आ सकता है। लोग आते थे और बिस्तर तक की गन्दगी को महसूस किये बिना चले जाते थे। कोई सुगंधी से यह न कहता था, 'देख तो, आज तेरी नाक कितनी लाल हो रही है। कहीं जुक़ाम न हो जाय तुझे....ठहर, मैं तेरे लिए दवा लाता हूँ।' माधो कितना अच्छा था! उसकी हर बात बावन तोला और पाव रत्ती की थी। क्या खरी-खरी सुनायी थी उसने सुगंधी को.....उसे महसूस होने लगा कि उसे माधो की ज़रूरत है। अतएव उन दोनों का सम्बन्ध हो गया।

महीने में एक बार माधो पूने से आता था और वापस जाते हुए हमेशा सुगंधी से कहा करता था, "देख सुगंधी! अगर तूने फिर से अपना धंधा शुरू किया तो बस तेरी-मेरी टूट जायगी।.....अगर तूने एक बार भी किसी मर्द को अपने यहाँ ठहराया तो चुटिया से पकड़कर बाहर निकाल दूंगा..... देख इस महीने का खर्च मैं तुझे पूना पहुँचते ही मनी-आर्डर कर दूंगा······हाँ, क्या भाड़ा है इस खोली का?.....'

न माधो ने कभी पूने से ख़र्च भेजा था और न सुगंधी ने अपना धंधा बन्द किया था। दोनों अच्छी तरह जानते थे, क्या हो रहा है? न सुगंधी ने कभी माधो से यह कहा था, 'तू यह टर-टर क्या करता है, एक

फूटी कौड़ी भी दी है कभी तूने ?" और न माधो ने कभी सुगंधी से पूछा था, 'यह माल तेरे पास कहाँ से आता है जब कि मैं तुझे कुछ देता ही नहीं।' ......दोनों झूठे थे, दोनों एक गिलट की हुई ज़िन्दगी बिता रहे थे। ......लेकिन सुगंधी खुश थी। जिसको असल सोना पहनने को न मिले वह गिलट किये हुए गहनों पर ही संतोष कर लिया करता है।

उस समय सुगंधी थकी-माँदी सो रही थी। बिजली का हंडा जिसे वह ऑफ़ करना भूल गयी थी, उसके सिर के ऊपर लटक रहा था। उसकी तेज़ रोशनी उसकी मुँदी हुई आँखों के साथ टकरा रही थी, पर वह गहरी नींद सो रही थी।

दरवाज़े पर दस्तक हुई।...रात के दो बजे यह कौन आया था ? सुगंधी के स्वप्निल कानों में दस्तक की आवाज़ भनभनाहट बनकर पहुँची। दरवाज़ा जब ज़ोर से खटखटाया गया तो वह चौंककर उठ बैठी।.....दो मिली-जुली शराबों और दाँतों के जोड़ों में फँसे हुए मछली के रेशों ने उसके मुँह के अन्दर ऐसा लुआब पैदा कर दिया था जो बेहद कसैला और लेसदार था। धोती के पल्लू से उसने यह बदबूदार लुआब साफ़ किया और आँखें मलने लगी। पलंग पर वह अकेली थी। झुककर उसने पलंग के नीचे देखा तो उसका कुत्ता सूखी हुई चप्पलों पर मुँह रखे सो रहा था और नींद में किसी अज्ञात चीज़ का मुँह चिढ़ा रहा था और तोता पीठ के बालों में सिर दिये सो रहा था।

दरवाज़े पर दस्तक हुई। सुगंधी बिस्तर पर से उठी। सिर दर्द के मारे फटा जा रहा था। घड़े से पानी का एक डोंगा निकालकर उसने कुल्ली की और दूसरा डोंगा गटागट पीकर उसने दरवाज़े का पट थोड़ा-सा खोला और कहा, "रामलाल ?"

रामलाल, जो बाहर दस्तक देते-देते थक गया था, भन्नाकर बोला, "तुझे साँप सूँघ गया था या क्या हो गया था ? एक क्लाक (घंटे) से बाहर खड़ा दरवाज़ा खटखटा रहा हूँ। कहाँ मर गयी थी ?" फिर आवाज़ दबाकर उसने हौले से पूछा, "अन्दर कोई है तो नहीं ?"

जब सुगंधी ने कहा—"नहीं" तो रामलाल की आवाज़ फिर ऊँची हो गयी, "तू दरवाज़ा क्यों नहीं खोलती ? . . . . . भई हद हो गयी। क्या नींद पायी है। ऐसे एक-एक छोकरी को उतारने में दो-दो घंटे सिर खपाना पड़े तो मैं अपना धंधा कर चुका। . . . अब तू मेरा मुँह क्या देखती है। झटपट यह धोती उतारकर वह फूलों वाली साड़ी पहन, पाउडर लगा और चल मेरे साथ . . . बाहर मोटर में एक सेठ बैठे तेरा इन्तज़ार कर रहे हैं . . . चल चल, एकदम जल्दी कर।"

सुगंधी आराम कुर्सी पर बैठ गयी और रामलाल आईने के सामने अपने बालों में कंघी करने लगा।

सुगंधी ने तिपाई की तरफ़ हाथ बढ़ाया और बाम की शीशी उठाकर उसका ढकना खोलते हुए कहा, "रामलाल, आज मेरा जी अच्छा नहीं।"

रामलाल ने कंघी दीवारगीर पर रख दी और मुड़कर कहा, "तो पहले ही कह दिया होता।"

सुगंधी ने माथे और कनपटियों पर बाम मलते हुए रामलाल का भ्रम दूर कर दिया, "वह बात नहीं रामलाल . . . . . ऐसे ही मेरा जी अच्छा नहीं . . . . . बहुत पी गयी।"

रामलाल के मुँह में पानी भर आया, "थोड़ी बची हो तो ला . . . ज़रा हम भी मुँह का मज़ा ठीक कर लें।"

सुगंधी ने बाम की शीशी तिपाई पर रख दी और कहा, "बचायी होती तो यह मुआ सिर में दर्द ही क्यों होता . . . . . देख रामलाल, वह जो बाहर मोटर में बैठा है, उसे अन्दर ही ले आ।"

रामलाल ने जवाब दिया, "नहीं भई वह अन्दर नहीं आ सकते। जेन्टलमैन आदमी हैं। वो तो मोटर को गली के बाहर खड़ी करते हुए भी घबराते थे . . . . . तू कपड़े-वपड़े पहन ले और ज़रा गली के नुक्कड़ तक चल . . . . . सब ठीक हो जायेगा।"

साढ़े सात रुपये का सौदा था। सुगंधी उस हालत में, जब कि उसके सिर में अतीव पीड़ा हो रही थी, कभी स्वीकार न करती, लेकिन उसे रुपयों

की सख़्त ज़रूरत थी। उसके साथ वाली खोली में एक मद्रासी औरत रहती थी, जिसका पति मोटर के नीचे आकर मर गया था। उस औरत को अपनी जवान लड़की सहित अपने घर जाना था, लेकिन उसके पास क्योंकि किराया ही नहीं था, इसलिए वह असहाय अवस्था में पड़ी थी। सुगंधी ने कल ही उसको ढारस दिया था और उससे कहा था, "बहन, तू चिन्ता न कर। मेरा आदमी पूने से आने ही वाला है। मैं उससे कुछ रुपये लेकर तेरे जाने का प्रबन्ध कर दूँगी।"......माधो पूना से आने वाला था, पर रुपयों का प्रबन्ध तो सुगंधी को ही करना था। इसलिए वह उठी और जल्दी-जल्दी कपड़े बदलने लगी। पाँच मिनटों में उसने धोती उतारकर फूलों वाली साड़ी पहनी और गालों पर लाल पाउडर लगाकर तैयार हो गयी। घड़े के ठंडे पानी का एक और डोंगा पिया और रामलाल के साथ हो ली।

गली, जो कि छोटे शहरों के बाज़ारों से भी कुछ बड़ी थी, बिलकुल ख़ामोश थी। गैस के वे लेम्प जो खम्भों पर जड़े थे, पहले की अपेक्षा बहुत धुंधली रोशनी दे रहे थे। लड़ाई[1] के कारण उनके शीशों को गँदला कर दिया गया था। उस अंधी रोशनी में गली के आख़िरी सिरे पर एक मोटर नज़र आ रही थी।

कमज़ोर रोशनी में उस काले रंग की मोटर का साया सा नज़र आया और रात के पिछले पहर का भेद-भरा सन्नाटा...सुगंधी को ऐसा लगा कि उसके सिर का दर्द वातावरण पर भी छा गया है। एक कसैलापन उसे हवा के अन्दर भी महसूस होता था जैसे ब्राँडी और ब्योड़े की बास से वह भी बोझिल हो रही है।

आगे बढ़कर रामलाल ने मोटर के अन्दर बैठे हुए आदमियों से कुछ कहा। इतने में जब सुगंधी मोटर के पास पहुँच गयी तो रामलाल ने एक तरफ़ हटकर कहा, "लीजिए, वह आ गयी...बड़ी अच्छी छोकरी है।

---

[1] द्वितीय महायुद्ध

थोड़े ही दिन हुए हैं इसे धंधा शुरू किये।" फिर सुगंधी की ओर मुड़कर कहा—"सुगंधी, इधर आ, सेठ जी बुलाते हैं।"

सुगंधी साड़ी का एक किनारा अपनी उंगली पर लपेटती हुई आगे बढ़ी और मोटर के दरवाज़े के पास खड़ी हो गयी। सेठ ने टार्च उसके चेहरे के पास रोशन की। एक क्षण के लिए उस रोशनी ने सुगंधी की ख़ुमार भरी आँखों में चकाचौंध पैदा की। बटन दबाने की आवाज़ पैदा हुई और रोशनी बुझ गयी। साथ ही सेठ के मुँह से 'उँह' निकली। फिर एकदम मोटर का इंजन फड़फड़ाया और कार यह जा वह जा......

सुगंधी कुछ सोचने भी न पायी थी कि मोटर चल दी। उसकी आँखों में अभी तक टार्च की तेज़ रोशनी घुसी हुई थी। वह ठीक तरह सेठ का चेहरा भी तो न देख सकी थी। यह आख़िर हुआ क्या था? इस 'उँह' का क्या मतलब था जो अभी तक उसके कानों में भनभना रही थी। क्या?... क्या?

रामलाल दलाल की आवाज़ सुनायी दी, "पसंद नहीं किया तुझे? ......अच्छा भई मैं चलता हूँ। दो घंटे मुफ़्त में ही बरबाद किये।"

यह सुनकर सुगंधी की टाँगों में, उसकी बाँहों में, उसके हाथों में एक ज़बरदस्त हरकत का इरादा पैदा हुआ। कहाँ थी वह मोटर...कहाँ था वह सेठ—"तो 'उँह' का मतलब यह था कि उसने मुझे पसन्द नहीं किया .....उसकी..."

गाली उसके पेट के अन्दर से उठी और ज़बान की नोक पर आकर रुक गयी। वह आख़िर गाली किसे देती। मोटर तो जा चुकी थी। उसकी दुम की लाल बत्ती उसके सामने बाज़ार के अँधियारे में डूब रही थी और सुगंधी को ऐसा लग रहा था कि यह लाल-लाल अंगारा 'उँह' है जो उसके सीने में बम की तरह उतरा चला जा रहा है। उसके जी में आया कि ज़ोर से पुकारे 'ओ सेठ... ओ सेठ... ज़रा मोटर रोकना अपनी... बस एक मिनट के लिए।" पर वह सेठ, थू है उसकी ज़ात पर, बहुत दूर निकल चुका था।

वह सुनसान बाजार में खड़ी थी। फूलों वाली साड़ी, जो वह ख़ास-ख़ास मौक़ों पर पहना करती थी, रात के पिछले पहर की हल्की-फुल्की हवा से लहरा रही थी। यह साड़ी और उसकी रेशमी सरसराहट सुगंधी को कितनी बुरी मालूम होती थी। वह चाहती थी कि उस साड़ी के चिथड़े उड़ा दे, क्योंकि साड़ी हवा में लहरा-लहराकर 'उँह, उँह' कर रही थी।

गालों पर उसने पाउडर लगाया था और ओठों पर सुर्ख़ी। जब उसे ख़याल आया कि यह सिंगार उसने अपने आपको पसन्द कराने के लिए किया था तो शर्म के मारे उसे पसीना आ गया। यह शर्मिन्दगी दूर करने के लिए उसने क्या कुछ न सोचा—'मैंने उस मुए को दिखाने के लिए थोड़े-ही अपने आपको सजाया था। यह तो मेरी आदत है—मेरी क्या सब की यही आदत है...पर...पर... यह रात के दो बजे और राम-लाल दलाल और...यह बाज़ार...और वह मोटर और बैट्री की चमक।'... यह सोचते ही रोशनी के धब्बे उसकी दृष्टि-सीमा तक वायुमंडल में इधर-उधर तैरने लगे और मोटर के इंजन की फड़फड़ाहट उसे हवा के हर झोंके में सुनायी देने लगी।

उसके माथे पर बाम का लेप जो श्रृंगार करते समय बिलकुल हल्का हो गया था, पसीना आने के कारण उसके लोम-रंध्रों में दाख़िल होने लगा और सुगंधी को अपना माथा किसी और का माथा मालूम हुआ। जब हवा का एक झोंका उसके पसीने से भीगे माथे के पास से गुज़रा तो उसे ऐसा लगा कि ठंडा-ठंडा टीन का टुकड़ा काटकर उसके माथे के साथ चिपका दिया गया है। सिर में दर्द वैसे-का-वैसा मौजूद था, पर विचारों की भीड़-भाड़ और उनके शोर ने उस दर्द को अपने नीचे दबा रखा था। सुगंधी ने कई बार उस दर्द को अपने विचारों के नीचे से निकालकर ऊपर लाना चाहा, पर नाकाम रही। वह चाहती थी कि किसी-न-किसी तरह उसका अंग-अंग दुखने लगे। उसके सिर में दर्द हो, उसकी टाँगों में दर्द हो, उसके पेट में दर्द हो, उसकी बाँहों में दर्द हो—ऐसा दर्द कि वह सिर्फ़ दर्द ही का ख़याल करे और सब कुछ भूल जाय! यह सोचते-सोचते उसके

दिल में कुछ हुआ—क्या दर्द था?—निमिष-भर के लिए उसका दिल सिकुड़ा और फिर फैल गया—यह क्या था?......धिक्कार! यह तो वही 'उँह' थी जो उसके दिल के अन्दर कभी सिकुड़ती और कभी फैलती थी।

घर की ओर सुगंधी के क़दम उठे ही थे कि रुक गये और वह ठहर कर सोचने लगी—'रामलाल दलाल का ख़याल है कि उसे मेरी शक्ल पसन्द नहीं आयी—शक्ल का तो उसने ज़िक्र नहीं किया। उसने तो यह कहा था—'सुगंधी तुझे पसन्द नहीं किया।' उसे...उसे... सिर्फ़ मेरी शक्ल ही पसन्द नहीं आयी......नहीं आयी तो क्या हुआ? ...मुझे भी तो कई आदमियों की शक्ल पसन्द नहीं आती... वह जो अमावस की रात को आया था। कितनी बुरी सूरत थी उसकी—क्या मैंने नाक-भौं नहीं चढ़ायी थी? जब वह मेरे साथ सोने लगा था तो मुझे घिन नहीं आयी थी?...क्या मुझे उबकाई आते-आते नही रुक गयी थी? ...ठीक है, पर सुगंधी...तूने उसे दुत्कारा नहीं था, तूने उसे... ठुकराया नहीं था...उस मोटर वाले सेठ ने तो तेरे मुँह पर थूका है...उंह......इस 'उँह' का और मतलब ही क्या है?...यही कि इस छछूँदर के सिर में चमेली का तेल......उँह......यह मुँह और मसूर की दाल......अरे रामलाल, तू यह छिपकली कहाँ से पकड़कर ले आया है...इस लौंडिया की इतनी तारीफ़ कर रहा था तू ......दस रुपये और यह औरत......खच्चर क्या बुरी है...!'

सुगंधी सोच रही थी और उसके पैर के अँगूठे से लेकर सिर की चोटी तक गर्म लहरें दौड़ रही थीं। उसको कभी अपने-आप पर गुस्सा आता था और कभी रामलाल दलाल पर, जिसने रात के दो बजे उसे बे-आराम किया। लेकिन तुरन्त ही दोनों को निर्दोष पाकर वह सेठ का ख़याल करती थी। उस ख़याल के आते ही उसकी आँखें, उसके कान, उसकी बाँहें, उसकी टाँगें, उसका सब कुछ मुड़ता था कि उस सेठ को कहीं देख पाये... उसके अन्दर यह इच्छा बड़ी तीव्रता से उत्पन्न हो रही थी कि जो कुछ हो

चुका है एक बार फिर हो... सिर्फ़ एक बार...वह हौले-हौले मोटर की तरफ़ बढ़े, मोटर के अन्दर से एक हाथ बैट्री निकाले और उसके चेहरे पर रोशनी फेंके, 'उँह' की आवाज़ आये और वह—सुगंधी—अंधाधुंध अपने दोनों पंजों से उसका मुँह नोचना शुरू कर दे। जंगली बिल्ली की तरह झपटे और...अपनी उंगलियों के सारे नाख़ून, जो उसने नये फ़ैशन के अनुसार बढ़ा रखे थे, उस सेठ के गालों में गड़ा दे...... बालों से पकड़कर उसे बाहर घसीट ले और धड़ाधड़ पीटना शुरू कर दे, और जब थक जाय...जब थक जाय तो रोना शुरू कर दे।

रोने का ख़याल सुगंधी को सिर्फ़ इसलिए आया कि उसकी आँखों में क्रोध और बेबसी की शिद्दत के कारण तीन-चार बड़े-बड़े आँसू बन रहे थे। एकाएकी सुगंधी ने अपनी आँखों से प्रश्न किया—तुम रोती क्यों हो? तुम्हें क्या हुआ है कि टपकने लगी हो?...आँखों से किया हुआ प्रश्न कुछ क्षणों तक उन आँसुओं में तैरता रहा जो अब पलकों पर काँप रहे थे। सुगंधी उन आँसुओं में से देर तक उस शून्य को घूरती रही जिधर सेठ की मोटर गयी थी।

फड़ फड़ फड़...यह आवाज़ कहाँ से आयी?... सुगंधी ने चौंककर इधर-उधर देखा, लेकिन किसी को न पाया...अरे! यह तो उसका दिल फड़फड़ाया था। वह समझी थी मोटर का इंजन बोला है ...उसका दिल...यह क्या हो गया था उसके दिल को!...आज ही यह रोग लग गया था उसे......अच्छा भला चलता-चलता एक जगह रुक कर धड़-धड़ क्यों करता था...बिलकुल उस घिसे हुए रेकार्ड की तरह जो सुई के नीचे एक जगह आकर रुक जाता था, "रात कटी गिन गिन तारे" कहता-कहता "तारे तारे" की रट लगा देता था।

आसमान तारों से अटा हुआ था। सुगंधी ने उनकी ओर देखा और कहा—'कितने सुन्दर हैं!'...वह चाहती थी कि अपना ध्यान किसी और तरफ़ पलट दे। पर जब उसने 'सुन्दर' कहा तो झट से यह ख़याल उसके

दिमाग़ में कूदा—'ये तारे सुन्दर हैं, पर तू कितनी भोंडी है. . .क्या भूल गयी कि अभी-अभी तेरी सूरत को फटकारा गया है ?'

सुगंधी कुरूप तो नहीं थी। यह ख़याल आते ही वे तमाम बिम्ब एक-एक करके उसकी आँखों के सामने आने लगे जो इन पाँच बरसों में वह दर्पण में देख चुकी थी। इस में कोई सन्देह नहीं कि उसका रंग-रूप अब वह नहीं रहा था जो आज से पाँच साल पहले था जब कि वह सारी चिन्ताओं से मुक्त अपने माँ-बाप के साथ रहा करती थी। लेकिन वह कुरूप तो नहीं हो गयी थी। उसकी शक्ल-सूरत उन आम औरतों की-सी थी जिनकी ओर मर्द गुज़रते-गुज़रते घूर कर देख लिया करते हैं। उसमें वे सारे गुण मौजूद थे, जो सुगंधी के ख़याल में हर मर्द उस औरत में ज़रूरी समझता है जिसके साथ उसे एक-दो रातें बितानी होती हैं। वह जवान थी, उसके अंग सुडौल थे। कभी-कभी नहाते समय जब उसकी निगाहें अपनी रानों पर पड़ती थीं तो वह स्वयं उनकी गोलाई और गदराहट को पसन्द किया करती थी। वह हँस-मुख थी। इन पाँच वर्षों के बीच शायद ही कोई आदमी उससे नाख़ुश होकर गया हो. . .बड़ी मिलनसार थी, बड़ी सहृदय थी। पिछले दिनों क्रिसमिस में जब वह 'गोल पीठा' मे रहा करती थी, एक नौजवान लड़का उसके पास आया था। सुबह उठकर जब उसने दूसरे कमरे में जाकर खूँटी से अपना कोट उतारा तो बटुआ ग़ायब पाया। सुगंधी का नौकर यह बटुआ ले उड़ा था। बेचारा बहुत परेशान हुआ। छुट्टियाँ बिताने के लिए हैदराबाद से बम्बई आया था। अब उसके पास वापस जाने के लिए दाम न थे। सुगंधी ने तरस खाकर उसे उसके दस रुपये वापस दे दिये थे—'मुझ में क्या बुराई है ?' सुगंधी ने यह प्रश्न हर उस चीज़ से किया जो उसकी आँखों के सामने थी। गैस के अंधे लैम्प, लोहे के खम्भे, फुटपाथ के चौकोर पत्थर और सड़क की उखड़ी हुई बजरी—इन सब चीज़ों की ओर उसने बारी-बारी से देखा, फिर आकाश की ओर निगाहें उठायीं जो उसके ऊपर झुका हुआ था, पर सुगंधी को कोई उत्तर न मिला !

उत्तर उसके अन्तर में था। वह जानती थी कि वह बुरी नहीं, अच्छी

है, पर वह चाहती थी कि कोई उसका समर्थन करे. . .कोई. . .कोई. . . उस वक्त कोई उसके कंधों पर हाथ रखकर सिर्फ़ इतना कह दे—'सुगंधी! कौन कहता है, तू बुरी है, जो तुझे बुरा कहे वह आप बुरा है।'. . . नहीं, यह कहने की कोई ख़ास ज़रूरत नहीं थी। किसी का इतना कह देना काफ़ी था—'सुगंधी, तू बहुत अच्छी है।'

वह सोचने लगी कि वह क्यों चाहती है कोई उसकी तारीफ़ करे। इससे पहले उसे इस बात की इतनी शिद्दत से ज़रूरत महसूस न हुई थी। आज क्यों वह बेजान चीज़ों को भी ऐसी नज़रों से देखती है, जैसे उन पर अपने अच्छे होने का अहसास तारी करना चाहती है। उसके जिस्म का ज़र्रा-ज़र्रा क्यों 'माँ' बन रहा था—वह माँ बनकर धरती की हर चीज़ को अपनी गोद में लेने के लिए क्यों तैयार हो रही थी?—उसका जी क्यों चाहता था कि सामने वाले गैस के लौह-स्तम्भ के साथ चिमट जाय और उसके ठंडे लोहे पर अपने गाल रख दे—अपने गर्म-गर्म गाल, और उसकी सारी सर्दी चूस ले।

थोड़ी देर के लिए उसे ऐसा लगा कि गैस के अंधे लैम्प, लोहे के खम्भे, फुटपाथ के चौकोर पत्थर और हर वह चीज़ जो रात के सन्नाटे में उसके आस-पास थी, हमदर्दी की नज़रों से उसे देख रही है और उसके ऊपर झुका हुआ आकाश भी, जो मटियाले रंग की ऐसी मोटी चादर मालूम होता था, जिसमें अनगिनत छेद हो रहे हों, उसकी बातें समझता था और सुगंधी को भी ऐसा लगता था कि वह तारों का टिमटिमाना समझती है—लेकिन उसके अन्दर यह क्या गड़बड़ थी? . . .वह क्यों अपने अन्दर उस मौसम की फ़िज़ा महसूस करती थी, जो बारिश से पहले देखने में आया करता है।—उसका जी चाहता था कि उसके जिस्म का प्रत्येक लोम-रन्ध्र खुल जाये और जो कुछ उसके अन्दर उबल रहा है उनके रास्ते बाहर निकल जाय। पर यह कैसे हो—कैसे हो?

सुगंधी गली के नुक्कड़ पर ख़त डालने वाले लाल बम्बे के पास खड़ी थी—हवा के तेज़ झोंके से उस बम्बे की लोहे की जीभ, जो उसके खुले हुए

मुँह में लटकी रहती है, लड़खड़ाई तो सुगंधी की निगाहें एकदम उस ओर उठीं जिधर मोटर गयी थी, पर उसे कुछ दिखायी न दिया।—उसे कितनी प्रबल इच्छा थी कि वह सेठ मोटर पर एक बार फिर आये और. . .और. . .

'न आये. . .बला से. . .मैं अपनी जान क्यों बेकार हलकान करूँ. . . घर चलते हैं और आराम से लम्बी तानकर सोते हैं। इन झगड़ों में रखा ही क्या है। मुफ़्त की सिरदर्दी ही तो है. . . .चल सुगंधी, घर चल. . . ठंडे पानी का एक डोंगा पी और थोड़ा-सा बाम मलकर सो जा. . .फ़स्ट क्लास नींद आयेगी और सब ठीक हो जायेगा. . . सेठ और उस मोटर की ऐसी की तैसी . . .'

यह सोचते हुए सुगंधी का बोझ हल्का हो गया। जैसे वह किसी ठंडे तालाब से नहा-धोकर बाहर निकली हो। जिस तरह पूजा करने के बाद उसका शरीर हल्का हो जाता था उसी तरह अब भी हल्का हो गया था। घर की तरफ़ चलने लगी तो विचारों का बोझ न होने के कारण उसके क़दम कई बार लड़खड़ाये।

अपने मकान के पास पहुँची तो एक टीस के साथ फिर सारी घटना उसके मन में उठी और दर्द की तरह उसके रोम-रोम पर छा गयी—कदम फिर बोझिल हो गये और वह इस बात को शिद्दत के साथ महसूस करने लगी कि घर से बुलाकर, बाहर बाज़ार में, मुँह पर रोशनी का चाँटा मारकर एक आदमी ने अभी-अभी उसकी हतक की है। यह ख़याल आया तो उसने अपनी पसलियों पर किसी के सख़्त अँगूठे महसूस किये जैसे कोई उसे भेड़-बकरी की तरह दबा-दबा कर देख रहा है कि गोश्त भी है या बाल-ही-बाल हैं—'उस सेठ ने—परमात्मा करे. . .' सुगंधी ने चाहा कि उसे शाप दे, पर सोचा, शाप देने से क्या बनेगा। मज़ा तो तब था कि वह सामने होता और वह उसके अस्तित्व के प्रत्येक कण पर अपनी धिक्कारें लिख देती।. . .उसके मुँह पर कुछ ऐसे शब्द कहती कि वह ज़िन्दगी भर बेचैन रहता. . .कपड़े फाड़कर उसके सामने नंगी हो जाती और कहती . . . यही लेने आया था न तू? . . . ले, दाम दिये बिना

ले जा इसे...पर जो कुछ मैं हूँ, जो कुछ मेरे अन्दर छिपा है, वह तू क्या, तेरा बाप भी नहीं ख़रीद सकता...'

प्रतिशोध के नये-नये तरीक़े सुगंधी के दिमाग़ में आ रहे थे। यदि उस सेठ से एक बार—सिर्फ़ एक बार—उसकी मुठ-भेड़ हो जाय तो वह यह करे—यों उससे बदला ले —नहीं यों नहीं, यों—लेकिन जब सुगंधी सोचती कि सेठ से उसका दोबारा मिलना असम्भव है तो वह उसे एक छोटी-सी गाली देने पर ही ख़ुद को राज़ी कर लेती—बस सिर्फ़ एक छोटी-सी गाली, जो उसकी नाक पर चिपकू मक्की की तरह बैठ जाय और हमेशा वहीं जमी रहे।

इसी उधेड़-बुन में वह दूसरी मंज़िल पर अपनी खोली के पास पहुँच गयी। चोली में से चाबी निकालकर ताला खोलने के लिए हाथ बढ़ाया तो चाबी हवा ही में घूमकर रह गयी। कुंडे में ताला नहीं था! सुगंधी ने किवाड़ अन्दर की ओर दबाये तो हल्की-सी चरचराहट पैदा हुई। अन्दर से किसी ने कुंडी खोली और दरवाज़े ने जँभाई ली। सुगंधी अन्दर दाख़िल हो गयी।

माधो मूँछों में हँसा और दरवाज़ा बन्द करके सुगंधी से कहने लगा, "आज तूने मेरा कहना मान ही लिया—सुबह का घूमना तन्दुरुस्ती के लिए बड़ा अच्छा होता है। हर रोज़ इसी तरह सुबह उठकर घूमने जाया करेगी तो तेरी सारी सुस्ती दूर हो जायेगी और वह तेरी कमर का दर्द भी ग़ायब हो जायगा, जिसकी तू आये दिन शिकायत किया करती है।—विक्टोरिया गार्डन तक तो हो आयी होगी तू?—क्यों?"

सुगंधी ने कोई उत्तर नहीं दिया और न माधो ने उत्तर की अपेक्षा की। वास्तव में जब माधो बात किया करता था तो उसका मतलब यह नहीं होता था कि सुगंधी उसमें ज़रूर हिस्सा ले और सुगंधी जब कोई बात किया करती थी तो यह ज़रूरी नहीं होता था कि माधो उसमें भाग ले—चूँकि कोई बात करनी होती थी, इसलिए वे कुछ कह दिया करते थे।

माधो बेंत की कुर्सी पर बैठ गया, जिसकी पीठ पर उसके तेल चुपड़े

सिर ने मैल का एक बहुत बड़ा धब्बा बना रक्खा था, और टाँग पर टाँग रखकर अपनी मूँछों पर उँगलियाँ फेरने लगा।

सुगंधी पलंग पर बैठ गयी और माधो से कहने लगी—"मैं आज तेरी बाट ही देख रही थी।"

माधो बड़ा सिटपिटाया, "मेरी बाट !—पर तुझे कैसे मालूम हुआ कि मैं आज आने वाला हूँ ?"

सुगंधी के भिंचे हुए ओठ खुले, उन पर एक पीली-सी मुस्कराहट प्रकट हुई, "मैंने रात तुझे सपने में देखा था—उठी तो कोई भी न था। सो, मन ने कहा, चलो कहीं बाहर घूम आयें...और...।"

माधो प्रसन्न होकर बोला, "और मैं आ गया...भई बड़े लोगों की बातें बड़ी पक्की होती हैं। किसी ने ठीक कहा है, दिल को दिल से राह है...तूने वह सपना कब देखा था ?"

सुगंधी ने उत्तर दिया, "लगभग चार बजे !"

माधो कुर्सी पर से उठकर सुगंधी के पास बैठ गया, "और मैंने तुझे ठीक दो बजे सपने में देखा ... जैसे तू फूलों वाली साड़ी ... अरे बिलकुल यही साड़ी पहने मेरे पास खड़ी है। तेरे हाथों में...क्या था तेरे हाथों में?...हाँ, रुपयों से भरी हुई थैली थी। तूने वह थैली मेरी झोली में रख दी और कहा...'माधो, तू चिन्ता क्यों करता है ?...ले यह थैली...अरे तेरे-मेरे रुपये क्या दो हैं ?'...सुगंधी, तेरी जान की क़सम, तुरन्त उठा और टिकट कटाकर इधर का रुख किया...क्या बताऊँ, बड़ी परेशानी है ! बैठे-बैठाये एक केस हो गया है। अब तीस-बत्तीस रुपये हों तो इन्स्पेक्टर की मुट्ठी गर्म करके छुटकारा मिले...थक तो नहीं गयी तू ? लेट जा, मैं तेरे पाँव दबा दूँ। घूमने की आदत न हो तो थकन हो ही जाया करती है!...इधर मेरी तरफ़ पैर करके लेट जा।"

सुगंधी लेट गयी। दोनों बाँहों का तकिया बनाकर वह उन पर सिर रखकर लेट गयी और उस स्वर में, जो उसका अपना नहीं था, माधो से कहने

लगी, "माधो, यह किस मुए ने तुझ पर केस किया है ? जेल-वेल का डर हो तो मुझ से कह दे। बीस-तीस क्या सौ-पचास भी ऐसे मौकों पर पुलिस के हाथ में थमा दिये जायँ तो फ़ायदा अपना ही है—जान बची लाखों पाये—बस बस, अब जाने दे, थकन कुछ ज़्यादा नहीं है—मुट्ठी-चापी छोड़ और मुझे सारी बात सुना। केस का नाम सुनते ही मेरा दिल धक-धक करने लगा है. . .वापस कब जायेगा तू ?"

माधो को सुगंधी के मुँह से शराब की बास आयी। उसने यह मौक़ा अच्छा समझा और झट से कहा, "दोपहर की गाड़ी से वापस जाना पड़ेगा। अगर शाम तक सब-इन्स्पेक्टर को सौ-पचास न थमाये तो. . .ज़्यादा देने की ज़रूरत नहीं, मैं समझता हूँ पचास में काम चल जायगा।"

"पचास !" यह कहकर सुगंधी बड़े आराम से उठी और उन चार तस्वीरों के पास धीरे-धीरे गयी जो दीवार पर लटक रही थीं। बायीं तरफ़ से तीसरे फ़्रेम में माधो की तस्वीर थी। बड़े-बड़े फूलों वाले पर्दे के आगे कुर्सी पर वह दोनों रानों पर अपने हाथ रक्खे बैठा था। एक हाथ में गुलाब का फूल था। पास ही तिपाई पर दो मोटी-मोटी किताबें धरी थीं। तस्वीर खिचवाते समय तस्वीर खिचवाने का ख़याल माधो पर इतना छा गया था कि उसकी हर चीज़ तस्वीर से बाहर निकल-निकलकर जैसे पुकार रही थी—"हमारा फ़ोटो उतरेगा, हमारा फ़ोटो उतरेगा !"

कैमरे की ओर माधो आँखें फाड़-फाड़कर देख रहा था और ऐसा मालूम होता था कि फ़ोटो उतरवाते समय उसे बड़ी तकलीफ़ हो रही है।

सुगंधी खिलखिलाकर हँस पड़ी—उसकी हँसी कुछ ऐसी तीखी और नुकीली थी कि माधो के सुइयाँ-सी चुभीं। पलंग पर से उठकर वह सुगंधी के पास आ गया, किसकी तस्वीर देखकर तू इतने ज़ोर से हँसी है ?"

सुगंधी ने बायें हाथ की पहली तस्वीर की तरफ़ इशारा किया जो म्युनिसिपेलटी के दारोग़ा सफ़ाई की थी, "इसकी. . .मुनशीपालटी के इस दारोग़ा की. . .ज़रा देख तो इसका थोबड़ा. . .कहता था, एक रानी मुझ पर आशिक हो गयी थी. . .उँह ! यह मुँह और मसूर की दाल!"

यह कहकर सुगंधी ने फ़्रेम को इस ज़ोर से खींचा कि दीवार में से कील भी पलस्तर सहित उखड़ आयी।

माधो का अचरज अभी दूर न हुआ था कि सुगंधी ने फ़्रेम को खिड़की से बाहर फेंक दिया। दो मंज़िलों से यह फ़्रेम नीचे ज़मीन पर गिरा और काँच टूटने की झनकार सुनायी दी। सुगंधी ने उस झनकार के साथ कहा, "रानी भंगिन कचरा उठाने आयेगी तो मेरे इस राजा को भी साथ ले जायगी।"

एक बार फिर उस नुकीली और तीखी हँसी की फुहार सुगंधी के ओठों से गिरनी शुरू हुई, जैसे वह उन पर चाकू या छुरी की धार तेज़ कर रही है।

माधो बड़ी मुश्किल से मुस्कराया। फिर हँसा... "ही-ही-ही...!"

सुगंधी ने दूसरा फ़्रेम भी नोच लिया और खिड़की से बाहर फेंक दिया, "इस साले का यहाँ क्या मतलब है?... भोंडी शक्ल का कोई आदमी यहाँ नहीं रहेगा... क्यों माधो?"

माधो फिर बड़ी मुश्किल से मुस्कराया और फिर हँसा—"ही-ही-ही...!"

एक हाथ में सुगंधी ने पगड़ी वाले की तस्वीर उतारी और दूसरा हाथ फ़्रेम की तरफ़ बढ़ाया जिसमें माधो का फ़ोटो जड़ा था। माधो अपनी जगह पर सिमट गया जैसे हाथ उसकी ओर बढ़ रहा है। निमिष-मात्र में फ़्रेम कील सहित सुगंधी के हाथ में था।

ज़ोर का ठहाका लगाकर उसने 'उँह' की और दोनों फ़्रेम एक साथ खिड़की में से बाहर फेंक दिये। दो मंज़िलों से जब फ़्रेम ज़मीन पर गिरे और काँच टूटने की आवाज़ आयी तो माधो को ऐसा मालूम हुआ कि उसके अन्दर कोई चीज़ टूट गयी हैं। बड़ी मुश्किल से उसने हँसकर इतना कहा, "अच्छा किया!... मुझे भी यह फ़ोटो पसन्द नहीं था।"

धीरे-धीरे सुगंधी माधो के पास आयी और कहने लगी, "तुझे यह फ़ोटो पसन्द नहीं था... पर मैं पूछती हूँ, तुझमें है ऐसी कौन सी चीज़ जो किसी को पसन्द आ सकती है—यह तेरी पकौड़ा सी नाक, यह तेरे

बालों भरा माथा, ये तेरे सूजे हुए नथुने, ये तेरे मुड़े हुए कान, यह तेरे मुँह की बास, यह तेरे बदन का मैल ! • • •तुझे अपना फ़ोटो पसन्द नहीं था। उँह. . . !पसन्द क्यों होता, तेरे ऐब जो छिपा रक्खे थे उसने. . .आजकल ज़माना ही ऐसा है, जो ऐब छिपाये वही बुरा. . . ''

माधो पीछे हटता गया। आख़िर जब वह दीवार के साथ लग गया तो अपनी आवाज़ में ज़ोर पैदा करके कहा—''देख सुगंधी, मुझे ऐसा दिखायी देता है कि तूने फिर से अपना धंधा शुरू कर दिया है. . .अब तुझसे आख़िरी बार कहता हूँ . . .।''

सुगंधी ने इससे आगे माधो की नक़ल उतारते हुए कहना शुरू किया—''अगर तूने फिर से अपना धंधा शुरू किया तो बस तेरी-मेरी टूट जायेगी। अगर तूने फिर किसी को अपने यहाँ ठहराया तो चुटिया से पकड़कर तुझे बाहर निकाल दूँगा. . .इस महीने का ख़र्च मैं तुझे पूना पहुँचते ही मनी-आर्डर कर दूँगा. . . ''हाँ, क्या भाड़ा है इस खोली का ?''

माधो चकरा गया।

सुगंधी ने कहना शुरू किया, 'मैं बताती हूँ. . .पन्द्रह रुपया भाड़ा है इस खोली का. . .और दस रुपया भाड़ा है मेरा. . .और जैसा तुझे मालूम है, अढ़ाई रुपये दलाल के! बाकी रहे साढ़े सात, रहे न साढ़े सात ? उन साढ़े सात रुपल्लियों में मैंने ऐसी चीज़ देने का वचन दिया था, जो मैं दे ही नहीं सकती थी और तू ऐसी चीज़ लेने आया था जो तू ले ही नहीं सकता था. . . तेरा-मेरा नाता ही क्या था ? कुछ भी नहीं ! बस ये दस रुपये तेरे और मेरे बीच में बज रहे थे, सो हम दोनों ने मिलकर ऐसी बात की कि तुझे मेरी जरूरत हुई और मुझे तेरी—पहले तेरे और मेरे बीच में दस रुपये बजते थे, आज पचास बज रहे हैं। तू भी उनका बजना सुन रहा है और मैं भी उनका बजना सुन रही हूँ . . .यह तूने अपने बालों का क्या सत्यानाश कर रखा है ?''

यह कहकर सुगंधी ने माधो की टोपी उँगली से एक ओर उड़ा दी। यह हरकत माधो को बहुत बुरी लगी। उसने बड़े कड़े स्वर में कहा—''सुगंधी !''

सुगंधी ने माधो की जेब से रुमाल निकालकर सूँघा और ज़मीन पर फेंक दिया, "ये चिथड़े, ये चिन्दियाँ. . .उफ़! कितनी बुरी बास आती है, उठा के बाहर फेंक इनको. . ."

माधो चिल्लाया—"सुगंधी!"

सुगंधी ने तेज़ लहजे में कहा, "सुगंधी के बच्चे, तू आया किस लिए है यहाँ? . . .तेरी माँ रहती है इस जगह, जो तुझे पचास रुपये देगी? या तू ऐसा बड़ा गबरू जवान है जो मैं तुझ पर आशिक़ हो गयी हूँ. . .कुत्ते, कमीने, मुझ पर रोआब गाँठता है? मैं तेरी दबैल हूँ क्या? . . .भिखमंगे, तू अपने आपको समझ क्या बैठा है? . . .मैं पूछती हूँ तू है कौन? . . .चोर या गठकतरा? . . .इस समय तू मेरे मकान में क्या करने आया है? . . . बुलाऊँ पुलिस को? . . .पूने में तुझ पर केस हो या न हो, यहाँ तो तुझ पर एक केस खड़ा कर दूँ . . ."

माधो सहम गया। दबे स्वर में इतना कह सका, "सुगंधी, तुझे क्या हो गया है?"

"तेरी माँ का सिर. . .तू होता कौन है मुझसे ऐसे सवाल करने वाला? भाग यहाँ से, नहीं तो. . ."सुगंधी की ऊँची आवाज़ सुन उसका खाज मारा कुत्ता, जो सूखी हुई चप्पलों पर मुँह रखे सो रहा था, हड़बड़ाकर उठा और माधो की ओर मुंह उठाकर भूँकने लगा। कुत्ते के भूँकने के साथ ही सुगंधी जोर-ज़ोर से हँसने लगी।

माधो डर गया। गिरी हुई टोपी उठाने के लिए झुका तो सुगंधी की गरज सुनायी दी—"खबरदार. . .पड़ी रहने दे वहीं. . .तू जा, तेरे पूना पहुँचते ही मैं इसका मनिआर्डर कर दूँगी।" यह कहकर वह और ज़ोर से हँसी और हँसती-हँसती बेंत की कुर्सी पर बैठ गयी। उसके खाज मारे कुत्ते ने भूँक-भूँक कर माधो को कमरे से बाहर निकाल दिया। सीढ़ियाँ उतारकर जब कुत्ता अपनी टुँड-मुँड दुम हिलाता सुगंधी के पास लौटा और उसके क़दमों के पास बैठकर कान फड़फड़ाने लगा तो सुगंधी चौंकी . . .उसने अपने चारों ओर एक भयानक सन्नाटा देखा—ऐसा सन्नाटा

जो उसने पहले कभी न देखा था। उसे ऐसा लगा कि हर चीज़ ख़ाली है. . . जैसी मुसाफ़िरों से लदी हुई रेलगाड़ी सब स्टेशनों पर मुसाफ़िर उतारकर लोहे के शेड में बिलकुल अकेली खड़ी है! . . .यह शून्य, जो अचानक सुगंधी के अन्दर पैदा हो गया था, उसे बहुत तकलीफ़ दे रहा था। उसने काफ़ी देर तक उस शून्य को भरने की कोशिश की किन्तु व्यर्थ। वह एक ही समय में असंख्य विचार अपने दिमाग़ में ठूँसती थी, पर एकदम छलनी का-सा हिसाब था। इधर दिमाग़ को भरती थी, उधर वह ख़ाली हो जाता था।

बड़ी देर तक वह बेत की कुर्सी पर बैठी रही। सोच विचार के बाद जब उसको अपना मन बहलाने का कोई उपाय न सूझा तो उसने अपने खाज मारे कुत्ते को गोद में उठाया और सागौन के चौड़े पलंग पर उसे बग़ल में लिटा कर सो गयी।

●

# स्वराज्य के लिए

मुझे सन याद नहीं रहा, लेकिन वही दिन थे जब अमृतसर में हर तरफ़ "इन्क़लाब ज़िन्दाबाद" के नारे गूँजते थे। उन नारों में, मुझे अच्छी तरह याद है, एक अजीब क़िस्म का जोश था—एक जवानी—एक अजीब क़िस्म की जवानी, बिलकुल अमृतसर की गुजरियों की-सी जो सिर पर उपलों के टोकरे उठाये बाज़ारों को जैसे काटती हुई चलती हैं।—ख़ूब दिन थे! वातावरण में वह जो जलियां वाला बाग़ की ख़ूनी दुर्घटना का उदास-भय समाया रहता था, उस वक्त लोप था। अब उसकी जगह एक निर्भीक तड़प ने ले ली थी—एक अंधाधुंध छलाँग ने जो अपनी मंज़िल से अनभिज्ञ थी।

लोग नारे लगाते थे, जुलूस निकालते थे और सैकड़ों की तादाद में धड़ाधड़ क़ैद हो रहे थे। गिरफ़्तार होना एक दिलचस्प शग़ल बन गया था। सुबह क़ैद हुए, शाम को छोड़ दिये गये। मामला चला, चन्द महीनों की क़ैद हुई, वापस आये, एक नारा लगाया, फिर क़ैद हो गये।

ज़िन्दगी से भरपूर दिन थे। एक नन्हा-सा बुलबुला फटने पर भी एक

बहुत बड़ा भँवर बन जाता था। किसी ने चौक में खड़े होकर भाषण दिया और कहा, "हड़ताल होनी चाहिए।' चलिए, हड़ताल हो गयी। एक लहर उठी कि हर आदमी को खादी पहननी चाहिए ताकि लंकाशायर के सारे कारख़ाने बन्द हो जायँ।—विदेशी कपड़ों का बायकाट शुरू हो गया और हर चौक में अलाव जलने लगे। लोग जोश में आकर खड़े-खड़े वहीं कपड़े उतारते और अलाव में फेंक देते। कोई औरत अपने मकान के बारजे से अपनी अवांच्छित साड़ी उछालती तो भीड़ तालियाँ पीट-पीटकर अपने हाथ लाल कर लेती।

मुझे याद है, कोतवाली के सामने टाउन हाल के पास एक अलाव जल रहा था। शेखू ने, जो मेरा सहपाठी था, जोश में आकर अपना रेशमी कोट उतारा और विदेशी कपड़ों की चिता में डाल दिया। तालियों का समुद्र बहने लगा। क्योंकि शेखू एक बहुत बड़े 'टोडी बच्चे' का लड़का था। उस बेचारे का जोश और भी ज़्यादा बढ़ गया। अपनी बोस्की की क़मीज़ उतारकर वह भी उसने शोलों की भेंट चढ़ा दी, लेकिन बाद में ख़याल आया कि उसके साथ सोने के बटन थे।

मैं शेखू का मज़ाक नहीं उड़ाता। मेरी दशा भी उन दिनों कुछ वैसी ही थी। जी चाहता था कि कहीं से पिस्तौल हाथ आ जाय तो एक क्रांतिकारी पार्टी बनायी जाय। बाप गवर्नमेंट का पेन्शनर था, इसका मुझे कभी ख़याल न आया। बस मन-मस्तिष्क में एक अजीब सी खुदबुद रहती थी। बिलकुल वैसी ही जैसे फ़्लाश खेलने के दौरान में रहा करती है।

स्कूल से तो मुझे वैसे ही दिलचस्पी न थी, पर उन दिनों तो मुझे विशेषकर पढ़ाई से नफ़रत हो गयी...घर से किताबें लेकर निकलता और जलियां वाला बाग़ चला जाता। स्कूल का वक्त ख़त्म होने तक वहाँ की सरगर्मियाँ देखता रहता या किसी पेड़ के साये तले बैठकर दूर मकानों की खिड़कियों म औरतों को देखता और सोचता कि ज़रूर इनमें से किसी को मुझ से प्रेम हो जायेगा—यह ख़याल दिमाग़ में क्यों आता, इसके बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता।

जलियां वाला बाग़ में ख़ूब रौनक़ थी। चारों तरफ़ तम्बू और क़नातें फैली हुई थीं। जो ख़ैमा सबसे बड़ा था, उसमें हर दूसरे-तीसरे दिन एक डिक्टेटर बनाके बैठा दिया जाता था, जिसको सारे स्वयं-सेवक सलामी देते थे। दो-तीन दिन या अधिक-से-अधिक दस-पन्द्रह दिनतक यह डिक्टेटर खादीपोश औरतों और मर्दों के 'नमस्कार' एक बनावटी गम्भीरता के साथ वसूल करता। शहर के बनियों से लंगर-ख़ाने के लिए आटा चावल इकट्ठा करता और दही की लस्सी पी-पी कर, जो ख़ुदा जाने जलियां वाला बाग़ में क्यों इतनी आम थी, एक दिन अचानक गिरफ़्तार हो जाता और किसी क़ैदख़ाने में चला जाता।

मेरा एक पुराना सहपाठी था, शहज़ादा ग़ुलाम अली, उससे मेरी दोस्ती का अन्दाज़ा आपको इन बातों से हो सकता है कि हम इकट्ठे दो बार मैट्रिक की परीक्षा में फ़ेल हो चुके थे और एक बार हम दोनों घर से भाग कर बम्बई गये थे। ख़याल था कि रूस जायेंगे, मगर पैसे खत्म होने पर जब फ़ुटपाथों पर सोना पड़ा तो घर ख़त लिखे, माफ़ियाँ माँगी और वापस चले आये।

शहज़ादा ग़ुलाम अली ख़ूबसूरत जवान था। लम्बा क़द; गोरा रंग जो काश्मीरियों का होता है, तीखी नाक; खिलंडरी[1] आँखें, चाल-ढाल में एक ख़ास शान थी, जिसमें पेशेवर गुंडों की अकड़ की हल्की-सी झलक भी थी।

जब वह मेरे साथ पढ़ता था तो शहज़ादा नहीं था, लेकिन जब शहर में इन्क़लाबी हलचल बढ़ी और उसने दस-पन्द्रह जलसों और जुलूसों में भाग लिया तो नारों, गेंदे के हारों, जोशीले गीतों और स्वयं सेविकाओं से खुली बात-चीत ने उसे एक अधपका इन्क़लाबी बना दिया। एक दिन उसने पहला भाषण दिया, दूसरे दिन मैंने अख़बार देखे तो मालूम हुआ कि ग़ुलाम अली शहज़ादा बन गया है।

---

[1] खेलती हुई = चंचल

शहज़ादा बनते ही ग़ुलाम अली सारे अमृतसर में मशहूर हो गया। छोटा-सा शहर है, वहाँ नेकनाम या बदनाम होते देर नहीं लगती। यों तो अमृतसरी आम आदमियों के मामले में सख़्त क़िस्म के आलोचक हैं। याने हर व्यक्ति दूसरों के ऐब टटोलने और चरित्रों में सूराख़ ढूँढ़ने की कोशिश करता रहता है, लेकिन राजनीतिक और धार्मिक नेताओं के मामले में अमृतसरी एकदम आँखें फिरा लेते हैं। उनको वास्तव में हर समय एक भाषण या आन्दोलन की आवश्यकता रहती है। आप उन्हें नीली-पोश बना दीजिए या सियाह्-पोश। एक ही नेता चोले बदल-बदलकर अमृतसर में काफ़ी देर तक ज़िन्दा रह सकता है। लेकिन वह ज़माना कुछ और था। सभी बड़े-बड़े नेता जेलों में थे और उनकी गद्दियाँ ख़ाली थीं। उस समय लोगों को नेताओं की कोई उतनी अधिक आवश्यकता न थी। लेकिन वह आन्दोलन जो कि शुरू हुआ था, उसको अवश्य ऐसे आदमियों की बड़ी आवश्यकता थी जो एक-दो दिन खादी पहनकर जलियां वाला बाग़ के बड़े तम्बू में बैठें, एक-दो भाषण दें और गिरफ़्तार हो जायें।

उन दिनों योरप में नयी-नयी डिक्टेटर-शिप शुरू हुई थी। हिटलर और मुसोलिनी का बड़ा प्रचार हो रहा था। सम्भवतः इसी प्रभाव के अन्तर्गत काँग्रेस ने डिक्टेटर बनाने शुरू कर दिये थे। जब शाहज़ादा ग़ुलाम अली की बारी आयी तो उससे पहले चालीस डिक्टेटर गिरफ़्तार हो चुके थे।

ज्यों ही मुझे मालूम हुआ कि ग़ुलाम अली डिक्टेटर बन गया है तो मैं तुरन्त जलियां वाला बाग़ में पहुँचा। बड़े ख़ेमे के बाहर स्वयंसेवकों का पहरा था। लेकिन ग़ुलाम अली ने जब मुझे अन्दर से देखा तो बुला लिया—ज़मीन पर एक गदेला था, जिस पर खादी की चाँदनी बिछी थी। उस पर गाव तकियों का सहारा लिये शहज़ादा ग़ुलाम अली चन्द खादी-पोश बनियों से बात-चीत कर रहा था जो सम्भवतः तरकारियों के सम्बन्ध में थी। चन्द मिनटों में ही उसने यह बात-चीत ख़त्म की और कुछ स्वयंसेवकों को आदेश देकर वह मेरी ओर पलटा। उसकी यह असाधारण गम्भीरता देखकर

भेरे गुदगुदी-सी हो रही थी। जब स्वयंसेवक चले गये तो मैं हँस पड़ा, "सुना बे शाहज़ादे।"

मैं देर तक उससे मज़ाक करता रहा, लेकिन मैंने महसूस किया कि ग़ुलाम अली में भारी परिवर्तन आ गया है। ऐसा परिवर्तन जिससे वह भिज्ञ है। चुनांचे उसने कई बार मुझसे यही कहा—"नहीं सआदत —मज़ाक़ न उड़ाओ। मैं जानता हूँ मेरा सिर छोटा और यह इज़्ज़त, जो मुझे मिली है, बड़ी है—लेकिन मैं यह खुली टोपी ही पहने रहना चाहता हूँ।"

कुछ देर बाद उसने मुझे दही की लस्सी का एक बहुत बड़ा गिलास पिलाया और मैं उसे यह वचन देकर घर चला गया कि शाम को उसका भाषण सुनने में ज़रूर आऊँगा।

शाम को जलियां वाला बाग़ खचाखच भरा था। मैं चूँकि जल्दी आया था इसलिए मुझे प्लेट फ़ार्म के पास ही जगह मिल गयी। —ग़ुलाम अली तालियों के शोर के साथ प्रकट हुआ—सफ़ेद बेदाग़ खादी के कपड़े पहने वह सुन्दर और आकर्षक लग रहा था। वह अकड़ की झलक, जिसका मैं इससे पहले उल्लेख कर चुका हूँ, उसके इस आकर्षण को बढ़ा रही थी।

घंटे भर तक वह बोलता रहा—इस बीच में कई बार मेरे रोंगटे खड़े हुए और एक-दो बार तो मेरे जिस्म में बड़ी शिद्दत से यह इच्छा पैदा हुई कि मैं बम की तरह फट जाऊँ। उस समय मैंने शायद यही ख़याल किया था कि यों फट जाने से भारत आज़ाद हो जायेगा।

ख़ुदा जाने कितने बरस बीत चुके हैं! बहती हुई भावनाओं और घटनाओं की नोक-पलक, जो उस समय थी, अब उसी रूप में बता पाना लगभग असम्भव है। लेकिन यह कहानी लिखते समय जब मैं ग़ुलाम अली के भाषण की कल्पना करता हूँ तो मुझे सिर्फ़ एक जवानी बोलती दिखायी पड़ती है जो राजनीति से बिलकुल पाक थी—उसमें एक ऐसे नौजवान की सच्ची निर्भीकता थी जो एकदम किसी राह चलती औरत को पकड़ ले और कहे, "देखो, मैं तुम्हें चाहता हूँ।" और दूसरे ही क्षण क़ानून के पंजे में गिरफ़्तार हो जाय। उस भाषण के बाद मुझे कई भाषण सुनने का संयोग

हुआ, लेकिन वह अधपकी दीवानगी, वह सिर-फिरी जवानी, वह अल्हड़ जज़्बा, वह दाढ़ी-मूँछ-विहीन ललकार, जो मैंने शहज़ादा ग़ुलाम अली की आवाज़ में सुनी, अब उसकी हल्की-सी गूँज भी मुझे कहीं सुनायी नहीं दी। अब जो भाषण सुनने में आते हैं, वे ठंडी-गम्भीरता, बूढ़ी राजनीति और शायराना होशमंदी में लिपटे होते हैं।

उस समय दरअसल दोनों पार्टियाँ कच्ची थीं। सरकार भी और प्रजा भी। दोनों परिणाम की परवाह किये बिना एक दूसरे से उलझी हुई थीं। सरकार क़ैद का महत्त्व समझे बिना लोगों को क़ैद कर रही थी और जो क़ैद होते थे, उनको भी क़ैदख़ानों में जाने से पहले क़ैद का मतलब मालूम नहीं होता था।

एक धाँधली थी, मगर उस धाँधली में एक आग जैसी बेचैनी थी। लोग शोलों की तरह भड़कते थे, बुझते थे, फिर भड़कते थे। चुनांचे उस भड़कने और बुझने, बुझने और भड़कने ने ग़ुलामी की तन्द्रिल, उदास और जँम्भाइयों भरी फ़िज़ा में गर्म कम्पन उत्पन्न कर दिया था।

शहज़ादा ग़ुलाम अली ने भाषण समाप्त किया तो सारा जलियां वाला बाग़ तालियों और नारों का दहकता हुआ अलाव बन गया। उसका चेहरा दमक रहा था। जब मैं उससे अलग जाकर मिला और बधाई देने के लिए मैंने उसका हाथ अपने हाथ में दबाया तो वह काँप रहा था।यह गर्म कँपकँपा-हट उसके चमकीले चेहरे से भी स्पष्ट थी। वह कुछ-कुछ हाँफ रहा था। उसकी आँखों में जोश-भरी भावनाओं की दमक के अलावा मुझे एक थकी हुई जिज्ञासा दीख पड़ी। वे किसी को ढूँढ़ रही थीं। एकदम उसने अपना हाथ मेरे हाथ से अलग किया और सामने चमेली की झाड़ी की ओर बढ़ा।

वहाँ एक लड़की थी। खादी की बेदाग़ साड़ी पहने हुए।

दूसरे दिन मुझे मालूम हुआ कि शहज़ादा ग़ुलाम अली इश्क में गिरफ़्तार है। वह उस लड़की से, जिसे मैंने चमेली की झाड़ी के पास बड़े अदब से खड़े देखा था, प्रेम कर रहा था। यह प्रेम एक-तरफ़ा नहीं था, क्योंकि निगार को भी उससे बेहद लगाव था। निगार, जैसा कि नाम से प्रकट है, एक मुसलमान

लड़की थी। अनाथ। ज़नाना अस्पताल में नर्स थी और शायद पहली मुसलमान लड़की थी, जिसने अमृतसर में बेपर्दा होकर कांग्रेस के आन्दोलन में भाग लिया।

कुछ खादी के लिबास ने, कुछ कांग्रेस की सरगर्मियों में भाग लेने के कारण और कुछ अस्पताल के स्वच्छन्द वातावरण ने निगार की इसलामी प्रकृति को—उस तीखी चीज़ को जो मुसलमान औरत के स्वभाव में विशेष रूप से प्रकट होती है, कुछ थोड़ा-सा घिसा दिया था, जिससे वह तनिक मुलायम हो गयी थी।

वह सुन्दर न थी, पर अपनी जगह स्त्रीत्व का एक अत्याकर्षक, अकेला नमूना थी। विनम्रता, आदर और पूजा-भाव का वह सम्मिश्रण, जो आदर्श हिन्दू नारी की विशेषता है, निगार में भी अपनी हल्की-सी झलक के साथ दिखायी देता था, जिसने उसके व्यक्तित्व में रूह को गर्मा देने वाले रंग भर दिये थे। उस समय तो शायद यह कभी मेरे मन में न आता, लेकिन अब यह लिखते समय मैं निगार की कल्पना करता हूँ तो वह मुझे नमाज़ और आरती का आकर्षक सम्मिश्रण दिखायी देती है।

वह शाहज़ादा ग़ुलाम अली की पूजा करती थी और वह भी उस पर प्राण देता था। जब निगार के बारे में उससे बात-चीत हुई तो पता चला कि कांग्रेस आन्दोलन के दौरान में उन दोनों की भेंट हुई और थोड़े ही दिनों के मिलाप से वे एक दूसरे के हो गये।

ग़ुलाम अली का इरादा था कि क़ैद होने से पहले-पहले वह निगार को अपनी बीवी बना ले। मुझे याद नहीं, वह ऐसा क्यों करना चाहता था। क्योंकि क़ैद से वापस आने पर भी वह उससे शादी कर सकता था। उन दिनों कोई इतनी लम्बी क़ैद तो होती न थी। कम-से-कम तीन महीने और अधिक-से-अधिक एक बरस। कुछेक को तो बीस दिन के बाद ही रिहा कर दिया जाता था ताकि दूसरे क़ैदियों के लिए जगह बन जाय। बहरहाल वह अपने इरादे को निगार पर भी प्रकट कर चुका था और वह बिलकुल तैयार थी। अब सिर्फ़ दोनों को बाबा जी के पास जाकर उनका आशीर्वाद लेना था।

बाबा जी, जैसा कि आप जानते होंगे, बड़ी भारी हस्ती के मालिक थे। शहर से बाहर लखपति सर्राफ़ हरिराम की शानदार कोठी में वे ठहरे हुए थे। यों तो वे अकसर अपने आश्रम में रहते थे, जो उन्होंने पास के एक गाँव में बना रखा था, पर जब कभी अमृतसर आते तो हरिराम सर्राफ़ ही की कोठी में उतरते और उनके आते ही यह कोठी बाबा जी के भक्तों के लिए पवित्र स्थान बन जाती। सारे दिन दर्शनार्थियों का ताँता बँधा रहता। दिन ढले वे कोठी से बाहर कुछ अंतर पर, आम के पेड़ों के झुरमट में, एक तख़्त पर बैठकर लोगों को आम दर्शन देते, अपने आश्रम के लिए चन्दा इकट्ठा करते, आख़िर में भजन आदि सुनकर प्रतिदिन यह सभा उनकी आज्ञा से समाप्त हो जाती।

बाबा जी बहुत परहेज़गार, साधु, विद्वान और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। यही कारण है कि हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख और अछूत सब उनको बहुत मानते थे और उन्हें अपना नेता स्वीकार करते थे।

राजनीति से यद्यपि बाबा जी को कोई दिलचस्पी न थी, किन्तु यह एक खुला हुआ रहस्य है कि पंजाब का प्रत्येक राजनीतिक आन्दोलन उन्हीं के संकेत पर आरम्भ और उन्हींके इशारे पर ख़त्म हुआ।

सरकार की दृष्टि में वे न समझ में आने वाला एक रहस्य थे। एक ऐसी राजनीतिक पहेली, जिसे ब्रिटिश सरकार के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी हल न कर सके थे। बाबा जी के पतले २ ओठों की एक हल्की-सी मुस्कराहट के हज़ार मतलब निकाले जाते थे। लेकिन जब वे स्वयं इस मुस्कराहट के एकदम नये अर्थ सुझाते थे तो उनकी भक्त-जनता और भी अधिक प्रभावित होती।

यह जो अमृतसर में असहयोग आन्दोलन चल रहा था और लोग धड़ाधड़ क़ैद हो रहे थे, उसके पीछे जैसा कि स्पष्ट है, बाबा जी का ही प्रभाव काम कर रहा था। हर साँझ को लोगों को आम दर्शन देते समय वे सारे पंजाब के आन्दोलन और सरकार की नित्य नयी सख़्तियों के बारे में अपने पोपले मुंह से एक छोटा-सा—एक मासूम-सा—जुमला निकाल

दिया करते थे, जिसे तुरन्त ही बड़े-बड़े नेता अपने गले में तावीज़ बनाकर डाल लेते थे।

लोगों का कहना है कि उनकी आँखों में एक चुम्बक शक्ति थी, उन की आवाज़ में एक जादू था और उनका ठंडा दिमाग़—उनका वह मुस्कराता हुआ दिमाग़—जिसको गन्दी-से-गन्दी गाली और ज़हरीले-से-ज़हरीला व्यंग्य एक सहस्रवें भाग के लिए भी उत्तेजित न कर सकता था, प्रतिद्वन्द्वियों के लिए बड़ी ही उलझन का सबब था। अमृतसर में बाबा जी के सैकड़ों जलूस निकल चुके थे। लेकिन जाने क्या बात है कि मैंने और सभी नेताओं को देखा, एक सिर्फ़ उन्हींको मैंने न दूर से देखा, न पास से। इसलिए जब ग़ुलाम अली ने मुझसे उनके दर्शन करने और उनसे शादी के लिए अनुमति लेने की बात की तो मैंने उससे कहा कि जब वे दोनों जायँ तो मुझे भी साथ लेते चलें।

दूसरे ही दिन ग़ुलाम अली ने ताँगे का प्रबन्ध किया और हम सुबह सबेरे लाला हरिराम सर्राफ़ की आलीशान कोठी में पहुँच गये।

बाबा जी स्नान और सुबह की प्रार्थना से निवृत्त होकर एक ख़ूबसूरत पंडितानी से राष्ट्रीय गीत सुन रहे थे। चीनी की बेदाग़ सफ़ेद टाइलों वाले फ़र्श पर बाबा जी खजूर के पत्तों की चटाई पर बैठे थे। गाव तकिया उनके पास ही पड़ा था, किन्तु उन्होंने उसका सहारा नहीं लिया था।

कमरे में सिवाय एक चटाई के, जिसके ऊपर बाबा जी बैठे थे, और कोई फ़र्नीचर आदि नहीं था। एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक सफ़ेद टाइलें चमक रहीं थीं। उनकी चमक ने राष्ट्रीय गीत गाने वाली पंडितानी के हल्के-गुलाबी रंग के चेहरे को और भी सुन्दर बना दिया था।

बाबा जी यद्यपि सत्तर-बहत्तर वर्ष के बूढ़े थे, किन्तु उनके शरीर पर (वे केवल गेरुए रंग का छोटा-सा तहमद बाँधे थे।) उम्र की झुर्रियों का कोई प्रभाव न था। त्वचा में एक अजीब किस्म का लावण्य था। मुझे बाद में मालूम हुआ कि वे प्रतिदिन स्नान करने से पहले जैतून का तेल अपने शरीर पर मलवाते हैं।

शहज़ादा ग़ुलाम अली की ओर देखकर वे मुस्कराये। मुझे भी एक

नज़र देखा और हम तीनों की बन्दगी का जवाब उसी मुस्कराहट को तनिक फ़ैलाकर दिया और संकेत किया कि हम बैठ जायँ ।

मैं अब यह तस्वीर अपने सामने लाता हूँ तो चेतना की ऐनक से यह मुझे मनोरंजक होने के अतिरिक्त बड़ी ही विचारोत्तेजक दिखायी देती है। खजूर की चटाई पर एक अर्ध-नग्न वृद्ध योगियों का आसन लगाये बैठा है। उसकी बैठक से ,उसके गंजे सिर से, उसकी अधखुली आँखों से, उसके साँवले मुलायम शरीर से, उसके चेहरे की प्रत्येक रेखा से एक शांतिमय संतोष, एक निश्चिन्त विश्वास प्रकट था कि जिस स्थान पर दुनिया ने उसे बैठा दिया है, अब बड़े-से-बड़ा भूकम्प भी वहाँ से नहीं गिरा सकता ।—उससे कुछ दूर काश्मीर की घाटी की एक नयी खिली कली झुकी हुई कुछ उस बुज़ुर्ग के सामीप्य के सम्मान से , कुछ राष्ट्रीय गीत के प्रभाव से और कुछ अपनी भर-पूर जवानी से, जो उसकी खुरदुरी सफ़ेद साड़ी से निकलकर राष्ट्रीय गीत के अतिरिक्त अपनी जवानी का भी गीत गाना चाहती थी, जो उस बुज़ुर्ग के सामीप्य का आदर करने के साथ-साथ किसी ऐसी तन्दुरुस्त और जवान हस्ती के सत्कार में भी नत-शिर होना चाहती थी जो उसकी नर्म कलाई पकड़कर ज़िन्दगी के दहकते हुए अलाव में कूद पड़े। उसके हल्के प्याज़ी चेहरे से , उसकी बड़ी-बड़ी काली चंचल आँखों से, उसके खादी के खुरदुरे ब्लाउज़ में ढके हुए हलचल भरे सीने से उस वृद्ध योगी के ठोस विश्वास और लौह संतोष के मुक़ाबिले में एक मूक पुकार फूटी पड़ती थी कि आओ, जिस स्थान पर मैं इस समय हूँ, वहाँ से खींचकर मुझे या तो नीचे गिरा दो या इससे भी ऊपर ले चलो। इस तरफ़ हटकर हम तीनों बैठे थे। मैं, निगार और शहज़ादा ग़ुलाम अली । मैं बिलकुल चुग़द बना बैठा था। बाबा जी के व्यक्तित्व से भी प्रभावित था और उस पंडितानी के बेदाग़ हुस्न से भी। फ़र्श की चमकीली टाइलों ने भी मुझे बाँध रखा था, और उन पर बिछी उस खुरदुरी चटाई ने भी। कभी सोचता था कि ऐसी टाइलों वाली एक कोठी मुझे मिल जाय तो कितना अच्छा हो ! फिर सोचता था कि यह पंडितानी मुझे और कुछ न करने दे, सिर्फ़ एक बार मुझे अपनी आँखें चूम

लेन दे! उसकी कल्पना से शरीर में थरथरी पैदा होती तो झट अपनी नौकरानी का ख़याल आता जिससे ताज़ा-ताज़ा मुझे कुछ वह हुआ था। जी में आता कि उन सब को, यहाँ छोड़कर सीधा घर जाऊँ. . .शायद नज़र बचा-कर उसे ऊपर गुसलख़ाने तक ले जाने में सफल हो सकूँ। पर जब बाबा जी पर नज़र पड़ती और कानों में राष्ट्रीय गीत के जोशीले शब्द गूँजते तो एक दूसरी थरथरी बदन में पैदा होती और मैं सोचता कि कहीं से पिस्तौल हाथ आ जाय तो सिविल लाइन्ज़ में जाकर अँग्रेजों को भूनना शुरू कर दूँ!

इस चुग़द के पास निगार और ग़ुलाम अली बैठे थे। दो प्रेम करने वाले, जो मुहब्बत में अकेले धड़कते-धड़कते अब शायद कुछ उकता गये थे और जल्दी एक दूसरे में प्रेम के दूसरे रंग देखने के लिए घुल-मिल जाना चाहते थे। दूसरे शब्दों में, वे बाबा जी से —अपने एकमात्र पथ-प्रदर्शक से—ब्याह की अनुमति लेने आये थे और जैसा कि प्रकट है, उन दोनों के दिमाग़ में उस समय राष्ट्रीय गीत के बदले उनके अपने जीवन का सुन्दरतम, किन्तु अनसुना संगीत गूँज रहा था।

गीत समाप्त हुआ। बाबा जी ने बड़े स्नेहपूर्ण ढंग से पंडितानी को हाथ के संकेत से आशीर्वाद दिया और मुस्कराते हुए निगार और ग़ुलाम अली की ओर मुड़े। मुझे भी उन्होंने एक नज़र देख लिया।

ग़ुलाम अली शायद परिचय के लिए अपना और निगार का नाम बताने वाला था, परन्तु बाबा जी की स्मरण-शक्ति ग़ज़ब की थी। उन्होंने तुरन्त ही अपने मधुर स्वर में कहा, "शहज़ादे अभी तक गिरफ्तार नहीं हुए?"

ग़ुलाम अली ने हाथ जोड़कर कहा, "जी नहीं!"

बाबा जी ने कलमदान से एक पेंसिल निकाली ओर उससे खेलते हुए कहने लगे, "पर मैं तो समझता हूँ, तुम गिरफ़्तार हो चुके हो!"

ग़ुलाम अली इसका मतलब न समझ सका। लेकिन बाबा जी ने उसी समय पंडितानी की ओर देखा ओर निगार की ओर संकेत करके कहा, "निगार ने हमारे शहज़ादे को गिरफ़्तार कर लिया है।"

निगार शर्मा सी गयी। ग़ुलाम अली का मुँह आश्चर्य से खुला-का खुला

रह गया और पंडितानी के प्याज़ी चेहरे पर एक आशीर्वादमय चमक-सी आयी। उसने निगार और ग़ुलाम अली को कुछ इस तरह देखा जैसे कह रही हो "बहुत अच्छा हुआ!"

बाबा जी एक बार फिर पंडितानी की ओर मुड़े, "ये बच्चे मुझसे शादी की अनुमति लेने आये हैं—तुम कब शादी कर रही हो कमल?"

तो उस पंडितानी का नाम कमल था। बाबा जी के अचानक सवाल से वह बौखला गयी। उसका प्याज़ी चेहरा सुर्ख़ हो गया। काँपती हुई आवाज़ में उसने जवाब दिया—"मैं तो आपके आश्रम में जा रही हूँ।"

एक हल्का-सा निश्वास भी इन शब्दों में लिपटकर बाहर आया, जिसे बाबा जी के होशियार दिमाग़ ने तुरन्त नोट किया। वे उसकी ओर देखकर जोगियों के-से अन्दाज़ में मुस्कराये और ग़ुलाम अली और निगार से बोले, "तो तुम दोनों फ़ैसला कर चुके हो?"

दोनों ने दबे स्वर में जवाब दिया, "जी हाँ!"

बाबा जी ने अपनी राजनीति-भरी आँखों से उनको देखा, "इंसान जब फ़ैसले करता है तो कभी-कभी उनको बदल भी दिया करता है।"

पहली बार बाबा जी की प्रभावमयी उपस्थिति में ग़ुलाम अली ने नहीं, उसकी अल्हड़ और बेबाक जवानी ने कहा, "यह फ़ैसला अगर किसी वजह से मुलतवी[1] हो जाय तो भी अटल रहेगा।"

बाबा जी ने अपनी आँखें बन्द कर लीं और जिरहके-से अन्दाज़ में पूछा, "क्यों?"

हैरत है कि ग़ुलाम अली बिलकुल न घबराया। शायद इस बार निगार से उसे जो सच्चा प्रेम था, वह बोल उठा, "बाबा जी, हमने हिन्दुस्तान को आज़ादी दिलाने का जो फ़ैसला किया है, मुमकिन है, वक़्त की मजबूरियाँ उसे मुलतवी करती रहें, मगर जो फ़ैसला है, वह तो अटल है।"

बाबा जी ने, जैसा कि मेरा अब ख़याल है, इस विषय पर बहस करना

---

[1] स्थगित

उचित न समझा, इसलिए वे मुस्करा दिये—उस मुस्कराहट का मतलब भी उनकी तमाम मुस्कराहटों की तरह हर व्यक्ति ने बिलकुल अलग-अलग समझा। अगर बाबा जी से पूछा जाता तो मुझे विश्वास है कि वे उसका मतलब हम सबसे एकदम भिन्न बताते।

ख़ैर—उस हज़ार-पहलू मुस्कराहट को अपने पतले ओठों पर ज़रा और फैलाते हुए बाबा जी ने निगार से कहा,"निगार, तुम हमारे आश्रम में आ जाओ—शहज़ादा थोड़े ही दिनों में क़ैद हो जायेगा।"

निगार ने बड़े धीमे स्वर में जवाब दिया, "जी अच्छा!"

इसके बाद बाबा जी ने शादी का विषय बदलकर जलियां वाला बाग़ और कैम्प की सरगर्मियों का हाल पूछना शुरू कर दिया। बहुत देर तक ग़ुलाम अली, निगार और कमल गिरफ़्तारियों, रिहाइयों, दूध, लस्सी और तरकारियों के बारे में बातें करते रहे और मैं, जो बिलकुल चुग़द बना बैठा था, यह सोच रहा था कि बाबा जी ने शादी की इजाज़त देने में क्यों इतनी मीन-मेख की है। क्या वे ग़ुलाम अली और निगार के प्रेम को शक की नज़रों से देखते हैं? क्या उन्हें ग़ुलाम अली की सचाई पर सन्देह है? निगार को उन्होंने क्या आश्रम में आने को इसलिए दावत दी है कि वहाँ रहकर वह अपने क़ैद होने वाले पति का ग़म भूल जायगी?—लेकिन बाबा जी के इस सवाल पर, "कमल, तुम कब शादी कर रही हो?" कमल ने क्यों कहा था कि मैं तो आपके आश्रम में जा रही हूँ?—आश्रम में क्या मर्द-औरत शादी नहीं करते? मेरा दिमाग़ अजीब उलझन में फँसा था। लेकिन उधर यह बात हो रही थी कि स्वयंसेविकाएँ क्या पाँच सौ स्वयंसेवकों के लिए चपातियाँ समय पर तैयार कर लेती हैं? चूल्हे कितने हैं? और तवे कितने बड़े हैं? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि एक बहुत बड़ा चूल्हा बना लिया जाय और उस पर इतना बड़ा तवा रखा जाय कि छः औरतें एक ही वक्त में रोटियाँ पका सकें?

मैं यह सोच रहा था कि पंडितानी कमल क्या आश्रम में जाकर बाबा जी को बस राष्ट्रीय गीत और भजन ही सुनाया करेगी। मैंने आश्रम के

पुरुष स्वयंसेवक देखे थे। यद्यपि वे सब-के-सब वहाँ के नियम के अनुसार प्रतिदिन स्नान करते थे, सुबह उठकर दातुन करते थे, बाहर खुली हवा में रहते थे, भजन गाते थे, लेकिन उनके कपड़ों से पसीने की गंध फिर भी आती थी। उनमें अकसर के दाँत बदबूदार थे और वह जो खुली हवा में रहने से आदमी पर एक आनन्द-भरा निखार आता है उनमें वह बिलकुल नदारद था।

झुके-झुके से, दबे-दबे से—पीले चेहरे, धँसी हुई आँखें, आतंकित शरीर—गाय के निचुड़े हुए थनों की तरह निश्चेष्ट और निर्जीव—मैं इन आश्रम वालों को जलियां वाला बाग़ में कई बार देख चुका था।—अब मैं यह सोच रहा था कि क्या यही मर्द, जिन से घास की बू आती है, इस पंडितानी को, जो दूध, शहद और केसर की बनी है, अपनी कीचड़-भरी आँखों से घूरेंगे? —लेकिन फिर मैंने सोचा कि नहीं, हिन्दुस्तान की आज़ादी शायद इन चीज़ों से सर्वोपरी है।

मै इस 'शायद' को अपने समस्त देश-प्रेम और स्वाधीनता की भावना के बावजूद न समझ सका, क्योंकि मुझे निगार का ख़याल आया जो बिलकुल मेरे पास बैठी थी और बाबा जी को बता रही थी कि शलजम बहुत देर में गलते हैं—कहाँ शलजम और कहाँ शादी, जिसके लिए वह और ग़ुलाम अली अनुमति लेने आये थे!

मै निगार और आश्रम के बारे में सोचने लगा। आश्रम मैंने देखा न था, पर मुझे ऐसी जगहों से, जिनको आश्रम, विद्यालय, जमाअत-ख़ाना, तकिया या दर्सगाह कहा जाय, हमेशा से नफ़रत है। जाने क्यों?

मैंने कई अंध विद्यालयों और अनाथाश्रमों के लड़कों और उनके संचालकों को देखा है, सड़क पर क़तार बाँधकर चलते और भीख माँगते हुए। मैंने जमाअत-ख़ाने और दर्सगाहें देखी हैं। टख़नों से ऊँचा शरई पायजामा, बचपन में ही माथे पर मेहराब, जो बड़े हैं उनके चेहरे पर घनी डाढ़ी—जो बड़े हो रहे हैं, उनके गालों और ठोड़ी पर बड़े ही भद्दे मोटे और महीन बाल—नमाज़ पढ़ते जा रहे हैं, लेकिन हर एक के चेहरे पर हैवानियत—एक अधूरी हैवानियत मुसल्ले पर बैठी नज़र आती है।

निगार औरत थी। मुसलमान, हिन्दू, सिक्ख या ईसाई औरत नहीं—वह सिर्फ़ औरत थी—नहीं, औरत की वह दुआ थी जो वह अपने से प्रेम करने वाले के लिए या उसके लिए जिससे वह स्वयं प्रेम करती है, सच्चे दिल से माँगती है।

मेरी समझ में न आता था कि बाबा जी के आश्रम में, जहाँ हर रोज़ नियम के अनुसार दुआ माँगी जाती है, यह औरत, जो खुद एक दुआ है, कैसे अपने हाथ उठा सकेगी ?

मैं सोचता हूँ तो बाबा जी, निगार, ग़ुलाम अली, वह सुन्दर पंडितानी और अमृतसर का सारा वातावरण, जो स्वतंत्रता-आन्दोलन के रोमान-भरे नशे में लिपटा हुआ था, एक स्वप्न-सा लगता है। ऐसा स्वप्न जो एक बार देखने के बाद जी चाहता है कि फिर दीखे।

बाबा जी का आश्रम मैंने अब भी नहीं देखा, पर जो नफ़रत मुझे उससे पहले थी वह अब भी है।

वह जगह जहाँ प्रकृति के विरुद्ध सिद्धान्त बनाकर इंसानों को एक लीक पर चलाया जाय, मेरी निगाहों में कोई मूल्य नहीं रखती। आज़ादी हासिल करना बिलकुल ठीक है। उसकी प्राप्ति के लिए आदमी मर जाय, मैं इसको समझ सकता हूँ, लेकिन उसके लिए यदि उस बेचारे को तरकारी की तरह ठंडा और निरीह बना दिया जाय तो यह मेरी समझ के बिलकुल बाहर की बात है।

झोंपड़ों में रहना, आराम के बदले सख्त काम करना, राष्ट्रीय गीत गाना, क़ौमी नारे लगाना—यह सब ठीक है। पर यह क्या कि इंसान की उस स्वाभाविक वृत्ति को, जिसे सौन्दर्य-प्रेम कहते हैं, आहिस्ता-आहिस्ता मुर्दा कर दिया जाय। वह इंसान क्या जिसमें खूबसूरती और हंगामों की तड़प न रहे। ऐसे आश्रमों, मदरसों, विद्यालयों और मूलियों के खेत में क्या फ़र्क है ?

देर तक बाबा जी ग़ुलाम अली और निगार से जलियां वाला बाग़ की सरगर्मियों के बारे में बातें करते रहे। अन्त में उन्होंने उस जोड़े को, जो

स्पष्ट है कि अपने आने का उद्देश्य भूल नहीं गया था, कहा कि वे दूसरे दिन शाम को जलियां वाला बाग़ आयेंगे और उन दोनों को मियाँ-बीवी बना देंगे।

ग़ुलाम अली और निगार बड़े प्रसन्न हुए। इससे बढ़कर उनका सौभाग्य और क्या हो सकता था कि बाबा जी स्वयं उनके ब्याह की रस्म अदा करेंगे। ग़ुलाम अली, जैसा कि उसने मुझे बहुत बाद में बताया, इतना ख़ुश हुआ था कि तुरन्त ही उसे इस बात का एहसास होने लगा था कि शायद जो कुछ उसने-सुना है, ग़लत है। क्योंकि बाबा जी के पतले, टेढ़े-मेढ़े हाथों की हल्की-सी जुम्बिश भी एक ऐतिहासिक घटना बन जाती थी। इतनी बड़ी हस्ती एक साधारण आदमी के लिए, जो महज़ संयोग-वश कांग्रेस का डिक्टेटर बन गया है, चलकर जलियां वाला बाग़ जाय और उसकी शादी में दिलचस्पी ले, यह भारत के समस्त समाचार पत्रों के पहले पृष्ठ की पहली सुर्ख़ी थी।

ग़ुलाम अली का ख़याल था बाबा जी नहीं आयेंगे, क्योंकि वे अत्यधिक व्यस्त रहते हैं। लेकिन उसका यह ख़याल, जो उसने वास्तव में मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोण से सिर्फ इसलिए प्रकट किया था कि वे ज़रूर आयें, उसकी इच्छा के अनुसार एकदम ग़लत सिद्ध हुआ।—शाम के छः बजे जलियां-वाला बाग़ में जब रात की रानी की झाड़ियाँ अपने सुवास के झोंके फैलाने की तैयारियाँ कर रही थीं और अनेक स्वयंसेवक दूल्हा-दुल्हन के लिए एक छोटा-सा तम्बू गाड़कर उसे चमेली, गेंदे और गुलाब के फूलों से सजा रहे थे, बाबाजी उस राष्ट्रीय गीत गाने वाली पंडितानी, अपने सेक्रेटरी और लाला हरिराम सर्राफ़ के साथ लाठी टेकते हुए आये। उनके आगमन की सूचना जलियां वाला बाग़ में सिर्फ़ उसी वक़्त पहुँची, जब सदर फाटक पर लाला हरिराम की मोटर रुकी।

मैं भी वहीं था। स्वयंसेविकाएँ एक दूसरे तम्बू में निगार को दुल्हन बना रही थीं। ग़ुलाम अली ने कोई विशेष आयोजन नहीं किया था। सारे दिन वह शहर के कांग्रेसी बनियों से स्वयंसेवकों के खाने-पीने की आवश्यकताओं के बारे में बातें करता रहा था। इससे छुट्टी पाकर उसने कुछ क्षणों के लिए निगार से एकांत में कुछ बात-चीत की थी। इसके बाद जैसा कि मैं जानता हूँ,

उसने अपने मातहत अधिकारियों से सिर्फ़ इतना कहा था कि शादी की रस्म अदा होने के साथ ही वह और निगार दोनों झंडा ऊँचा करेंगे।

जब ग़ुलाम अली को बाबा जी के आगमन की सूचना मिली तो वह कुएँ के पास खड़ा था। मैं शायद उसे यह कह रहा था—"ग़ुलाम अली, तुम जानते हो यह कुआँ, जब गोली चली थी, लाशों से लबालब भर गया था—आज सब इसका पानी पीते हैं।—इस बाग़ के जितने फूल हैं, इसी के पानी से सींचे हैं। मगर लोग आते हैं और उन्हें तोड़कर ले जाते हैं—पानी के किसी घूँट में लो्ू का नमक नहीं होता, फूल की किसी पत्ती में ख़ून की लाली नहीं होती—यह क्या बात है?"

मुझे अच्छी तरह याद है, मैंने यह कहकर अपने सामने, उस मकान की खिड़की की तरफ़ देखा था, जिस में कहा जाता है कि एक नौ-उम्र लड़की बैठी तमाशा देख रही थी और जनरल डायर की गोली का निशाना बन गयी थी। उसकी छाती से निकले हुए ख़ून की लकीर चूने की धुँधली दीवार पर और भी धुँधली हो रही थी।

अब ख़ून कुछ इतना सस्ता हो गया था कि उसके बहने-बहाने का वह असर ही नहीं होता। मुझे याद है कि जलियां वाला बाग़ के ख़ूनी हत्या-कांड के छः-सात महीने बाद जब मैं तीसरी या चौथी कक्षा में पढ़ता था, हमारा मास्टर सारी क्लास को एक बार उस बाग़ में ले गया। उस समय यह बाग़ बाग़ नहीं था। उजाड़, सुनसान और ऊँची-नीची ज़मीन का एक टुकड़ा था जिसमें हर क़दम पर मिट्टी के छोटे-बड़े ढेले ठोकरें खाते थे। मुझे याद है मिट्टी का एक छोटा-सा ढेला, जिस पर जाने पान की पीक के धब्बे या क्या था, हमारे मास्टर ने उठा लिया था और हमसे कहा था—देखो, इस पर अभी तक हमारे शहीदों का ख़ून लगा है।

यह कहानी लिख रहा हूँ और स्मृति-पट पर सैकड़ों छोटी-छोटी बातें उभर रही हैं। मगर मुझे तो ग़ुलाम अली और निगार की शादी का किस्सा बयान करना है।

ग़ुलाम अली को जब बाबा जी के आगमन की सूचना मिली तो उसने

दौड़कर सब स्वयंसेवक इकट्ठे किये, जिन्होंने सैनिक ढंग से उनको सलामी दी। इसके बाद काफ़ी देर तक वे और ग़ुलाम अली विभिन्न कैम्पों का चक्कर लगाते रहे। इस बीच में बाबा जी ने, जिनकी विनोद-प्रियता को सभी जानते थे, स्वयंसेविकाओं और अन्य कार्यकर्त्ताओं से बातें करते समय कई फ़िकरे चुस्त किये।

इधर-उधर मकानों में जब बत्तियाँ जलने लगीं और जलियां वाला बाग़ पर धुँधला अँधेरा-सा छा गया तो स्वयंसेविकाओं ने एक स्वर में भजन गाना शुरू किया। चन्द आवाज़ें सुरीली, शेष सब बेसुरी थीं, पर उसका सामूहिक प्रभाव बड़ा सुखद था। बाबा जी आँखें बन्द किये सुन रहे थे। लगभग एक हज़ार आदमी जमा थे, जो चबूतरे के इर्द-गिर्द ज़मीन पर बैठे थे। भजन गाने वाली लड़कियों के अतिरिक्त हर कोई चुप था।

भजन समाप्त होने पर कुछ क्षणों तक ऐसी ख़ामोशी छायी रही जो एकदम टूटने के लिए बैचेन हो। चुनांचे जब बाबा जी ने आँखें खोलीं और अपनी मीठी आवाज़ में कहा—"बच्चो, जैसा कि तुम्हें मालूम है, मैं यहाँ आज आज़ादी के दो दीवानों को एक करने आया हूँ।" तो सारा बाग़ ख़ुशी के नारों से गूँज उठा।

निगार दुल्हन बनी चबूतरे के एक कोने में सिर झुकाये बैठी थी। खादी की तिरंगी साड़ी में बहुत भली दिख रही थी। बाबा जी ने संकेत से उसे पास बुलाया और ग़ुलाम अली के निकट बैठा दिया। इस पर और ख़ुशी के नारे बुलन्द हुए।

ग़ुलाम अली का चेहरा असाधारण रूप से तमतमा रहा था। मैंने ध्यान से देखा था, जब उसने निकाह का काग़ज़ अपने दोस्त से लेकर बाबा जी को दिया तो उसका हाथ काँप गया।

चबूतरे पर एक मौलवी साहब भी मौजूद थे। उन्होंने क़ुरान की वह आयत पढ़ी जो ऐसे मौक़ों पर पढ़ा करते हैं। बाबा जी ने आँखें बन्द कर लीं। निकाह की कारवाई ख़त्म हुई तो उन्होंने अपने ख़ास अन्दाज़ में दूल्हा-दुल्हन को आशीर्वाद दिया और जब छुहारों की बारिश शुरू हुई तो उन्होंने बच्चों

की तरह झपट-झपटकर दस-पन्द्रह छुहारे इकट्ठे करके अपने पास रख लिये।

निगार की एक हिन्दू सहेली ने शर्मीली मुस्कराहट से एक छोटी-सी डिबिया ग़ुलाम अली को दी और उससे कुछ कहा। ग़ुलाम अली ने डिबिया खोली और निगार की सीधी माँग में सेंदूर भर दिया। जलियां वाला बाग़ का शीतल वायुमंडल एक बार फिर तालियों की तेज़ आवाज़ से गूँज उठा।

बाबा जी उस शोर में उठे। हुजूम एकदम ख़ामोश हो गया।

रात की रानी और चमेली की मिली-जुली सोंधी-सोंधी गंध शाम की हल्की-फुल्की हवा में तैर रही थी। बड़ा सुहावना समाँ था। बाबा जी की आवाज़ और भी मीठी थी। ग़ुलाम अली और निगार की शादी पर अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करने के बाद उन्होंने कहा—"ये दोनों बच्चे अब ज़्यादा मुस्तैदी और सच्ची लगन के साथ देश और जाति की सेवा करेंगे, क्योंकि विवाह का सही उद्देश्य मर्द और औरत की सच्ची दोस्ती है। एक दूसरे के दोस्त बनकर ग़ुलाम अली और निगार एक-जान होकर स्वराज्य के लिए कोशिश कर सकते हैं। योरप में ऐसी कई शादियाँ हुई हैं जिनका मतलब दोस्ती और सिर्फ़ दोस्ती होता है। ऐसे लोग आदरणीय हैं जो अपनी ज़िन्दगी से काम-वासना निकाल फेंकते हैं।"

बाबा जी देर तक विवाह के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते रहे। उनका विश्वास था कि शादी का सही आनन्द केवल उसी समय प्राप्त होता है जब मर्द-औरत का सम्बन्ध केवल शारीरिक न हो। औरत और मर्द का यौन-सम्बन्ध उनके निकट उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि आम तौर पर समझा जाता है। सहस्रों आदमी खाते हैं, अपनी रसना को तृप्त करने के लिए। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि ऐसा करना आदमी का कर्तव्य है! बहुत कम लोग ऐसे हैं जो खाते हैं, केवल ज़िन्दा रहने के लिए। असल में सिर्फ़ यही दूसरी तरह के लोग हैं जो खाने-पीने का ठीक उद्देश्य जानते हैं। इसी तरह वे लोग जो सिर्फ़ इसलिए शादी करते हैं कि उन्हें ब्याह की पवित्र भावना

की वास्तविकता और इस सम्बन्ध की पवित्रता का पता चले, यथार्थ में दाम्पत्य जीवन का आनन्द लेते हैं।

बाबा जी ने अपने इस विश्वास को कुछ ऐसे समझाकर, मन को छूने वाली कोमल भावनाओं के सहारे, बयान किया कि सुनने वालों के लिए एक बिलकुल नयी दुनिया के द्वार खुल गये। मैं स्वयं बड़ा प्रभावित हुआ। ग़ुलाम अली, जो मेरे सामने बैठा था, बाबा जी के भाषण के एक-एक शब्द को जैसे पी रहा था। बाबा जी ने जब बोलना बन्द किया तो उसने निगार से कुछ कहा। इसके बाद उठकर उसने काँपती हुई आवाज़ में यह घोषणा की:—

"मेरी और निगार की शादी इसी क़िस्म की आदर्श शादी होगी, जब तक हिन्दुस्तान को स्वराज्य नहीं मिलता, मेरा और निगार का रिश्ता बिलकुल दोस्तों जैसा होगा।"

जलियां वाला बाग़ का शीतल वायुमंडल देर तक तालियों के बेपनाह शोर से गूँजता रहा। शहज़ादा ग़ुलाम अली भावुक हो गया। उसके काश्मीरी चेहरे पर लाली दौड़ने लगी। भावनाओं के तूफ़ान में उसने निगार को ऊँचे स्वर में पुकारा—"निगार! तुम ग़ुलाम बच्चे की माँ बनो—क्या यह तुम्हें गवारा होगा?"

निगार जो कुछ शादी होने के कारण और कुछ बाबा जी के भाषण के प्रभाव में बौखलायी हुई-सी थी, यह कड़क सुनकर और भी बौखला गयी। सिर्फ़ इतना कह सकी—"जी? . . . जी नहीं!"

हुजूम ने फिर तालियाँ पीटीं और ग़ुलाम अली और भी ज़्यादा भावुक हो गया। निगार को ग़ुलाम बच्चे की शर्मिन्दगी से बचाकर वह इतना ख़ुश हुआ कि वह बहक गया और मूल विषय से हटकर आज़ादी हासिल करने की पेचदार गलियों में जा निकला। एक घंटे तक वह भावुकता भरे स्वर में बोलता रहा। अचानक उसकी दृष्टि निगार पर पड़ी। जाने क्या हुआ—एकदम उसकी बोलने की शक्ति जवाब दे गयी। जैसे आदमी शराब के नशे में बिना किसी हिसाब के नोट निकालता जाय और एकदम बटुआ ख़ाली

पाये, अपने भाषण का बटुआ ख़ाली पाकर ग़ुलाम अली को बड़ी उलझन हुई। लेकिन उसने तुरन्त ही बाबा जी की ओर देखा और झुककर कहा, "बाबा जी! हम दोनों को आपका आशिर्वाद चाहिए कि जिस बात का हमने प्रण किया है, उस पर पूरे रहें।"

दूसरे दिन सुबह छः बजे शहज़ादा ग़ुलाम अली को गिरफ़्तार कर लिया गया, क्योंकि उस भाषण में, जो उसने स्वराज्य मिलने तक बच्चा पैदा न करने की क़सम खाने के बाद किया था, अँग्रेज़ों का तख़्ता उलटने की धमकी दी थी।

गिरफ़्तार होने के चन्द रोज़ बाद ग़ुलाम अली को आठ महीने की क़ैद हुई और उसे मुलतान जेल भेज दिया गया। वह अमृतसर का इक्तालिसवाँ डिक्टेटर था और शायद चालीस हज़ारवाँ राजनीतिक बन्दी! क्योंकि जहाँ तक मुझे याद है, उस आन्दोलन में क़ैद होने वाले लोगों की संख्या अख़बारों ने चालीस हज़ार ही बतायी थी।

आम ख़याल था कि आज़ादी की मंज़िल अब केवल दो हाथ ही दूर है। लेकिन फ़िरंगी कूटनीतिज्ञों ने उस आन्दोलन का दूध उबलने दिया और जब हिन्दुस्तान के बड़े नेताओं के साथ कोई समझौता हुआ तो यह आन्दोलन ठंडी लस्सी में बदल गया!

आज़ादी के दीवाने जेलों से बाहर निकले तो क़ैद की तकलीफ़ें भूलने और अपने बिगड़े हुए कारबार सम्हालने में लग गये। शहज़ादा ग़ुलाम अली सात महीने के बाद ही बाहर आ गया था। यद्यपि उस समय पहला-सा जोश नहीं था, फिर भी अमृतसर के स्टेशन पर लोगों ने उसका स्वागत किया, उसके सम्मान में तीन-चार दावतें और जलसे भी हुए। मैं उन सब में शामिल था। पर यह महफ़िलें बिलकुल फीकी थीं। लोगों पर अब एक अजीब क़िस्म की थकान छायी हुई थी, जैसे एक लम्बी दौड़ में दौड़ने वालों से अचानक कह दिया गया था कि ठहरो, यह दौड़ फिर से शुरू होगी। और अब जैसे ये दौड़ने वाले कुछ देर हाँफने के बाद दौड़ के प्रारम्भिक स्थान की ओर बड़ी बेदिली के साथ लौट रहे थे।

कई वर्ष बीत गये——यह नीरस थकान हिन्दुस्तान से दूर न हुई थी। मेरी दुनिया में कई छोटे-मोटे इन्क़लाब आये। डाढ़ी-मूँछ उगी, कालेज में भरती हुआ, एफ़० ए० में दोबारा फ़ेल हुआ——पिता का देहान्त हो गया। रोज़ी की तलाश में इधर-उधर परेशान हुआ। एक थर्ड क्लास साप्ताहिक में अनुवादक की हैसियत से नौकरी की, यहाँ से भी घबराया तो एक बार फिर शिक्षा प्राप्त करने का ख़याल आया। अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में दाख़िल हुआ और तीन महीने बाद ही टी०बी० का रोगी होकर काश्मीर के देहात में आवारागर्दी करता रहा। वहाँ से लौटकर बम्बई का रुख़ किया। यहाँ दो बरस में तीन हिन्दू-मुस्लिम दंगे देखे, जी घबराया तो दिल्ली चला गया। वहाँ बम्बई के मुक़ाबिले में हर चीज़ सुस्त रफ़्तार देखी। कहीं गति दीखी भी तो उसमें एक ज़नानापन महसूस हुआ। आख़िर यही सोचा कि बम्बई अच्छा है। क्या हुआ साथ वाले पड़ोसी को हमारा नाम तक पूछने का अवकाश नहीं। जहाँ लोगों को फ़ुरसत होती है वहाँ छल-कपट और चालबाज़ी अधिक होती हैं। चुनांचे दिल्ली में दो बरस ठंडी ज़िन्दगी बिताने के बाद सदा गतिशील रहने वाली बम्बई चला आया।

घर से निकले अब आठ बरस हो चले थे। दोस्त-अहबाब और अमृतसर की सड़कें, गलियाँ किस हालत में हैं, इसका मुझे कुछ ज्ञान नहीं था। किसी से पत्र-व्यवहार ही न था जो पता चलता। वास्तव में मुझे उन आठ बरसों में अपने अतीत की ओर से कुछ बेपरवाही-सी हो गयी थी——कौन बीते हुए दिनों के बारे में सोचे? जो आठ बरस पहले ख़र्च हो चुका है उसका अब हिसाब करने से लाभ? ज़िन्दगी के रुपये में वही पाई अधिक महत्त्व रखती है जिसे तुम आज ख़र्च करना चाहते हो या जिस पर कल किसी की आँख है।

आज से छः वर्ष पहले की बात कर रहा हूँ जब ज़िन्दगी के रुपये और चाँदी के रुपये से, जिस पर बादशाह सलामत की छाप होती थी, पाई ख़र्च नहीं हुई थी। मैं इतना अधिक विपन्न नहीं था, क्योंकि फ़ोर्ट में अपने पाँव के लिए एक क़ीमती शू ख़रीदने जा रहा था।

आर्मी ऐंड नेवी स्टोर के इस ओर हॉर्नबी रोड पर जूतों की एक दुकान

है जिसकी नुमायशी अलमारियाँ मुझे बहुत देर से उस ओर खींच रही थीं। मेरी स्मरण-शक्ति बहुत कमज़ोर है, चुनांचे यह दुकान ढूँढ़ने में काफ़ी समय लग गया।

यों तो मैं अपने लिए एक क़ीमती शू ख़रीदने आया था, पर जैसा कि मेरा स्वभाव है, दूसरी दुकानों में सजी हुई चीज़ें देखने में लग गया। एक स्टोर में सिगरेट केस देखे, दूसरे में पाइप। इसी तरह फ़ुटपाथ पर टहलता-टहलता जूतों की एक छोटी-सी दुकान पर आया और उसके अन्दर चला गया कि चलो यहीं से ख़रीद लेते हैं। दुकानदार ने मेरा अभिवादन किया और पूछा "क्या माँगता है साब?"

मैंने थोड़ी देर याद किया कि मुझे क्या चाहिए "हाँ—क्रेप सोल शू!"

"इधर नहीं रखता हम।"

मानसून करीब थी। मैंने सोचा गमबूट ही ख़रीद लूँ, "गम बूट निकालो!"

"बाजू वाले की दूकान से मिलेगा। रबड़ की कोई चीज़ हम इधर नहीं रखता।"

मैंने ऐसे ही पूछा, "क्यों?"

"सेठ की मर्ज़ी।"

यह संक्षिप्त, किन्तु एकदम पूर्ण उत्तर सुनकर मै दुकान से बाहर निकलने ही वाला था कि एक ख़ुश-पोश आदमी पर मेरी नज़र पड़ी जो बाहर फ़ुटपाथ पर एक बच्चा गोद में उठाये फल वाले से संतरा ख़रीद रहा था। मैं बाहर और वह दुकान की तरफ़ मुड़ा—"अरे...ग़ुलाम अली!"

"सआदत!" यह कहकर उसने बच्चे सहित मुझे अपनी छाती के साथ खींच लिया। बच्चे को यह हरकत बुरी लगी और उसने रोना शुरू कर दिया। ग़ुलाम अली ने उस आदमी को बुलाया, जिसने मुझ से कहा था कि रबड़ की कोई चीज इधर हम नहीं रखता, और उसे बच्चा देकर कहा, "जाओ, इसे घर ले जाओ!" फिर वह मेरी ओर मुड़ा, "कितने दिनों बाद हम एक दूसरे से मिले हैं।"

मैंने ग़ुलाम अली के चेहरे की तरफ़ ग़ौर से देखा—वह अकड़, वह

हल्का-सा गुंडापन, जो उसकी विशेषता थी, अब कहीं न था—मेरे सामने उत्तेजनात्मक भाषण करने वाले खद्दर-धारी नौजवान की जगह, एक घरेलू क़िस्म का आम इंसान खड़ा था—मुझे उसका वह अंतिम भाषण याद आया, जब उसने जलियां वाला बाग़ के शीतल वायुमंड़ल को इन गर्म शब्दों से कँपकँपा दिया था—"निगार—तुम एक ग़ुलाम बच्चे की माँ बनो, क्या तुम्हें यह गवारा होगा?" तत्काल मुझे उस बच्चे का ख़याल आया जो ग़ुलाम अली की गोद में था। मैंने उससे पूछा—"यह बच्चा किसका है?" ग़ुलाम अली ने बिना किसी झिझक के जवाब दिया—"मेरा—इससे बड़ा एक और भी है—कहो तुमने कितने पैदा किये?" क्षण भर के लिए मुझे लगा जैसे ग़ुलाम अली के बदले कोई और बोल रहा है। मेरे दिमाग़ में सैकड़ों ख़याल ऊपर-तले गिरते गये। क्या ग़ुलाम अली अपनी क़सम बिलकुल भूल चुका है? क्या इसका राजनीतिक जीवन इससे बिलकुल अलग हो चुका है? हिन्दुस्तान को आज़ादी दिलाने का वह जोश, वह वलवला कहाँ गया? उस डाड़ी-मूँछ विहीन ललकार का क्या हुआ? . . . निगार कहाँ थी? . . . क्या उसने दो ग़ुलाम बच्चों की माँ बनना स्वीकार कर लिया . . . शायद वह मर चुकी हो, हो सकता है ग़ुलाम अली ने दूसरी शादी कर ली हो।

"क्या सोच रहे हो . . . कुछ बातें करो। इतने अर्से के बाद मिले हो।" ग़ुलाम अली ने मेरे कंधे पर ज़ोर से हाथ मारा।

मैं शायद ख़ामोश हो गया था। एकदम चौंका और एक लम्बी "हाँ" करके सोचने लगा कि बात कैसे शुरू करूँ। लेकिन ग़ुलाम अली ने मेरा इन्तज़ार न किया और बोलना शुरू किया, "यह दुकान मेरी है। दो बरस से मैं यहाँ बम्बई में हूँ। बड़ा अच्छा कारबार चल रहा है। महीने में तीन-चार सौ बच जाते हैं। तुम क्या कर रहे हो? सुना है कि बहुत अच्छे अफ़साने लिखते हो। याद है, हम एक दफ़ा यहाँ भाग के आये थे . . . लेकिन यार अजीब बात है। उस बम्बई में और इस बम्बई में बड़ा अंतर दिखायी देता है। ऐसा लगता है वह छोटी थी और यह बड़ी है।"

इतने में एक गाहक आया जिसे टेनिस शू चाहिए था। ग़ुलाम अली

ने उससे कहा . . . "रबड़ का माल इधर नहीं मिलता, बाजू की दूकान में चले जाइए !"

गाहक चला गया तो मैंने ग़ुलाम अली से पूछा, "रबड़ का माल तुम क्यों नहीं रखते ? मैं भी यहाँ क्रेप-सोल शू लेने आया था।"

यह सवाल मैंने योंही किया था। लेकिन ग़ुलाम अली का चेहरा एकदम अप्रतिभ हो गया। धीमे स्वर में उसने केवल इतना कहा, "मुझे पसन्द नहीं।"

"क्या पसन्द नहीं ?"

"यही रबड़, . . . रबड़ की बनी हुई चीज़ें।" यह कहकर उसने मुस्कराने की चेष्टा की। जब असफल रहा तो ज़ोर से सूखा-सा ठहाका लगाया, "मैं तुम्हें बताऊँगा। है तो बिलकुल वाहियात सी चीज़, लेकिन . . . लेकिन मेरी ज़िन्दगी से इसका बहुत गहरा ताल्लुक है।"

चिन्ता की गहराई ग़ुलाम अली के चेहरे पर पैदा हुई। उसकी आँखें, जिनमें अभी तक खिलंडरापन मौजूद था, निमिष भर को धुँधली हुईं, लेकिन फिर चमक उठीं, "बकवास थी यार वह ज़िन्दगी . . . सच कहता हूँ सआदत, मैं वह दिन भूल चुका हूँ जब मेरे दिमाग़ पर लीडरी सवार थी। चार-पाँच बरस से अब बड़े सुकून में हूँ। बीवी है, बच्चे है, अल्लाह का बड़ा फ़ज़्लो-करम है।"

अल्लाह की दया और कृपा से प्रभावित होकर ग़ुलाम अली ने बिज़नेस का ज़िक्र शुरू कर दिया कि कितनी पूँजी से उसने काम शुरू किया था। एक बरस में कितना फ़ायदा हुआ। अब बैंक में उसका कितना रुपया है। मैंने उसे बीच में टोका और कहा, "लेकिन तुमने किसी वाहियात चीज़ का ज़िक्र किया था, जिसका तुम्हारी ज़िन्दगी से गहरा ताल्लुक है।"

एक बार फिर ग़ुलाम अली का चेहरा बेरौनक हो गया। उसने एक लम्बी 'हाँ' की और जवाब दिया, "गहरा ताल्लुक था—शुक्र है कि अब नहीं है . . . लेकिन मुझे सारी दास्तान सुनानी पड़ेगी।"

इतने में उसका नौकर आ गया। दुकान उसके सुपुर्द करके वह मुझे

अन्दर अपने कमरे में ले गया जहाँ बैठकर उसने मुझे इतमीनान से बताया कि उसे रबड़ की चीज़ों से क्यों नफ़रत पैदा हुई।

"मेरी सियासी[1] ज़िन्दगी कैसे शुरू हुई, इसके बारे में तुम अच्छी तरह जानते हो। मेरा कैरेक्टर कैसा था, यह भी तुम्हें मालूम है। हम दोनों क़रीब-क़रीब एक ही जैसे थे। मेरा मतलब है हमारे माँ-बाप किसी से फ़ख्र से नहीं कह सकते थे कि हमारे लड़के बे-ऐब हैं। मालूम नहीं मैं तुमसे यह क्यों कह रहा हूँ। लेकिन शायद तुम समझ गये हो कि मैं कोई मज़बूत कैरेक्टर का मालिक नहीं था। मुझे शौक था कि मैं कुछ करूँ! सियासत से मुझे इसीलिए दिलचस्पी पैदा हुई थी। लेकिन ख़ुदा की क़सम खाकर कहता हूँ कि मैं झूठा नहीं था। वतन के लिए मैं जान भी दे देता। अब भी हाज़िर हूँ। लेकिन मैं समझता हूँ. . .बहुत सोच-विचार के बाद इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हिन्दुस्तान की सियासत, उसके लीडर सब बच्चे हैं, बिलकुल उसी तरह जिस तरह मैं था। एक लहर उठती है, उसमें जोश, ज़ोर-शोर सभी होता है, लेकिन फ़ौरन बैठ जाती है। इसकी वजह यह है, याने जहाँ तक मेरा ख़याल है, कि लहर पैदा की जाती है, ख़ुद-ब-ख़ुद नहीं उठती—लेकिन मैं शायद तुम्हें अच्छी तरह समझा नहीं सका।"

ग़ुलाम अली के विचारों में बड़ा उलझाव था। मैंने सिगरेट दिया। उसे सुलगाकर उसने ज़ोर से तीन कश लिये और कहा, "तुम्हारा क्या ख़याल है? क्या हिन्दुस्तान की हर कोशिश, जो उसने आज़ादी हासिल करने के लिए की है, ग़ैर-कुदरती नहीं—कोशिश नहीं—मेरा मतलब है, उसका अंजाम क्या हर बार ग़ैर-कुदरती नहीं होता रहा—हमें क्यों आज़ादी नहीं मिलती—क्या हम सब नामर्द हैं? नहीं! हम सब मर्द हैं, लेकिन हम ऐसे माहौल में साँस लेते हैं कि हमारी कूवत का हाथ आज़ादी तक पहुँचने ही नहीं पाता।"

मैंने उससे पूछा, "तुम्हारा मतलब है कि आज़ादी और उसकी प्राप्ति के बीच में कोई चीज़ रुकावट बन गयी है?"

---

[1] राजनीतिक

गुलाम अली की आँखें चमक उठीं, "बिलकुल ! लेकिन यह कोई पक्की दीवार नहीं है, कोई ठोस चट्टान नहीं है—एक पतली-सी झिल्ली है—हमारी अपनी सियासत की। हमारी बनावटी ज़िन्दगी की, जहाँ लोग दूसरों को धोखा देने के अलावा अपने आप से भी फ़रेब करते हैं।"

उसके विचार पूर्ववत उलझे हुए थे। मेरा ख़याल है वह अपने पिछले तजरुबों को अपने दिमाग़ में ताज़ा कर रहा था। सिगरेट बुझाकर उसने मेरी तरफ़ देखा और ऊँची आवाज़ में कहा, "इंसान जैसा है उसे वैसा ही रहना चाहिए। नेक काम करने के लिए यह क्या ज़रूरी है कि इंसान अपना सिर मुँडाये, गेरुए कपड़े पहने या बदन पर राख मले। तुम कहोगे यह उसकी मर्ज़ी है। लेकिन मैं कहता हूँ उसकी इस मर्ज़ी से ही, उसकी इस निराली चीज़ से ही गुमराही फैलती है। ये लोग ऊँचे होकर इंसान के स्वभाव की कुदरती कमज़ोरियों से ग़ाफ़िल हो जाते हैं। बिलकुल भूल जाते हैं कि उनके कैरेक्टर, उनके ख़यालात और अक़ीदे तो हवा में घुल-मिल जायँगे। लेकिन उनके मुँडे हुए सिर, उनके बदन की राख और उनके गेरुए कपड़े भोले-भाले इंसानों के दिमाग़ में रह जायँगे।" गुलाम अली और भी जोश में आ गया, "दुनिया में इतने सुधारक पैदा हुए हैं, उन की तालीम तो लोग भूल चुके हैं, लेकिन सलीबें (क्रास) धागे, दाढ़ियाँ, कड़े और बग़लों के बाल रह गये हैं—एक हज़ार बरस पहले जो लोग यहाँ बसते थे, हम उनसे ज़्यादा तजरुबेकार हैं। मेरी समझ में नहीं आता, आज के सुधारक क्यों यह ख़याल नहीं करते कि वे इंसान की सूरत बिगाड़ रहे हैं। जी में कई बार आता है, बुलन्द आवाज़ में चिल्लाना शुरू कर दूँ।—ख़ुदा के लिए इंसान को इंसान रहने दो। उसकी सूरत को तुम बिगाड़ चुके हो, ठीक है—अब उसके हाल पर रहम करो।—तुम उसको ख़ुदा बनाने की कोशिश करते हो, लेकिन वह ग़रीब अपनी इंसानियत भी खो रहा है......सआदत ! मैं ख़ुदा की क़सम खाकर कहता हूँ, यह मेरे दिल की आवाज़ है, मैंने जो महसूस किया है, वही कह रहा हूँ। अगर यह ग़लत है तो फिर कोई चीज़ दुरुस्त और सही नहीं है—मैंने दो बरस, पूरे दो बरस दिमाग़ के साथ कई कुश्तियाँ लड़ी हैं। मैंने अपने दिल, अपने

ज़मीर, अपने जिस्म, अपने रोयें-रोयें से बहस की है, मगर इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ कि इंसान को इंसान ही रहना चाहिए। नफ़्स (काम) हज़ारों में एक-दो आदमी मारें। सबने अपना नफ़्स मार लिया तो मैं पूछता हूँ यह भस्म किसके काम आयेगी ?" यहाँ तक कहकर उसने एक और सिगरेट लिया और उसे सुलगाने में सारी तीली जलाकर गर्दन को एक हल्का-सा झटका दिया, "कुछ नहीं सआदत, तुम नहीं जानते, मैंने कितनी रूहानी और जिस्मानी तकलीफ़ उठायी है। लेकिन फ़ितरत[1] के ख़िलाफ़ जो भी क़दम उठायेगा उसे तकलीफ़ बरदाश्त करनी ही होगी। ...मैंने उस दिन... तुम्हें याद होगा वह दिन ...जलियां वाला बाग़ में इस बात का एलान करके कि निगार और मैं ग़ुलाम बच्चे पैदा नहीं करेंगे, एक अजीब तरह की बिजली की-सी ख़ुशी महसूस की थी—मुझे ऐसा लगा था कि इस एलान के बाद मेरा सिर ऊँचा होकर आसमान के साथ जा लगा है। लेकिन जेल से वापस आने के बाद मुझे आहिस्ता-आहिस्ता इस बात का तकलीफ़-देह—बेहद तकलीफ़-देह एहसास होने लगा कि मैंने अपने जिस्म का, अपनी रूह का एक बहुत ही ज़रूरी हिस्सा बेकार कर लिया है। ...अपने हाथों से अपनी ज़िन्दगी के बाग़ का सब से हसीन फूल मसल डाला है। ... शुरू-शुरू में इस ख़याल से मुझे एक अजीब किस्म का तसल्ली देने वाला फ़ख्र महसूस होता रहा कि मैंने ऐसा काम किया है जो दूसरों से नहीं हो सकता। लेकिन धीरे-धीरे जब मेरे शऊर[2] के मसाम[3] खुलने लगे तो हक़ीक़त अपनी तमाम तल्ख़ियों समेत मेरे रग-ो-रेशे में रचने लगी ...जेल से वापस आने पर मैं निगार से मिला....अस्पताल छोड़कर वह बाबा जी के आश्रम में चली गयी थी...सात महीने की क़ैद के बाद जब मैं उससे मिला तो उसकी बदली हुई रंगत, उसकी बदली हुई दिमाग़ी और

---

[1] प्रकृति

[2] चेतना

[3] लोम-रन्ध्र

जिस्मानी हालत देखकर मैंने ख़याल किया कि शायद मेरी नज़रों ने धोखा खाया है। लेकिन एक बरस गुज़रने के बाद—एक बरस उसके साथ—" गुलाम अली के ओठों पर एक ज़ख्मी मुस्कराहट पैदा हुई—"हाँ, एक बरस उसके साथ रहने के बाद मुझे मालूम हुआ कि उसका ग़म भी वही है जो मेरा था।...लेकिन न वह मुझ पर ज़ाहिर करना चाहती है और न मैं उस पर ज़ाहिर करना चाहता था...हम दोनों अपने फ़ैसले की ज़ंजीरों में जकड़े हुए थे...एक बरस में सियासी जोश आहिस्ता-आहिस्ता ठंडा हो चुका था। खादी के लिबास और तिरंगे झंडे में अब वह पहले की-सी काशिश बाकी न रही थी...इन्क़लाब ज़िन्दाबाद का नारा अगर कभी बुलन्द होता भी था तो उसमें वह शान नज़र न आती थी...जलियां वाला बाग़ में एक तम्बू भी नहीं था... पुराने कैम्पों के खूँटे कहीं-कहीं गड़े नज़र आते थे...ख़ून से सियासत की गर्मी क़रीब-क़रीब निकल चुकी थी...मैं अब ज़्यादा वक्त घर ही में रहता था, अपनी बीवी के पास......"एक बार फिर गुलाम अली के ओठों पर वही ज़ख्मी मुस्कराहट पैदा हुई और वह कुछ कहते-कहते ख़ामोश हो गया। मैं भी चुप रहा क्योंकि मैं उसके विचारों का क्रम तोड़ना न चाहता था।

क्षण भर बाद उसने अपने माथे का पसीना पोंछा और सिगरेट बुझा-कर कहने लगा, "हम दोनों एक अजीब क़िस्म की लॉनत में गिरफ़्तार थे...निगार से मुझे जितनी मुहब्बत है, तुम उसे जानते हो...मैं सोचने लगा—यह मुहब्बत क्या है?...मैं उसको हाथ लगाता हूँ तो उसको जिस्म में जो कँपकँपाहट पैदा होती है, क्यों उसे उसकी आख़िरी हद तक नहीं पहुँचने देता?...मैं क्यों डरता हूँ कि मुझ से कोई गुनाह हो जायेगा—मुझे निगार की आँखें बहुत पसन्द हैं। एक रोज़ जब कि शायद मैं बिलकुल सही हालत में था, मेरा मतलब है, जैसा कि हर इंसान को होना चाहिए था, मैंने उन्हें चूम लिया, वह मेरी बाँहों में थी—यों कहो कि एक कँपकँपी थी जो मेरी बाँहों में थी, करीब था कि मेरी रूह अपने पंख फड़फड़ाती हुई ऊँचे आसमान की तरफ़ उड़ जाय कि मैंने...कि मैंने उसे पकड़ लिया

और क़ैद कर लिया...उसके बाद बहुत देर तक...कई दिनों तक अपने आपको यक़ीन दिलाने की कोशिश की कि मेरे इस फ़ेल[1] से...मेरे बहादुराना कारनामे से मेरी रूह को ऐसी लज़्ज़त मिली है जिससे बहुत कम इंसान वाकिफ़ हैं...लेकिन सचाई यह है कि मैं इसमें नाकाम रहा और इस नाकामी ने, जिसे में एक बहुत बड़ी कामयाबी समझना चाहता था—ख़ुदा की क़सम यह मेरी दिली ख़्वाहिश थी कि मैं ऐसा समझूँ—मुझे दुनिया का सबसे ज़्यादा दुखी इंसान बना दिया...लेकिन जैसा कि तुम जानते हो, इंसान हीले-बहाने तलाश कर लेता है, मैंने भी एक रास्ता निकाल लिया। हम दोनों सूख रहे थे...अन्दर-ही-अन्दर हमारी सारी लताफ़तों[2] पर पपड़ी जम रही थी—कितनी बड़ी ट्रेजिडी है कि हम दोनों एक दूसरे के लिए पराये बन रह थे—मैंने सोचा—बहुत दिनों के सोच-विचार के बाद हम अपने अहद पर क़ायम रहकर भी...मेरा मतलब है निगार ग़ुलाम बच्चे पैदा नहीं करेगी...यह कहते हुए उसके ओठों पर तीसरी बार वह फिर ज़ख्मी मुस्कराहट पैदा हुई, लेकिन वह तुरन्त ही एक ऊँचे ठहाके में बदल गयी जिसमें तकलीफ़-देह एहसास की चुभन स्पष्ट थी, फिर तुरन्त ही गम्भीर होकर वह कहने लगा..."हमारी शादी-शुदा ज़िन्दगी का यह अजीब दौर शुरू हुआ। अंधे को जैसे एक आँख मिल गयी। मैं एकदम देखने लगा। लेकिन यह जोत थोड़ी देर के बाद धुँधली होने लगी। पहले पहल तो यही ख़याल था..."ग़ुलाम अली ठीक शब्द तलाश करने लगा...पहले-पहल तो हम ठीक-ठीक थे। मेरा मतलब है शुरू-शुरू में हमें इसका बिलकुल ख़याल नहीं था कि थोड़ी ही देर के बाद हम बेचैन हो जायेंगे...यानी एक आँख माँग करने लगी कि दूसरी आँख भी हो...शुरू में हम दोनों ने महसूस किया था जैसे हम तन्दुरुस्त हो रहे हैं, हमारी तन्दुरुस्ती बढ़ रही है...निगार का चेहरा

---

[1] कार्य;

[2] लज़्ज़तों, कोमलताओं

निखर गया था, उसकी आँखों में चमक पैदा हो गयी थी। मेरे अंगों से भी सूखा सा तनाव दूर हो गया था, जो पहले मुझे तकलीफ़ दिया करता था। लेकिन धीरे-धीरे फिर हम दोनों पर अजीब सी मुर्दनी छाने लगी...... एक ही बरस में हम दोनों रबड़ के पुतले से बन गये...मेरा एहसास ज़्यादा तीखा था...तुम यक़ीन नहीं करोगे, लेकिन ख़ुदा की क़सम, उस वक्त जब मैं बाज़ू का गोश्त चुटकी में लेता तो बिलकुल रबड़ मालूम होता। ऐसा लगता था कि अन्दर ख़ून की नसें नहीं हैं। निगार की हालत मुझसे, जहाँ तक मेरा ख़याल है अलग थी। उसके सोचने का ढंग और था। वह माँ बनना चाहती थी। गली में जब भी किसी के यहाँ कोई बच्चा पैदा होता तो उसे बहुत सी आहें छिप-छिपकर अपने सीने के अन्दर दबानी पड़ती थीं। लेकिन मुझे बच्चों का कोई ख़याल नहीं था। बच्चे न हुए तो क्या है? दुनिया में लाखों इंसान मौजूद हैं, जिनके यहाँ औलाद नही होती। यह कितनी बड़ी बात है कि मैं अपने अहद पर क़ायम हूँ? इससे तस्कीन तो काफ़ी हो जाती थी, मगर मेरे दिमाग़ पर जब रबड़ का महीन-महीन जाला तनने लगा तो मेरी घबराहट बढ़ गयी...मैं हर वक़्त सोचने लगा और इसका नतीजा यह हुआ कि मेरे दिमाग़ के साथ रबड़ की छूत चिमट गयी। रोटी खाता तो लुकमे दाँतों के नीचे कचकचाने लगते।"यह कहते हुए ग़ुलाम अली को फुरहरी आ गयी, "बहुत ही वाहियात और ग़लत चीज़ थी ...उँगलियों में हर वक्त जैसे साबुन सा लगा है...मुझे अपने आप से नफ़रत हो गयी। ऐसा लगता था कि मेरी रूह का सारा रस निचुड़ गया है और एक छिलका-सा बाक़ी रह गया है, इस्तेमाल किया हुआ—इस्तेमाल किया हुआ।"...ग़ुलाम अली हँसने लगा..."शुक्र है कि वह लॉनत दूर हुई......लेकिन सआदत, किन तकलीफ़ों के बाद......ज़िन्दगी बिलकुल सूखे हुए छीछड़े-सी हो गयी थी। सारी हिसें मुर्दा हो गयी थीं लेकिन स्पर्श की हिस ग़ैर कुदरती हद तक तेज़ हो गयी थी.....तेज़ नहीं......उसका सिर्फ़ एक रुख़ हो गया था...लकड़ी में, शीशे में, लोहे में, काग़ज़ में, पत्थर में—हर जगह रबड़ की वह मुर्दा, उबकाई

भरी मुलायमी ! . . . तकलीफ़ मुसीबत और भी गहरी हो जाती जब मैं उसकी वजह का ख़याल करता . . . मैं दो उँगलियों से उस लॉनत को उठाकर फेंक सकता था, लेकिन मुझ में इतनी हिम्मत नहीं थी। मैं चाहता था, मुझे कोई सहारा मिल जाय ! गहरी तकलीफ़ के इस सागर में मुझे एक छोटा-सा तिनका मिल जाय जिसकी मदद से मैं किनारे लग जाऊँ. . . . . . बहुत देर तक मैं हाथ-पाँव मारता रहा। लेकिन एक दिन जब कोठे पर धूप में एक मज़हबी किताब पढ़ रहा था, पढ़ क्या रहा था, ऐसे ही सरसरी नज़र से देख रहा था कि अचानक मेरी नज़र एक हदीस[1] पर पड़ी—ख़ुशी से उछल पड़ा। सहारा मेरी आँखों के सामने मौजूद था। मैंने बार-बार वे सतरें पढ़ीं, मेरी सूखी ज़िन्दगी जैसे सैराब होने लगी. . . . . . लिखा था कि शादी के बाद मियाँ-बीवी के लिए बच्चे पैदा करने लाज़िम हैं. . . सिर्फ़ उसी हालत में उनकी पैदायश रोकने की इजाज़त है जब माँ-बाप की ज़िन्दगी ख़तरे में हो. . . मैंने दो उँगलियों से उस लॉनत को उठाया और एक तरफ़ फेंक दिया।"

यह कहकर वह बच्चों की तरह मुस्कराने लगा। मैं भी मुस्करा दिया क्योंकि उसने दो उँगलियों से सिगरेट का टुकड़ा उठाकर एक तरफ़ ऐसे फेंका था जैसे वह कोई बेहद घृणास्पन्द चीज़ है।

मुस्कराते-मुस्कराते ग़ुलाम अली एकदम गम्भीर हो गया। "मुझे मालूम है सआदत—मैंने जो कुछ तुम से कहा है, तुम उसकी कहानी बना दोगे—लेकिन देखो, मेरा मज़ाक़ न उड़ाना। ख़ुदा की क़सम मैंने जो कुछ महसूस किया था, वही तुमसे कहा है। मैं इस मामले में तुमसे बहस नहीं करूँगा। लेकिन जो कुछ मैंने हासिल किया है वह यह है कि इंसानी स्वभाव के ख़िलाफ़ जाना हरगिज़ हरगिज़ बहादुरी नहीं—यह कोई कारनामा नहीं कि तुम फ़ाके करते मर जाओ, या ज़िन्दा रहो. . . . क़ब्र खोदकर उसमें गड़ जाना और कई-कई दिन उसके अन्दर दम साधे रखना, नोकीली

---

[1] **मुहम्मद साहब के कथनों को हदीस कहते हैं**

कीलों के बिस्तर पर महीनों लेटे रहना, एक हाथ बरसों ऊपर उठाये रखना—यहाँ तक कि वह सूख-सूखकर लकड़ी हो जाय—ऐसे मदारीपने से न ख़ुदा मिल सकता है न स्वराज्य...और मैं तो समझता हूँ हिन्दु-स्तान को स्वराज्य सिर्फ़ इसलिए नहीं मिल रहा है कि यहाँ मदारी ज़्यादा हैं और लीडर कम... जो हैं वे कुदरत के नियमों के ख़िलाफ़ चल रहे हैं...ईमान और साफ़ दिली का बर्थ कंट्रोल करने के लिए इन लोगों ने सियासत ईजाद कर ली है। और यही सियासत है जिसने आज़ादी के गर्भ का मुँह बन्द कर दिया है..."

गुलाम अली इसके आगे भी कुछ कहने वाला था कि उसका नौकर अन्दर आया। उसकी गोद में शायद गुलाम अली का दूसरा बच्चा था जिसके हाथ में एक रंगीन सुन्दर बैलून था। गुलाम अली पागलों की तरह उस पर झपटा—पटाख़े-सी आवाज़ आयी—बैलून फट गया और बच्चे के हाथ में धागे के साथ रबड़ का एक छोटा-सा टुकडा लटकता रह गया। गुलाम अली ने दो उँगलियों से उस टुकड़े को छीनकर यों फेंका मानो वह बड़ी ही घृणास्पद चीज़ थी।

●

# परिशिष्ट २

## क्लाउज़

## उबाल

# ब्लाउज़

कुछ दिनों से मोमिन बड़ा बेचैन था। उसका अस्तित्व कच्चा फोड़ा-सा बन गया था। काम करते समय, बातें करते समय, यहाँ तक कि सोचते समय भी उसे एक अजीब क़िस्म का दर्द महसूस होता—ऐसा दर्द जिसको वह बयान करना चाहता भी तो न कर सकता।

कभी-कभी बैठे-बैठे वह एकदम चौंक पड़ता। धुँधले-धुँधले विचार जो प्राय: बे आवाज़ बुलबुलों की तरह पैदा होकर मिट जाया करते हैं, मोमिन के दिमाग़ में बड़े ज़ोर-शोर के साथ पैदा होते और शोर ही के साथ फटते। उसके मन-मस्तिष्क के नर्म-नाज़ुक पर्दों पर हर वक्त जैसे कँटीले पाँव वाली चींटियाँ-सी रेंगती रहती थीं। एक अजीब क़िस्म का खिंचाव उसके अंगों में पैदा हो गया था जिसके कारण उसे बहुत तकलीफ़ होती थी। इस तकलीफ़ की शिद्दत जब बढ़ जाती तो उसके जी में आता कि अपने आपको एक बड़ी-सी ओखली में डाल दे और किसी से कहे—"मुझे कूटना शुरू कर दो!"

बावर्चीख़ाने में गर्म मसाला कूटते समय जब लोहे से लोहा टकराता

और धमक से छत में एक गूँज-सी दौड़ जाती तो मोमिन के नंगे पैरों को यह कम्पन बड़ा भला लगता। पैरों से होता हुआ यह कम्पन उसकी तनी हुई पिंडलियों और रानों में दौड़ता हुआ उस के दिल तक पहुँच जाता जो तेज़ हवा में रखे हुए दिये की लौ-सा काँपने लगता।

मोमिन की उम्र पन्द्रह बरस की थी। शायद सोलहवाँ भी लगा हो। उसे अपनी उम्र के बारे में सही अन्दाज़ा नहीं था। वह एक स्वस्थ और तन्दुरुस्त लड़का था जिस का बचपन तेज़ी से ज़वानी के मैदान की ओर भाग रहा था। इसी दौड़ने, जिससे मोमिन एकदम अनभिज्ञ था, उसके लोहू की हर बूँद में सनसनी पैदा कर दी थी। वह उसका मतलब समझने की कोशिश करता, पर असफल रहता।

उसके जिस्म में कई तब्दीलियाँ पैदा हो रही थीं। गर्दन जो पहले पतली थी, अब मोटी हो गयी थी, बाँहों के पुट्ठों में ऐंठन-सी पैदा हो गयी थी। कंठ निकल रहा था। छाती पर मांस की तह मोटी हो गयी थी और अब कुछ दिनों से उसकी छातियों में गोलियाँ सी पड़ गयी थीं। जगह उभर आयी थी जैसे किसी ने एक-एक बंटा अन्दर दाख़िल कर दिया हो। उन उभारों को हाथ लगाने से मोमिन को बहुत दर्द महसूस होता था। कभी-कभी काम करने के दौरान में अनायास ही जब उसका हाथ उन गोलियों से छू जाता तो वह तड़प उठता। क़मीज़ के मोटे और खुरदरे कपड़े से भी उसको तकलीफ़-देह सरसराहट महसूस होती थी।

गुसलख़ाने में नहाते वक़्त या बावर्चीख़ाने में जब कोई और मौजूद न हो, मोमिन अपनी क़मीज़ के बटन खोलकर उन गोलियों को ग़ौर से देखता, हाथों से मसलता, दर्द होता, टीसें उठतीं। सारा जिस्म फलों से लदे हुए पेड़ की तरह, जिसे ज़ोर से हिला दिया गया हो, काँप-काँप जाता, इसके बावजूद वह दर्द पैदा करने वाले खेल में निरत रहता। कभी-कभी ज़्यादा दबाने पर वह गोलियाँ पिचक जातीं और उनके मुँह से एक लेसदार लुआब निकल आता। उसको देखकर उसका चेहरा कान की लवों तक सुर्ख़ हो जाता। वह यह समझता कि उससे कोई गुनाह बन आया है।

पाप और पुण्य के बारे में मोमिन का ज्ञान अत्यधिक सीमित था। हर वह काम, जो एक इंसान दूसरे इंसानों के सामने न कर सकता हो, उसके विचार में पाप था। इसीलिए जब शर्म के मारे उसका चेहरा कान की लवों तक सुर्ख़ हो जाता तो वह झट से अपनी क़मीज़ के बटन बन्द कर लेता और मन में प्रतिज्ञा करता कि भविष्य में ऐसी फ़ज़ूल हरकत कभी न करेगा। लेकिन इस प्रतिज्ञा के बावजूद दूसरे या तीसरे दिन एकान्त में वह फिर उस खेल में मशग़ूल हो जाता।

मोमिन से सब घर वाले ख़ुश थे। बड़ा मेहनती लड़का था। जब हर काम वक़्त पर कर देता तो था किसी को शिकायत का मौक़ा कैसे मिलता। डिप्टी साहब के यहाँ उसे काम करते हुए सिर्फ़ तीन महीने हुए थे, लेकिन इस थोड़े से अर्से में उसने घर के हर आदमी को अपने मेहनती स्वभाव से प्रभावित कर लिया था। छः रुपये महीने पर नौकर हुआ था, पर दूसरे महीने ही उसके वेतन में दो रुपये बढ़ा दिये गये थे। वह उस घर में बहुत ख़ुश था, इसलिए कि यहाँ उसकी क़द्र की जाती थी। पर अब कुछ दिनों से वह बेक़रार था। एक अजीब क़िस्म की आवारगी उसके दिमाग़ में पैदा हो गयी थी। उसका जी चाहता था कि सारा दिन बेमतलब बाज़ारों में घूमता फिरे या किसी सुनसान स्थान पर जाकर लेटा रहे।

अब काम में उसका जी न लगता था। लेकिन इस बेदिली के होते हुए भी वह अपने काम में काहिली नहीं बरतता था। यही कारण था कि घर में कोई भी उसकी इस मानसिक उथल-पुथल से परिचित न था। रज़िया थी, सो वह दिन भर बाजा बजाने, नयी-नयी फ़िल्मी धुनें सीखने और पत्रिकाएँ पढ़ने में व्यस्त रहती थी। उसने कभी मोमिन की ओर ध्यान ही न दिया था। शकीला अलबत्ता मोमिन से इधर-उधर के काम लेती थी और कभी-कभी उसे डाँटती भी थी। पर अब कुछ दिनों से वह भी चंद ब्लाउज़ों के नमूने उतारने में बेतरह मशग़ूल थी। ये ब्लाउज़ उसकी एक सहेली के थे, जिसे नयी-नयी काट के कपड़े पहनने का बेहद शौक था। शकीला उससे आठ ब्लाउज़ माँगकर लायी थी और काग़ज़ों पर उनके नमूने उतार रही थी।

इसीलिए उसने भी कुछ दिनों से मोमिन की तरफ़ ध्यान न दिया था।

डिप्टी साहब की बीवी न कर्कशा थी, न कठोर! नौकरों से कम ही सख़्ती से पेश आती थी। फिर घर में दो नौकर थे। यानी मोमिन के अलावा एक बुढ़िया भी थी जो ज़्यादातर बावर्चीख़ाने का काम करती थी। मोमिन कभी-कभी उसका हाथ बँटा दिया करता था। डिप्टी साहब की बीवी ने, सम्भव है, मोमिन की मुस्तैदी में कोई कमी देखी हो, पर उसने मोमिन से इसकी चर्चा नहीं की। और वह इन्क़लाब, जिसमें मोमिन का दिल-दिमाग़ और जिस्म गुज़र रहा था, उससे तो डिप्टी साहब की बीवी सर्वथा अनभिज्ञ थी। चूँकि उसका कोई लड़का नहीं था, इसलिए वह मोमिन के मानसिक और शारीरिक परिवर्तनों को नहीं समझ सकती थी। और फिर मोमिन नौकर था—नौकरों के बारे में कौन सोच-विचार करता है? बचपन से लेकर बुढ़ापे तक वे तमाम मंज़िलें पैदल तय कर जाते हैं और आस-पास के आदमियों को ख़बर तक नहीं होती।

मोमिन का भी बिलकुल यही हाल था। वह कुछ दिनों से मोड़ मुड़ता-मुड़ाता ज़िन्दगी के एक ऐसे रास्ते पर आ निकला था जो अधिक लम्बा तो नहीं था, पर ख़तरों से भरा था। इस रास्ते पर उसके क़दम कभी तेज़-तेज़ उठते थे, कभी धीरे-धीरे। वह दरअसल जानता नहीं था कि ऐसे रास्तों पर किस तरह चलना चाहिए। उन्हें जल्दी तय कर जाना चाहिए या कुछ वक़्त लेकर आहिस्ता-आहिस्ता इधर-उधर की चीज़ों का सहारा लेकर तय करना चाहिए। मोमिन के नंगे पाँव के नीचे आने वाले शबाब की गोल-गोल चिकनी बट्टियाँ फिसल रही थीं। वह अपना संतुलन बनाये नहीं रख पा रहा था। इसीलिए बेहद बैचैन था। इसी बेचैनी के कारण कई बार काम करते-करते चौंककर वह अनायास किसी खूँटी को दोनों हाथों से पकड़ लेता और उसके साथ लटक जाता। फिर उसके मन में इच्छा उत्पन्न होती कि टाँगों से पकड़कर उसे कोई इतना खींचे, इतना खींचे कि वह एक महीन तार बन जाय। ये सब बातें उसके दिमाग़ के किसी ऐसे कोने में पैदा होती थीं कि वह ठीक तौर पर उनका मतलब नहीं समझ सकता था।

अचेतन ढंग से वह चाहता था कि कुछ हो—क्या हो?—बस कुछ हो। मेज़ पर क़रीने से चुनी हुई प्लेटें एकदम उछलना शुरू कर दें। केतली पर रखा हुआ ढकना पानी के एक ही उबाल से ऊपर को उड़ जाय। नल की जस्ती-नाली पर वह दबाव डाले तो वह दोहरी हो जाय और उसमें से पानी का एक फ़व्वारा-सा फूट निकले। उसे एक ऐसी ज़बरदस्त अँगड़ाई आये कि सारे जोड़ अलग-अलग हो जायँ और उसमें एक ढीलापन पैदा हो जाय—कोई ऐसी घटना जो उसने पहले कभी न देखी हो।

मोमिन बड़ा बेचैन था।

रज़िया नयी फ़िल्मी धुनें सीखने में व्यस्त थी और शकीला क़ाग़ज़ों पर ब्लाउज़ों के नमूने उतार रही थी। जब उसने यह काम ख़त्म कर लिया तो वह नमूना, जो उन सब में अच्छा था, सामने रखकर अपने लिए ऊदी साटन का ब्लाउज़ बनाने लगी। अब रज़िया को भी अपना बाजा और फ़िल्मी गानों की कापी छोड़कर उस ओर ध्यान देना पड़ा।

शकीला हर काम बड़े ढंग और चाव से करती। जब सीने-पिरोने बैठती तो उसकी बैठक बड़ी इतमीनान भरी होती थी। अपनी छोटी बहन रज़िया की तरह वह अफ़रा-तफ़री पसन्द नहीं करती थी। एक-एक टाँका सोच-समझकर बड़े इतमीनान से लगाती थी ताकि भूल की सम्भावना न रहे। नाप-जोख भी उस की बहुत सही थी, इसलिए कि पहले काग़ज़ काटकर फिर कपड़ा काटती थी। यों अधिक समय लगता, पर चीज़ बिलकुल फ़िट तैयार होती थी।

शकीला भरे-भरे शरीर की स्वस्थ लड़की थी। हाथ-पाँव गुदगुदे थे। गोश्त-भरी उँगलियों के आख़िर में हर जोड़ पर एक नन्हा गढ़ा था। जब मशीन चलाती थी तो ये नन्हें-नन्हें गढ़े हाथ की हरकत से कभी ग़ायब भी हो जाते थे।

शकीला मशीन भी बड़े इतमीनान से चलाती थी। आहिस्ता-आहिस्ता उसकी दो या तीन उँगलियाँ बड़ी सुन्दरता के साथ मशीन की हत्थी घुमाती थीं। कलाई में एक हल्का-सा ख़म पैदा हो जाता था, गर्दन ज़रा उस तरफ़ को

झुक जाती थी और बालों की एक लट, जिसे शायद अपने लिए कोई स्थायी जगह न मिलती थी, नीचे फिसल आती थी। शकीला अपने काम में इतनी व्यस्त रहती थी कि उसे हटाने या जमाने की कोशिश नहीं करती थी। जब शकीला ऊदी साटन फैलाकर अपनी नाप का ब्लाउज़ काटने लगी तो उसे टेप की ज़रूरत महसूस हुई, क्योंकि उनका अपना टेप घिस-घिसा कर बिलकुल टुकड़े-टुकड़े हो गया था। लोहे का गज़ मौजूद था, पर उससे कमर और छाती की नाप कैसे ली जा सकती थी। उसके अपने कई ब्लाउज़ मौजूद थे, लेकिन अब वह चूँकि पहले से कुछ मोटी हो गयी थी, इसलिए सारी नाप दोबारा लेना चाहती थी।

क़मीज़ उतारकर उसने मोमिन को आवाज़ दी। जब वह आया तो उससे कहा—"जाओ मोमिन, दौड़कर छः नम्बर से कपड़े का गज़ ले आओ। कहना शकीला बीबी माँगती हैं।"

मोमिन की निगाहें शकीला की सफ़ेद बनियान के साथ टकरायीं। वह कई बार शकीला बीबी को ऐसी बनियानों में देख चुका था। लेकिन आज उसे एक अजीब क़िस्म की झिझक महसूस हुई। उसने अपनी निगाहों का रुख़ दूसरी तरफ़ फेर लिया और घबराहट में कहा, "कैसा गज़ बीबी जी?"

शकीला ने जवाब दिया—"कपड़े का गज़—एक गज़ तो यह तुम्हारे सामने पड़ा है, यह लोहे का है। एक दूसरा गज़ भी होता है, कपड़े का। जाओ छः नम्बर में जाओ और दौड़कर उनसे वह गज़ ले आओ। कहना, शकीला बीबी माँगती हैं।"

छः नम्बर का फ़्लैट बिलकुल क़रीब था। मोमिन तुरन्त कपड़े का गज़ लेकर आ गया। शकीला ने वह गज़ उसके हाथ से ले लिया और कहा—"यहीं ठहर जाओ, इसे अभी वापस ले जाना।" फिर उसने अपनी बहन रज़िया से कहा, "उन लोगों की कोई चीज़ अपने पास रख ली जाय तो वह बुढ़िया तगादे कर-करके परेशान कर देती है।...इधर आओ, यह गज़ लो और यहाँ से मेरी माप लो।"

रज़िया ने शकीला की कमर और सीने की माप लेनी शुरू की तो उनके बीच कई बातें हुईं। मोमिन दरवाज़े की देहलीज में खड़ा तकलीफ़-देह ख़ामोशी से ये बातें सुनता रहा।

"रज़िया, तुम खींच कर माप क्यों नहीं लेतीं--पिछली दफ़ा भी यही हुआ। तुमने माप लिया और मेरे ब्लाउज़ का सत्यानास हो गया। ऊपर के हिस्से पर अगर कपड़ा फ़िट न आये तो इधर-उधर बग़लों में झोल पड़ जाते हैं।"

"कहाँ का लूँ, कहाँ का न लूँ।—तुम तो अजीब मुसीबत में डाल देती हो। यहाँ की माप लेनी शुरू की थी तो तुमने कहा ज़रा और नीचे से लो......ज़रा छोटा-बड़ा हो गया तो कौन सी आफ़त आ जायेगी।"

"भई वाह...चीज़ के फ़िट होने में ही तो सारी ख़ूबसूरती है। सुरैया को देखो, कैसे फ़िट कपड़े पहनती है। मजाल है जो कहीं शिकन पड़े। कितने ख़ूबसूरत मालूम होते हैं ऐसे कपड़े. . .लो अब तुम माप लो...."

यह कहकर शकीला ने साँस के ज़रिये से अपना सीना फुलाना शुरू किया। जब अच्छी तरह फूल गया तो साँस रोककर उसने घुटी-घुटी आवाज़ में कहा—"लो, अब जल्दी करो!"

जब शकीला ने सीने की हवा निकाली तो मोमिन को ऐसा लगा कि उसके अन्दर रबड़ के कई गुब्बारे फट गये हैं। उसने घबराकर कहा—"गज़ लाइए बीबी जी...दे आऊँ।"

शकीला ने उसे झिड़क दिया—"ज़रा ठहर जाओ!"

यह कहते समय कपड़े का ग़ज़ उसके नंगे बाज़ू से लिपट गया। जब शकीला ने उसे उतारने की कोशिश की तो मोमिन को उसकी सफ़ेद बग़ल में काले-काले बालों का एक गुच्छा नज़र आया। मोमिन की अपनी बग़लों में भी ऐसे ही बाल उग रहे थे, पर यह गुच्छा उसे बहुत भला लगा। एक सनसनी-सी उसके सारे बदन में दौड़ गयी। एक विचित्र-सी इच्छा उसके मन में उत्पन्न हुई कि ये काले-काले बाल उसकी मूँछें बन जायें—

बचपन में वह मकई के भुट्टों के काले और सुनहरे बाल निकालकर अपनी मूँछें बनाया करता था। उनको अपने ऊपरी ओंठ पर जमाते समय जो सर-सराहट उसे महसूस हुआ करती थी, उसी तरह की सरसराहट उस इच्छा ने उसके ऊपरी ओठ और नाक में पैदा कर दी।

शकीला का बाज़ू अब नीचे झुक गया था और बग़ल छिप गयी थी, पर मोमिन अब भी काले-काले बालों का वह गुच्छा देख रहा था। उसकी कल्पना में शकीला का बाज़ू देर तक वैसे ही उठा रहा और बग़ल में उसके काले बाल झाँकते रहे।

थोड़ी देर बाद शकीला ने मोमिन को गज़ दे दिया और कहा, "जाओ, वापस दे आओ। कहना बहुत-बहुत शुक्रिया अदा किया है।"

मोमिन गज़ वापस देकर बाहर सहन में बैठ गया। उसके मन-मस्तिष्क में धुँधले-धुँधले ख़याल पैदा हो रहे थे। देर तक वह उनका मतलब समझने की कोशिश करता रहा। जब कुछ समझ में न आया तो उसने अनायास अपना छोटा-सा ट्रंक खोला जिसमें उसने ईद के लिए नये-नये कपड़े बनवा रक्खे थे।

जब ट्रंक का ढकना खुला और नये लट्ठे की बू उसकी नाक तक पहुँची तो उसके मन में इच्छा उत्पन्न हुई कि नहा-धोकर और ये नये कपड़े पहनकर वह सीधा शकीला बीबी के पास जाय और उसे सलाम करे—उसकी लट्ठे की शलवार किस तरह फड़-फड़ करेगी और उसकी रूमी टोपी... रूमी टोपी का ख़याल आते ही मोमिन की निगाहों के सामने उसका फुँदना आ गया और फुँदना तुरन्त उन काले बालों के गुच्छे में बदल गया जो उसने शकीला की बग़ल में देखा था। उसने नर्म और लचकीले फुँदने पर हाथ फेरना शुरू किया ही था कि अन्दर से शकीला बीबी की आवाज़ आयी—"मोमिन!"

मोमिन ने टोपी ट्रंक में रखी, ढकना बन्द किया और अन्दर चला गया, जहाँ शकीला नमूने के मुताबिक ऊदी साटन के कई टुकड़े काट चुकी थी। उन चमकीले और फिसल-फिसल जाने वाले टुकड़ों को कई जगह रखकर

वह मोमिन से बोली, "मैंने तुम्हें इतनी आवाज़ें दीं। सो गये थे क्या?"

मोमिन की ज़बान लड़खड़ाने लगी, "नहीं...नहीं बीबी जी।"

"तो क्या कर रहे थे?"

"कुछ...कुछ भी नहीं।"

"कुछ तो ज़रूर कर रहे होगे?"

शकीला ये सवाल किये जा रही थी, पर उसका ध्यान असल में ब्लाउज़ की ओर था, जिसे अब उसे कच्चा करना था।

मोमिन ने खिसियानी हँसी के साथ जवाब दिया, "ट्रंक खोलकर अपने नये कपड़े देख रहा था।"

शकीला खिलखिला कर हँसी। रज़िया ने भी उसका साथ दिया।

शकीला को हँसते देख मोमिन को एक अजीब-सी तस्कीन महसूस हुई और इस तस्कीन ने उसके मन में यह इच्छा उत्पन्न की कि वह कोई ऐसी हास्यास्पद हरकत करे जिससे शकीला बीबी को और हँसने का मौक़ा मिले। अतएव लड़कियों की तरह झेंपकर और लहजे में शरमाहट पैदा करके उसने कहा, "बड़ी बीबी जी से पैसे लेकर मैं रेशमी रूमाल भी लाऊँगा।"

शकीला बीबी ने हँसते हुए पूछा, "क्या करोगे इस रूमाल का?"

मोमिन ने झेंपकर जवाब दिया, "गले में बाँध लूँगा बीबी जी... बड़ा अच्छा लगेगा।"

यह सुनकर शकीला और रज़िया देर तक हँसती रहीं।

"गले में बाँधोगे तो याद रखना, उसी से फाँसी दे दूँगी।" यह कहकर शकीला ने अपनी हँसी दबाने की कोशिश की और रज़िया से कहा, "कमबख़्त ने मुझे काम ही भुला दिया। रज़िया, मैंने इसे क्यों बुलाया था?"

रज़िया ने जवाब न दिया और वह नयी फ़िल्मी धुन गुनगुनाने लगी, जिसे वह दो दिन से सीख रही थी। इस बीच में शकीला को ख़ुद ही याद आ गया कि उसने मोमिन को क्यों बुलाया था, "देखो मोमिन, मैं तुम्हें यह बनियान उतारकर देती हूँ। दवाइयों के पास जो एक नयी दुकान खुली

है न, वही जहाँ उस दिन तुम मेरे साथ गये थे। वहाँ जाओ और पूछकर आओ कि ऐसी छः बनियानों का वह क्या लेगा...कहना हम पूरी छः लेंगे, इसलिए कुछ रिआयत ज़रूर करे...समझ लिया न ?"

मोमिन ने जवाब दिया, "जी हाँ।"

"अब तुम परे हट जाओ।"

मोमिन बाहर निकलकर दरवाज़े की ओट में हो गया। कुछ क्षणों के बाद बनियान उसके पैरों के पास आ गिरी और अन्दर से शकीला की आवाज़ आयी, "कहना, हम इसी क़िस्म की, इसी डिज़ाइन की बिलकुल यही चीज़ लेंगे। फ़रक़ नहीं होना चाहिए।"

मोमिन ने 'बहुत अच्छा' कहकर बनियान उठा ली जो पसीने के कारण कुछ गीली हो रही थी, जैसे किसी ने भाप पर रखकर तुरन्त हटा लिया हो। बदन की बू भी उसमें बसी हुई थी। मीठी-मीठी गर्मी भी थी। ये सारी चीज़ें उसको बड़ी भली लगीं।

वह उस बनियान को, जो बिल्ली के बच्चे की तरह मुलायम थी, अपने हाथों में मसलता बाहर चला गया। जब भाव-ताव पूछकर बाज़ार से लौटा तो शकीला ब्लाउज़ की सिलाई शुरू कर चुकी थी—उस ऊदी साटन के ब्लाउज़ की, जो मोमिन की रूमी टोपी के फुँदने से कहीं अधिक चमकीली और लचकदार थी।

यह ब्लाउज़ शायद ईद के लिए तैयार किया जा रहा था, क्योंकि ईद अब बिलकुल क़रीब आ गयी थी। मोमिन को एक दिन में कई बार बुलाया गया। धागा लाने के लिए, इस्त्री निकालने के लिए, सुई टूट गयी तो नयी सुई लाने के लिए! शाम के क़रीब जब शकीला ने बाक़ी काम दूसरे दिन पर उठा दिया तो धागे के टुकड़े और ऊदी साटन की बेकार कतरनें उठाने के लिए भी उसे बुलाया गया।

मोमिन ने अच्छी तरह जगह साफ़ कर दी। बाक़ी सब चीज़ें उठाकर बाहर फेंक दीं, मगर साटन की चमकीली कतरनें अपनी जेब में रख लीं। बिलकुल बेमतलब, क्योंकि उसे मालूम न था कि वह उनका क्या करेगा ?

दूसरे दिन उसने जेब से कतरनें निकालीं और एकान्त में बैठकर उनके धागे अलग करने लगा। देर तक वह इस खेल में लगा रहा, यहाँ तक कि धागे के छोटे-बड़े टुकड़ों का एक गुच्छा-सा बन गया। उसको हाथ में लेकर वह दबाता रहा, मसलता रहा—लेकिन उसकी कल्पना में शकीला की वही बग़ल थी, जिसमें उसने काले-काले बालों का एक छोटा-सा गुच्छा देखा था।

उस दिन भी उसे शकीला ने कई बार बुलाया—ऊदी साटन के ब्लाउज़ की हर शक्ल उसकी निगाहों के सामने आती रही। पहले जब उसे कच्चा किया गया था तो उस पर सफ़ेद धागे के बड़े बड़े टाँके जगह जगह फैले हुए थे। फिर उस पर इस्त्री की गयी जिससे उसकी सब सिलवटें दूर हो गयीं और चमक भी दूनी हो गयी। इसके बाद कच्ची हालत में ही शकीला ने उसे पहना, रज़िया को दिखाया। दूसरे कमरे में सिंगार-मेज़ के पास जाकर आईने में ख़ुद उसको हर पहलू से अच्छी तरह देखा। जब पूरी तरह इतमीनान हो गया तो उसे उतारा। जहाँ-जहाँ तंग या खुला था, वहाँ निशान बनाये, उसकी सारी ख़ामियाँ दूर कीं। एक बार फिर पहनकर देखा। जब बिलकुल फ़िट हो गया तो पक्की सिलाई शुरू की।

इधर साटन का यह ब्लाउज़ सिया जा रहा था, उधर मोमिन के दिमाग़ में अज़ीब-ग़रीब ख़यालों के टाँके-से उधड़ रहे थे—जब उसे कमरे में बुलाया जाता और उसकी निगाहें चमकीली साटन के ब्लाउज़ पर पड़तीं तो उसका जी चाहता कि वह हाथ से छूकर उसे देखे, सिर्फ़ छूकर ही नहीं—बल्कि उसकी मुलायम और रोयेंदार सतह पर देर तक हाथ फेरता रहे—अपने खुरदरे हाथ।

उसने उन साटन के टुकड़ों से उसकी कोमलता का अन्दाज़ कर लिया था। धागे, जो उसने उन टुकड़ों से निकाले थे, और भी ज़्यादा मुलायम हो गये थे। जब उसने उनका गुच्छा बनाया तो दबाते समय उसे लगा था कि उनमें रबड़ की-सी लचक भी है।—वह जब भी अन्दर आकर ब्लाउज़

को देखता, उसका ख़याल तत्काल उन बालों की तरफ़ दौड़ जाता जो उसने शकीला की बग़ल में देखे थे। काले-काले बाल! मोमिन सोचता था, क्या वे भी इस साटन ही की तरह मुलायम होंगे?

आख़िर ब्लाउज़ तैयार हो गया—मोमिन कमरे के फ़र्श पर गीला कपड़ा फेर रहा था कि शकीला अन्दर आयी। क़मीज़ उतारकर उसने पलंग पर रक्खी। उसके नीचे उसी क़िस्म की सफ़ेद बनियान थी, जिस का नमूना लेकर मोमिन भाव पूछने गया था—उसके ऊपर शकीला ने अपने हाथ का सिला हुआ ब्लाउज़ पहना। सामने के हुक लगाये और आईने के सामने खड़ी हो गयी।

मोमिन ने फ़र्श साफ़ करते-करते आईने की तरफ़ देखा। ब्लाउज़ में अब जान-सी पड़ गयी थी। एक-दो जगह पर वह इतना चमकता था कि मालूम होता था साटन का रंग सफ़ेद हो गया है—शकीला की पीठ मोमिन की तरफ़ थी जिस पर रीढ़ की हड्डी की लम्बी झिरी ब्लाउज़ फ़िट होने के कारण अपनी पूरी गहराई के साथ प्रकट थी। मोमिन से रहा न गया अतः उसने कहा, "बीबी जी, आपने दर्ज़ियों को भी मात कर दिया है।"

शकीला अपनी प्रशंसा सुनकर खुश हुई, पर वह रज़िया की राय जानने के लिए बेचैन थी, इसलिए वह सिर्फ़ "अच्छा है न?" कहकर बाहर दौड़ गयी—मोमिन आईने की ओर देखता रह गया जिसमें ब्लाउज़ का काला और चमकीला बिम्ब देर तक मौजूद रहा।

रात को जब वह फिर उस कमरे में सुराही रखने के लिए आया तो उसने खूँटी पर लकड़ी के हैंगर में उस ब्लाउज़ को देखा। कमरे में कोई मौजूद नहीं था, चुनांचे आगे बढ़कर पहले उसने ध्यान से उसे देखा, फिर डरते-डरते उस पर हाथ फेरा। ऐसा करते हुए उसे यों लगा कि कोई उसके जिस्म के मुलायम रोयें पर हौले-हौले, बिलकुल हवाई स्पर्श की तरह, हाथ फेर रहा है।

रात को जब वह सोया तो उसने कई ऊट-पटांग सपने देखे।—डिप्टी साहब ने पत्थर के कोयलों का एक बड़ा ढेर उसे कूटने को कहा। जब उसने

एक कोयला उठाया और उस पर हथौड़े की चोट लगायी तो वह नर्म-नर्म बालों का एक गुच्छा बन गया—ये काली चीनी के महीन-महीन तार थे जिनका गोला बना हुआ था।—फिर ये गोले काले रंग के गुब्बारे बनकर हवा में उड़ना शुरू हुए—बहुत ऊपर जाकर ये फटने लगे।......फिर आँधी आ गयी और मोमिन की रूमी टोपी का फुँदना कहीं ग़ायब हो गया—फुँदने की तलाश में निकला—देखी और अनदेखी जगहों में घूमता रहा......नये लट्ठे की बू भी कहीं से आना शुरू हुई। फिर न जाने क्या देर तक वह हुआ।......एक काली साटन के ब्लाउज़ पर उसका हाथ पड़ा...कुछ किसी धड़कती हुई चीज़ पर अपना हाथ फेरता रहा। फिर एकाएक हड़बड़ाकर उठ बैठा। थोड़ी देर तक वह कुछ समझ न सका कि क्या हो गया है। इसके बाद उसे भय, अचरज और एक अनोखी टीस का एहसास हुआ। उसकी हालत उस वक्त अजीब-ो-ग़रीब थी...पहले उसे कष्टप्रद गर्मी-सी महसूस हुई। फिर कुछ क्षणों के बाद एक ठंडी-सी लहर उसके जिस्म पर रेंगने लगी!

●

# उबाल

जब दूध उबल-उबलकर कोयलों पर गिरने लगा और 'शाँ' 'शाँ' की आवाज़ के साथ एक तीखी-सी गन्ध उठी तो चन्दन ने हड़बड़ाकर पतीली की ओर हाथ बढ़ाया—कोयलों के ताप से पतीली लाल-सुर्ख़ हो रही थी। बेबसी की एक दृष्टि चन्दन ने इधर-उधर डाली—कोई कपड़ा पास न था! उसने चाहा—पानी का छींटा ही दे दे, किन्तु लोटे के पानी में अभी-अभी उसने आटे वाले हाथ धोये थे—दूध उबल रहा था और सड़ी हुई झाग की गन्ध कमरे में फैलने लगी थी और अन्दर कमरे में उसके मालिक और मालकिन धीरे-धीरे बातें कर रहे थे—विवशता के उस क्षण में चन्दन के बढ़े हुए हाथ और बढ़ गये और निमिष-मात्र में, तपती, जलती पतीली खट से फ़र्श पर आ गयी। चन्दन की उँगलियों की पोरें जल गयीं। उबलता हुआ दूध उसके हाथों पर गिर गया और जलन के कारण उसके ओठों से अनायास एक 'सी' निकल गयी।

पतीली को खट से फ़र्श पर रखते हुए थोड़ा-सा दूध फ़र्श पर भी

गिर गया था। उसी आटे के पानी से उसने उसे धो डाला और उँगलियों की जलन को जैसे झाड़कर उतारता हुआ, वह स्नान-गृह की ओर भागा।

पानी की धार के नीचे हाथ रखे-रखे उसने सिर को हल्का-सा झटका दिया और मुस्कराया—वास्तव में जब भी उससे कोई मूर्खता बन आती थी, वह इसी प्रकार सिर हिलाकर ओठों के बायें कोने से मुस्कराया करता था और ओठ कटे होने के कारण उसके दाँत दिखायी देने लगते थे।

बात यह हुई थी कि दूध को अँगीठी पर रखकर वह अपने मालिक और मालकिन की बातें सुनने लगा था। यद्यपि दिन काफ़ी चढ़ आया था और चन्दन ने दोपहर के खाने के लिए आटा भी गूँध लिया था, लेकिन वे अभी तक बिस्तर ही पर लेटे बातों में निमग्न थे और कुछ ही देर पहले उसके मालिक ने चन्दन को चाय बनाने का आदेश दिया था।

उसने दूध की पतीली को अँगीठी पर रख दिया था और वह उनकी बातें सुनने में निमग्न हो गया था। जब से उसके मालिक की शादी हुई थी, वह सुबह उठने के मामले में सुस्त हो गया था। इससे पहले वह प्रायः सैर को भी जाता, पर अपनी इसी नव-परिणीता पत्नी के आने पर वह उसके साथ दिन चढ़े तक सोया रहता। जब जागता तो वहीं लेटे-लेटे चन्दन को चाय बनाने का आदेश दे देता। और फिर वे दोनों, पति-पत्नी धीरे-धीरे बातें किया करते—मीठी, मदभरी बातें!

चन्दन को इन बातों में रस आने लगा था। वे अन्दर बिस्तर पर लेटे धीरे-धीरे बातें कर रहे होते और वह बाहर बैठा उन्हें सुनने का प्रयास किया करता।

आँच की तेज़ी के कारण दूध पतीली में बल खाता हुआ ऊपर उठ रहा था और चन्दन उस ओर से बेख़बर उनकी बातें सुनने में निमग्न था।

"मैं विवश हो जाता हूँ, तुम्हारे गाल ही ऐसे हैं..."

"आपके हाथों का अपराध नहीं क्या..."

"इतने अच्छे हैं तुम्हारे गाल कि..."

"जलने लगे आपकी चपतों से..."

"लो मैं इन्हें ठंडा कर देता हूँ!"

और चन्दन को ऐसे लगा जैसे कोई सुकोमल फूल रेशम के नर्म-नर्म फ़र्श पर जा पड़ा हो। कल्पना-ही-कल्पना में उसने देखा कि उसके मालिक ने अपने ओठ अपनी पत्नी के गाल से लगा दिये हैं। वहीं बैठे-बैठे उसका शरीर गर्म होने लगा, उसके अंग तन गये और कल्पना-ही-कल्पना में अपने मालिक का स्थान उसने स्वयं ले लिया।

हाथ धोकर उसने सिर को फिर झटका दिया और ओठों के बायें कोने से मुस्कराता हुआ वह अन्दर गोदाम में गया। उसने ज़रा-सा सरसों का तेल लेकर अपने हाथों की काली, मैली, जलती हुई त्वचा पर उस जगह लगाया, जहाँ जलन हो रही थी। फिर जाकर वह रसोई-घर में बैठ गया और उसने चाय की केतली अँगीठी पर रख दी।

किन्तु हाथ जलाने और अपनी इस मूर्खता पर दो बार सिर हिलाकर मुस्कराने पर भी उसके कान फिर कमरे की ओर जा लगे, उसकी कल्पना अपनी समस्त तन्मयता के साथ उसके श्रवणों की सहायता करने लगी और उसकी आँखों के सम्मुख फिर कई चित्र बनने और मिटने लगे।

"चन्दन!" उसके मालिक ने चीख़कर आवाज़ दी और फिर कहा—"वहीं मर गये क्या?"

मालिक की आवाज़ सुनकर वह चौंका। जल्द-जल्द चाय और तोस बनाकर अन्दर ले गया।

उसके मालिक-मालकिन पूर्ववत् बिस्तर पर पड़े थे। वे दोनों आलिंगनबद्ध तो न थे, फिर भी दोनों एक दूसरे से सटे, तकिये के सहारे लेटे हुए थे। लिहाफ़ दोनों के सीने तक था और मालिक की बाँह अभी तक मालिकिन की गर्दन के नीचे थी।

"इधर रख दो।"

चन्दन ने ट्रे तिपाई पर रख दी।

एक बार देखकर मालिक ने कहा—"तुम्हें हो क्या गया है? दूध का जग कहाँ है?"

"जी, अभी लाया!" और सिर को एक बार झटका देकर ओठों के बायें कोने से मुस्कराता हुआ वह रसोई-घर की ओर गया।

दूसरे क्षण उसने दूध का बर्तन लाकर रख दिया, पर उसे फिर गालियाँ सुननी पड़ीं, क्योंकि दोबारा देखने पर मालिक को मालूम हुआ कि छलनी नहीं है।

चन्दन ने छलनी लाकर रख दी और क्षण भर के लिए वहीं खड़ा रहा। उसकी झुकी हुई दृष्टि अपनी मालिकिन के चेहरे पर जा पड़ी—सुन्दर, सुवासित खुले केशों की लटें उसके गोरे गलगोथने चेहरे पर बिखरी हुई थीं, ओठ सूखे होने के बावजूद गीले-गीले थे; मुस्कराती आँखों में तन्द्रा की बारीक-सी रेखा थी और चेहरे पर हल्की-सी थकन की छाया। उसके मालिक ने बड़े प्यार से कहा—"चाय बना दो न जान!"

पर 'जान' ने रूठते हुए करवट बदल ली।

"मैं कहता हूँ चाय न पियोगी?" उसे मनाते हुए मालिक ने कहा।

"मुझे नहीं पीनी चाय!" मालकिन ने गाल को मसलते हुए उत्तर दिया, जिस पर अभी-अभी प्यार की हल्की-सी चपत उसके मालिक ने लगायी थी।

गर्दन के नीचे की बाँह उठी और मालकिन मालिक के आलिंगन में भिंच गयीं।

"क्या करते हो, शर्म नहीं आती?"

चन्दन का दिल धक्-धक् करने लगा और उसके मालिक का ठहाका कमरे में गूंज उठा।

"उठो, बना दो न चाय!" मालिक ने बड़ी नर्मी से बाँह को ढीला छोड़ते हुए कहा, "तुम्हारे गाल ही ऐसे प्यारे हैं कि अनायास उन पर चपतें लगाने को जी चाहता है।"

तड़पकर मालकिन ने फिर करवट बदल ली।

"चन्दन, तुम बनाओ चाय!"

लगभग काँपते हुए हाथों से चन्दन ने चाय की प्याली बनायी।

प्याली उठाकर अपनी 'जान' को बग़ल में भींचते हुए उसके मालिक ने प्याली उसके ओठों से लगा दी।

यह 'जान' का शब्द था या उसके मालिक, का उसके सामने अपनी पत्नी को आलिंगन में लेना कि जब दोपहर को काम-काज से निबटकर चन्दन अपनी कोठरी में जा लेटा, तो उसकी आँखों में 'ज़ोहरा जान' का चित्र घूम गया और उसने अनायास सरसों के तेल और मिट्टी में सने ग़िलाफ़-हीन मैले, जीर्ण-शीर्ण तकिये को अपने आलिंगन में भींच लिया।

अचानक उबलकर ऊपर आ जानेवाले दूध की भाँति न जाने ज़ोहरा का यह चित्र किस तरह उसके बचपन की गहरी, दबी, गुफ़ाओं से निकल-कर उसके सामने आ गया—वही नाटा-सा क़द, भरा-भरा गदराया शरीर, बड़ी-बड़ी चंचल आँखें, पान की लाली से रँगे ओठ, भारी कूल्हे, वही छातियों का उभार और वह स्वर्ण-स्मित जिसके स्रोत का पता ही न चलता था कि आँखों में आरम्भ होती है या ओठों पर।

वह उस समय बहुत छोटा था और अनाथ हो जाने के कारण मौसी के पास रहा करता था। उसकी यह मौसी एक सेठ के बच्चों की धाय थी। यह सेठ चावड़ी बाज़ार में ग्रामोफ़ोन और दूसरे बाजों की दुकान करता था। इस दुकान के सामने ज़ोहरा का चौबारा था और सेठ की दुकान के बाजे चाँदी के सिक्कों में परिणत होकर धीरे-धीरे वहाँ पहुँचा करते थे।

चन्दन अपने मौसेरे भाई और सेठजी के बड़े लड़के के साथ कभी-कभी ज़ोहरा के चौबारे पर चला जाता था।

ज़ोहरा सेठजी के लड़के को प्यार किया करती, मिठाई आदि देती और इस मिठाई का कुछ जूठा हिस्सा उन दोनों भाइयों को भी मिल जाया करता था। कई बार वह दूसरे बच्चों के साथ चौबारे के बाहर आँगन में

खेल रहा होता कि सेठजी आ जाते। ज़ोहरा के पास जा बैठते, उसे आलिंगन में लेते या उसकी सुकोमल जाँघ पर सिर रखकर लेट जाते।

उसकी यह मालकिन भी तो ज़ोहरा से मिलती-जुलती थी—उसी जैसा नाटा क़द, उसी जैसे भरे गदराये कूल्हे, बादलों-सी उमड़ती हुई छातियाँ, गोल-गोल रस भरे गाल, बड़ी-बड़ी मुस्कराती आँखें और लाल ओठ—कौन कह सकता है कि उस एक क्षण में उसे अपने मालिक के आलिंगन में बँधे देखकर ही उसे ज़ोहरा का ध्यान न हो आया था।

कल्पना-ही-कल्पना में चन्दन ज़ोहरा के चौबारे पर पहुँचकर सेठ बना उसकी जाँघ पर सिर रखे लेट गया और ज़ोहरा प्यार से उसके बालों पर हाथ फेरने लगी।...वह भूल गया कि उसके टख़नों तक मैल जमी हुई है, खुश्की के कारण उसकी टाँगों की त्वचा घुटनों तक पपड़ी बन गयी है; नीली निक्कर (जो उसके मालिक ने उसे कभी दी थी) मैल से काली हो गयी है; उसके स्याह माथे पर चोट का एक अत्यन्त घिनावना दाग़ है; उसका निचला ओठ कटा हुआ है और उसके सिर के बाल छोटे-छोटे और रूखे हैं—वह मस्त लेटा रहा और ज़ोहरा उसके बालों पर हाथ फेरती रही। वहीं उसकी जाँघ पर लेटे-लेटे उसने करवट बदली और कहना चाहा, 'ज़ोहरा, कितनी अच्छी हो तुम...!' पर उसकी कमर में कोई तीखी-सी चीज़ चुभ गयी और तब उसने जाना कि वह नंगे फ़र्श पर लेटा हुआ है; वह चीज़, जिस पर उसका सिर रखा है, ज़ोहरा की जाँघ नहीं, बल्कि वही सड़ा-गला, मैला तकिया है।

चन्दन ने सिर को झटका दिया, किन्तु वह मुस्कराया नहीं। उठकर, दीवार से पीठ लगाकर बैठ गया। वहीं बैठे-बैठे पिछले कई वर्ष उसकी आँखों के सामने उड़ते हुए-से गुज़र गये।

सेठ जी तो अपनी सब जायदाद चावड़ी बाजार के 'हुस्न' की भेंट करके अपने नाना के गाँव चले गये थे, जो कहीं मध्य-पंजाब में अपनी कुरूपता और अपढ़ता की गोद में सोया पड़ा था। चन्दन की मौसी रियासत अलवर में अपने गाँव चली गयी और चन्दन इस अल्प-वयस ही में तीन

रुपये मासिक पर उन सेठ के एक मित्र के यहाँ नौकर हो गया था...

इसके बाद उसका जीवन उस कम्बल की भाँति था जिसे इधर से रफ़ू किया जाय तो उधर से फट जाये, उधर से सिया जाय तो इधर से उधड़ जाये।

अपने इस मालिक के यहाँ पहुँचकर उसने सुख की साँस ली थी और उसने यह महसूस किया था कि ऐसा हँसमुख, उदार और खुले स्वभाव का मालिक उसे गत बारह वर्ष की नौकरी में नहीं मिला। किन्तु उसके मालिक का यही खुलापन उसके लिए मुसीबत बन गया। उसका मालिक उसके सामने ही अपनी पत्नी से प्यार करने लगता, उसे आलिंगन में ले लेता और प्रायः चूम लेता। जैसे चन्दन हाड़-मांस का इंसान न हो, मिट्टी का लौंदा हो।

चन्दन ने सोचा—इस विवाह से पहले वह कितने सुख-शान्ति से रहता था। अंगों में यह गर्मी-गर्मी-सी, नसों में यह तनाव-तनाव-सा, यह अशान्ति और अनिद्रा-सी उसे पहले कभी न महसूस न हुई थी। वह सोता था तो गत-आगत का होश उसे न रहता, किन्तु जब से उसके इस मालिक ने विवाह किया और उसकी नयी मालकिन आयी, उसकी नींद उड़ सी गयी थी। उसे विचित्र प्रकार के सपने आते थे। रात उसने कासनी को देखा था। कासनी उसके पहले मालिक की लड़की थी। कच्ची नाशपातियों-सी उसकी छातियाँ थीं, टखनों से ऊँचा लहँगा और बंडी पहने वह नंगे सिर घूमा करती थी। यही लड़की स्वप्न में उसके साथ आ लेटी थी। कैसे? कहाँ? उसे कुछ याद नहीं! पर वह जाग उठा था। उसका शरीर गर्म था, उसकी नसें तनी हुई थीं और उसे पसीना आ गया था—फिर वह सो न सका।

कुछ भी समझ में न आने से अपनी मूर्खता पर उसने सिर हिलाया, पर वह मुस्कराया नहीं। उसका मालिक दफ़्तर गया हुआ था। मालकिन अन्दर कमरे में गहरी नींद सोयी हुई थी। वह उठा और पड़ोसी राय साहब

के नौकर जेठू की कोठरी की ओर चल पड़ा, जहाँ दोपहर के समय इर्द-गिर्द के सब नौकरों की महफ़िल जमा करती थी।

चैत सुदी पूर्णमासी का चाँद गुलमौर के पीछे से धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा था। कोठी की फ़सील से लगी नव-वय की कीकरी के पत्ते तरल-रजत के परस से चमक उठे थे। चन्दन धीरे-धीरे अपनी कोठरी से निकला— सामने कोठी के पोर्च पर फैली हुई बिगिन-बेलिया के लाल गुलानारी फूल चाँदनी में हल्के स्याही मायल दिखायी दे रहे थे। एक ओर जैकारेंडा का पुराना पेड़ (जिसका तना पार साल मध्य से काट दिया गया था) अपनी कुछ एक शाखाओं के सिरों पर पत्तों और फूलों के गुच्छे लिये मस्ती से झूम रहा था। दूर से ये गुच्छे नन्हें-नन्हें बादलों के टुकड़ों से दिखायी देते थे। ककरौंदे और खट्टे के फूलों की मादक सुगन्ध वायुमंडल के कण-कणमें बस गयी थी। यद्यपि अभी तक वे सब अन्दर कमरे में सोते थे, पर नव-ऋतु के आगमन से सर्दी अधिक न रही थी। चन्दन अनमना-सा गोंदनी के एक छोटे-से पेड़ के पास जा खड़ा हुआ। अपने ध्यान में खड़े-खड़े उसने दो-चार नन्हीं-नन्हीं गोंदनियाँ तोड़कर मुँह में डाल लीं। पूरी तरह पकी न थीं। उसके मुँह का स्वाद बिगड़ गया। क्षण भर तक वह असमंजस की दशा में वहीं खड़ा रहा। फिर वह बरामदे में गया और उसने बड़ी सावधानी से बैठक का दरवाज़ा खोला।

सोने का कमरा बैठक के साथ ही था और बैठक साधारणतः खुली रहती थी। उसका एक दरवाज़ा वह स्वयं बाहर से बन्द कर लिया करता था और दूसरा मालिक अन्दर से बन्द कर लेते थे। उसने धीरे से दरवाजा खोला। मालिक के सोने के कमरे में हल्की रोशनी थी, उसका प्रतिबिम्ब दरवाज़े के शीशों पर पड़ रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे किसी ने गदले प्रकाश की कूची दरवाज़े के शीशों पर फेर दी हो। धीरे-धीरे दरी पर पाँव रखता हुआ चन्दन बढ़ा और जाकर दरवाज़े के साथ पंजों के बल खड़ा हो गया।

अन्दर छत में लाल रंग का बल्ब जल रहा था, उसके धीमे प्रकाश में वह आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगा। किन्तु दूसरे ही क्षण वह वापस मुड़ा। उसका शरीर गर्म होने लगा था, अंगों में तनाव आ गया था, कण्ठ और ओठ सूखने लगे थे और उसकी नसों में जैसे दूध उबलने लगा था।

उसी तरह पंजों के बल भागता-सा वह बाहर आया। धीरे से उसने दरवाज़ा लगाया और बाहर चाँदनी में आ खड़ा हुआ। सामने जैकारेंडे का तना खड़ा था। उसके जी में आयी कि अपने युवा वक्ष की एक ही चोट से उस तने को गिरा दे।

कोठी के सामने लॉन में फुहारे के गिर्द लाल-पीले फूलों के अगनित पौधे लहरा रहे थे, जिनके चौड़े-चौड़े पत्तों पर पानी की बूँदें फिसल-फिसल पड़ती थीं। ककरौंदे की सुगन्ध और भी तीखी होकर वायुमण्डल में बस गयी थी। चन्दन ने जाकर फुहारे की टोंटी घुमा दी. . .फर्र-फर्र मीठी फुहार उस पर पड़ने लगी।

वह जेठू के यहाँ क्यों गया? वह सोचने लगा—दोपहर के समय इर्द-गिर्द की कोठियों के नौकर जेठू की कोठरी में इकट्ठे होते थे। कभी ताश खेलते, कभी चौसर की बाज़ी लगाते, कभी अपने-अपने मालिकों और मालकिनों की नकलें उतारते। कभी जेठू अपने चचा से तवेवाला बाजा माँग लाता, जो उसने एक कबाड़ी की क्लीयरिंग सेल (Clearing sale) में ख़रीदा था। उसकी आवाज़ ऐसे थी जैसे अतिसार का रोगी बच्चा रिरिया रहा हो। किन्तु इस पर भी सब बड़े मज़े से उस पर 'गोरी तेरे गोरे गाल पै' या 'तोसे लागी नज़रिया रे' सुना करते। हाल ही में जेठू चारली का एक नया रिकार्ड ले आया था और दोपहर भर उसकी कोठरी में—

'तेरी नज़र ने मारा!
एक दो तीन चार पाँच छः सात आठ नौ दस ग्यारह
तेरी नज़र ने मारा!'

होता रहता था—लेकिन चन्दन कभी उधर न गया था। उसके पास

समय ही न था। प्रातः ही उसका मालिक उसे जगा दिया करता था। वह उसके मालिश करता, उसके लिए नहाने का पानी तैयार करता, चाय बनाता, उसके दफ़्तर चले जाने के बाद खाना तैयार करता, दफ़्तर ले जाता, आकर नहाता, खाता और सो जाता—ऐसी गहरी नींद कि प्रायः दिन छिपे तक सोया रहता और कई बार उसके मालिक को दफ़्तर से आकर उसे ठोकर मारकर जगाना पड़ता। किन्तु आज अपनी अनिद्रा से हारकर जब वह दोपहर को जेठू की कोठरी में गया तो उसने ऐसी बातें सुनीं कि उसकी रही-सही नींद भी हराम हो गयी।

फुहार के पहले परस से उसके शरीर में झुरझुरी-सी उठी। वह डरा, कहीं उसे ज्वर तो नहीं हो गया? ऋतु बदल रही है और वह पानी के नीचे खड़ा भीग रहा है। यदि उसे निमोनिया हो गया तो! उसने सिर को एक बार झटका दिया, पर वह मुस्कराया नहीं और फुहारे को खुला ही छोड़कर अपनी कोठरी में जाकर लेट गया।

शीघ्र ही उसकी आँख खुल गयी। उसका सिर भारी था। तन जल-सा रहा था और आँखें कुछ कड़वी उबली-उबली-सी हो रही थीं—उसने फिर एक स्वप्न देखा था—कच्ची नाशपातियों के गुच्छे उसके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। वह एक सूने वीरान मकान में खड़ा उन्हें पकड़ने का प्रयास कर रहा है, पास ही पानी का एक नल चल रहा है और उसके पास एक बच्चा खड़ा चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है; 'मेरे खिलौने मत तोड़ो!' 'मेरे खिलौने मत तोड़ो' वह सिर उठाकर देखता है। वह बच्चा कासनी बन जाती है और चन्दन सुनता है उसका आर्त स्वर—'मेरी नाशपातियाँ मत तोड़ो, मेरी नाशपातियाँ...'

चन्दन उन्मादी की भाँति उठा। जेठू की बातें उसके कानों में गूँज गयीं। उसने कुर्ता पहना। एक पुराने मैले मिट्टी के बर्तन में से पुराना-सा बटुआ निकालकर जेब में रखा। कोठरी की कुण्डी लगायी और धीरे-धीरे कोठी से बाहर निकल गया।

चाँदनी एक रजत-वितान की भाँति प्रेड-ग्राऊंड पर फैली हुई थी और सड़कों के नीम जैसे इस वितान को थामे खड़े थे। उनके पत्तों से बिजली के बल्ब टिमटिमा उठते थे और दूर से देखने पर ऐसा मालूम होता था, जैसे उनके परे कोई धीमा सा अलाव जल रहा है।

चन्दन 'क्वीन मेरी रोड' पर हो लिया। दायीं ओर की कोठी से ककरौंदे, खट्टे और मौलश्री की मिली-जुली सुगन्धि का एक झोंका आया और सड़क पर पेड़ों के नीचे बिछे प्रकाश और छाया के जाल हिल उठे।

तीस हज़ारी के चौरस्ते पर वह रुका कि शायद कोई ट्रैम आती हुई मिल जाये, किन्तु शायद ग्यारह कभी के बज चुके थे, सड़क बिलकुल सुनसान थी। एक गन्दगी की गाड़ी दुर्गन्ध फैलाती हुई उसके पास से गुज़र गयी। चन्दन का दिमाग़ भन्ना गया। भागकर वह मिठाई के पुल पर हो लिया। जिस चबूतरे पर सिपाही खड़ा रहता था, वह टूटा हुआ था। शायद किसी मोटर ड्राइवर ने सिपाही की कर्कशता का बदला उस निरीह चबूतरे से लिया था। पुल पर बिलकुल सन्नाटा था। ऊपर चाँद चमक रहा था और पुल के नीचे अँधेरे और गहराई में रेल की लाइनें और सामने कुछ दूर लाल-हरे सिगनल चुपचाप टिमटिमा रहे थे। चन्दन पुल की दीवार के साथ सिर लगाये क्षण भर तक चुपचाप विमुग्ध-सा इन नागिनों-सी लाइनों और टिमटिमाते हुए सिगनलों को देखता रहा। फिर वह आगे चल पड़ा।

सड़क बिलकुल सुनसान थी, दोनों ओर की दुकानें बन्द थीं और फ़ुटपाथ पर मैले-कुचैले गर्हित लिहाफ़ लिये कहीं-कहीं दुकानदार सोये हुए थे—मैल से सनी काली धोतियों में उनके गौर अंग पूर्णमासी के चाँद की जगमगाती ज्योत्स्ना में और भी चमक रहे थे। तेलीबाड़ा के सामने सड़क की बायीं ओर फुटपाथ पर एक टूटा हुआ ताँगा पड़ा था और दो-तीन कूड़े की ख़ाली गाड़ियाँ खड़ी थीं। इसके बाद दूर तक सफ़ेद-सी दीवार चली गयी थी, जिसके पीछे कभी किसी रेलगाड़ी के तेज़-तेज़ गुज़रने की आवाज़ आ जाती थी। दायीं ओर दुकानों के बाहर कहीं बाँसों के गट्ठे

पड़े थे, कहीं चारपाइयाँ और कहीं लकड़ी की ख़ाली पेटियाँ। चन्दन चुप-चाप अपने ध्यान में मग्न कुतब रोड के चौरस्ते पर आ गया।

सदर बाज़ार बिलकुल बन्द हो गया था। केवल कोने के हलवाई की दुकान खुली थी। चन्दन की भड़की हुई तबीयत यहाँ तक आते-आते लगभग शान्त हो गयी थी। उसके मन में केवल उत्सुकता की भावना शेष थी और इसी के अधीन उसने हलवाई की दुकान से आध सेर गर्म-गर्म दूध पीया।

और जैसे नयी उमंग पाकर वह आगे बढ़ा।

दोनों ओर की दुकानें बन्द थीं। बायीं ओर के 'माशा अल्लाह होटल' में, जहाँ संध्या के समय इतनी भीड़ होती है कि एक-एक कुर्सी पर दो-दो व्यक्ति बैठे होते हैं, इस समय निस्तब्धता छायी हुई थी और एक मैले-से बेंच पर होटल का एक नौकर बैठा खाना खा रहा था। दायें-बायें कहीं-कहीं किसी पनवाड़ी या हजाम की दुकान खुली थी। एक हेयर कटिंग सैलून में ( जिसके तख़ते पर दिन को रंगरेज़ बैठा करता था ) इस समय एक श्रमिक ( जिसे शायद दिन में अवकाश न मिलता था।) बैठा सिर पर उस्तरा फिरवा रहा था।

काठ बाज़ार के सिरे पर चन्दन क्षण भर के लिए रुका। ताँगों के अड्डे पर एक-दो ताँगे वाले अभी तक घूम रहे थे। ताँगा-शैड के ऐन ऊपर चाँद चमक रहा था। धुएँ और गर्द ने चाँदनी को मैला कर दिया था। वह काठ बाज़ार में दाख़िल हुआ और चकित-सा एक चौबारे की ओर देखने लगा, जिसमें गैस की रोशनी के सम्मुख एक 'सुन्दर' वारांगना बैठी थी। चन्दन की भरी हुई उमंग फिर जागी, किन्तु नीचे चौक में अभी तक काफ़ी भीड़ थी। इतने उज्ज्वल प्रकाश और इतने लोगों के सामने उसके लिए मामले की बात करना सर्वथा असम्भव था। उसने नीचे की कोठरियों की ओर देखा। हरेक कोठरी के आगे एक-एक गंदा मैला-सा पर्दा लटक रहा था और उसके बाहर एक-एक लैम्प, जिसके सामने एक-एक स्त्री खड़ी या बैठी थी।

कभी-कभी किसी कोठरी का दरवाज़ा बन्द हो जाता और किसी व्यक्ति के पीछे लैम्प उठाये हुए उस कोठरी की मालकिन उस मैले गन्दे पर्दे के पीछे चली जाती—पल भर के लिए अपनी उभरी हुई उमंग चन्दन को फिर डूबती हुई प्रतीत हुई और वह ज़रा आगे बढ़कर ( मानो सहारे के लिए ) एक कुर्सी पर बैठ गया, जो ऐन चौक में बिछी हुई थी और जिसके पास एक मेज़ पर रंग-बिरंगी बोतलें रखे एक चम्पी करने वाला हजाम लड़का खड़ा था।

"चम्पी कराओगे ?"

चन्दन ने अनजाने ही में 'हाँ' कर दी। पास ही एक और वैसी ही दुकान सजी थी और उसके परे एक लम्बे बरामदे में अपनी-अपनी कोठरियों के सामने रूप ( यद्यपि रूप उनमें से एक के पास भी था, यह कहना मुश्किल है ) तथा सतीत्व का व्यापार करने वाली कई वारांगनाएँ खड़ी अपने-अपने ग्राहकों को बुला रही थीं। खड़े-खड़े थक जाने के डर से या अपने वक्ष-उभार दिखाने के लिए उन्होंने छत से रसियाँ लटका रखी थीं, जिनके सहारे वे खड़ी हो जाती थीं।

चन्दन के सिर में तेल गिरने से एक लिजलिजी-सी सरसराहट हुई और हजाम लड़का चम्पी करने लगा। चम्पी करने के बाद चन्दन के मस्तक और गर्दन को उसने एक अत्यन्त गन्दे तौलिये से पोंछ कर बाल बना दिये।

चन्दन जब वहाँ से उठा तो उसे नाक में सस्ते ख़ुशबूदार तेल की तीखी गंध आ रही थी और उसकी उमंग फिर जैसे जग उठी थी। चौक छोड़ वह एक गली में हो गया। यहाँ लोग कम थे और रोशनी भी इतनी तेज़ न थी। वह एक बार गली के दूसरे सिरे तक जाकर मुड़ आया। उसे समझ न आती थी कि वह कैसे बात-चीत शुरू करे। वह तो उनसे आँखें भी न मिला पाता था। ध्यान-मात्र ही से उसका दिल धक्-धक् करने लग जाता था। उसने सोचा, वापस चला जाये। उसे जेठू के साथ आना चाहिए था और उसके मन में आयी कि गली को पार करके वह दूसरे रास्ते से निकल जाये, किन्तु इतनी दूर आकर वह जाना भी न चाहता था। उसी समय

एक कोठरी के आगे कुछ अँधेरे में बैठी हुई एक मोटी थलथल-पिलपिल स्त्री ने उसकी मुश्किल आसान कर दी। उसके पास दो छोटी-छोटी लड़कियाँ फ़र्श पर ही दरी बिछाये लेटी हुई थीं—बिलकुल कासनी ही की वयस की—"आओ आओ, इधर आओ!" प्यार से उसने कहा।

चन्दन बढ़ा।

बड़े धीमे भेद-भरे स्वर में उसने कहा—"आओ, सोचते क्या हो? बारह आने..."

इशारा उसी कोठरी के बाहर बैठी हुई स्त्री की ओर था, जो केवल एक काली बनियान और काली साड़ी पहने लोहे की कुर्सी पर बैठी थी; जिसकी बग़लों में बाल तक दिखायी देते थे और जिसकी छातियाँ ढली हुई ककड़ी की भाँति लटक रही थीं।

चन्दन ने उसके पास धरती पर आधी लेटी और आधी बैठी लड़की की ओर आकांक्षा भरी दृष्टि से देखा। उसकी नाक में छोटी-सी नथ भी थी और उसने जेठू से सुना था कि इन लोगों में यह नथ कौमार्य्य का चिह्न होती है।

समझकर मोटी स्त्री ने कहा—"यह तो अभी बहुत छोटी है, यह अभी यह सब क्या जाने?"

चन्दन के मस्तिष्क में कच्ची नाशपातियाँ घूम गयीं, फिर कासनी और फिर कच्ची नाशपातियाँ।

और मोटी स्त्री ने कहा—"दो रुपये लगेंगे।"

चन्दन चुप रहा। वह कहना चाहता था, "दो रुपये बहुत हैं।"

तभी मोटी स्त्री ने कहा, "अच्छा तो डेढ़ सही। अभी तो नथ भी नहीं उतरी।"

चन्दन की नसों में दूध उबलने लगा। उसका शरीर गर्म होने लगा। दूसरे क्षण वह गन्दे मैले पर्दे के अन्दर चला गया और उसके पीछे-पीछे लैम्प और उस लड़की को लिये हुए वह मोटी स्त्री!

एक सप्ताह बाद सिर पर अपना बोरिया-बिस्तर उठाये चन्दन पोर्च में खड़ा था और अन्दर कमरे में उसके मालिक अपनी पत्नी को आदेश दे रहे थे—मैं अभी डाक्टर को भेजता हूँ। सब मकान को डिसइन्फ़ेक्ट (disinfect) करवा लेना। सब जगह तो जाता रहा है कम्बख़्त !

और चन्दन बेबसी की दशा में खड़ा सोच रहा था, 'पर लड़की की आयु तो तेरह वर्ष की भी न होगी और उसकी तो अभी नथ भी न उतरी थी।'

●

# परिशिष्ट ३

## प्रगतिशील

## नये देवता

# प्रगतिशील

जोगेन्द्र सिंह की कहानियाँ जब लोकप्रिय होना शुरू हुई तो उसके मन में इच्छा जगी कि वह प्रसिद्ध लेखकों और कवियों को अपने घर बुलाये और उनकी दावत करे। उसका ख़याल था कि इस तरह उसकी ख्याति और लोकप्रियता और भी बढ़ जायगी।

अपने बारे में जोगेन्द्र सिंह के बड़े अच्छे विचार थे। प्रसिद्ध लेखकों और कवियों को अपने घर बुलाकर और उनका आदर-सत्कार करने के बाद जब वह अपनी पत्नी अमृतकौर के पास बैठता तो कुछ देर के लिए बिलकुल भूल जाता कि उसका काम डाकख़ाने में चिट्ठियों की देख-भाल करना है। अपनी तीन गज़ी पटियाला फ़ैशन की रंगी हुई पगड़ी उतारकर जब वह एक तरफ़ रख देता तो उसे ऐसा महसूस होता कि उसके लम्बे-लम्बे काले बालों के नीचे जो छोटा सिर छिपा हुआ है, उसमें प्रगतिशील साहित्य कूट-कूटकर भरा है। इस एहसास से उसके दिल और दिमाग़ अहं की एक अजीब-सी भावना से ओत-प्रोत हो जाते और वह समझता कि दुनिया

में जितने कहानीकार और उपन्यासकार हैं, सब-के-सब उससे एक बड़े ही मीठे रिश्ते में बँधे हैं।

अमृतकौर की समझ में यह बात न आती थी कि उसका पति लोगों को आमंत्रित करने पर उससे हर बार यह क्यों कहा करता है, "अम्बो, यह जो आज चाय पर आ रहे हैं, हिन्दुस्तान के बड़े शायर हैं, समझीं, बहुत बड़े शायर! देखो उनकी आवभगत में कोई कसर बाकी न रहे।"

आने वाला कभी हिन्दुस्तान का बहुत बड़ा कवि होता था या बहुत बड़ा कहानीकार। इससे कम दर्जे के आदमी को वह कभी बुलाता ही न था। और फिर दावत में ऊँचे-ऊँचे सुरों में जो बातें होती थीं, उनका मतलब वह आज तक न समझ सकी थी। उस बात-चीत में प्रगतिशीलता की आम चर्चा होती थी। इस प्रगतिशीलता का मतलब भी अमृतकौर की समझ में न आता।

एक बार जोगेन्द्र सिंह ने एक बहुत बड़े कहानीकार को चाय पिलाकर छुट्टी पायी और अन्दर रसोई में आकर बैठा तो अमृतकौर ने पूछा, "यह मुई प्रगतिशीलता क्या है?"

जोगेन्द्र ने पगड़ी सहित अपने सिर को एक हल्की-सी जुम्बिश दी और कहा, "प्रगतिशीलता.....इसका मतलब तुम फ़ौरन ही न समझ सकोगी। प्रगतिशील उसको कहते हैं जो प्रगति याने तरक़्क़ी पसन्द करे। यह शब्द संस्कृत का है। अँग्रेजी में प्रगतिशील को 'प्रोग्रेसिव' कहते हैं। वे कहानीकार जो कहानियों में तरक़्क़ी चाहते हों, उनको तरक़्क़ी पसन्द या प्रगतिशील कहानीकार कहते हैं। इस वक्त हिन्दुस्तान में सिर्फ़ तीन-चार प्रगतिशील कहानीकार हैं, जिनमें मेरा नाम भी शामिल है।"

जोगेन्द सिंह की आदत थी कि वह अँग्रेज़ी शब्दों और वाक्यों के द्वारा अपने विचार प्रकट किया करता था। उसकी यह आदत पककर अब स्वभाव बन गया था। इसलिए वह बेझिझक एक ऐसी अँग्रेज़ी भाषा में सोचता था जो कुछ प्रसिद्ध अँग्रेज़ी उपन्यासकारों के अच्छे-अच्छे चुस्त फ़िक़रों पर आधारित थी। साधारण बात-चीत में वह पचास फ़ीसदी अंग्रेज़ी शब्द और

अँग्रेज़ी पुस्तकों से चुने हुए वाक्य इस्तेमाल करता था। अफ़लातून को वह हमेशा प्लेटो कहता था। इसी तरह अरस्तू को एरिसटाटेल। डाक्टर सिगमैड फ्रायड़, शोपेनहार और नित्शे की चर्चा वह अपने प्रत्येक महत्त्वपूर्ण वार्तालाप में किया करता था। साधारण बात-चीत में वह इन दार्शनिकों का नाम नहीं लेता था और पत्नी से बात करते समय वह इस बात का विशेष ध्यान रखता था कि अँग्रेज़ी शब्द और ये दार्शनिक न आने पायें।

जोगेन्द्र सिंह से जब उसकी पत्नी ने प्रगतिशीलता का मतलब समझा तो उसे बड़ी निराशा हुई, क्योंकि उसका विचार था कि प्रगतिशीलता कोई बहुत बड़ी चीज़ होगी जिस पर बड़े-बड़े कवि और कहानीकार उसके पति के साथ मिलकर बहस करते रहते हैं। लेकिन जब उसने यह सोचा कि भारत में सिर्फ़ तीन-चार प्रगतिशील कहानीकार हैं तो उसकी आँखों में चमक पैदा हो गयी। यह चमक देखकर जोगेन्द्र सिंह के मूँछों भरे ओठ एक दबी दबी-सी मुस्कराहट के कारण कंपकँपाये, "अम्बो, तुम्हें यह सुनकर ख़ुशी होगी कि हिन्दुस्तान का एक बहुत बड़ा आदमी मुझसे मिलने की इच्छा रखता है। उसने मेरी कहानियाँ पढ़ी हैं और बहुत पसन्द की हैं।"

अमृतकौर ने पूछा, "यह बड़ा आदमी कोई सचमुच बड़ा आदमी है या आपकी तरह सिर्फ़ कहानियाँ लिखने वाला है।"

जोगेन्द्र सिंह ने जेब से एक लिफ़ाफ़ा निकाला और उसे अपने दूसरे हाथ की पीठ पर थपथपाते हुए कहा, "कहानीकार तो है ही, लेकिन इसकी सबसे बड़ी ख़ूबी, जो इसकी न मिटने वाली ख्याति का कारण है, और ही है।"

"क्या ख़ूबी है?"

"वह एक आवारागर्द है।"

"आवारागर्द ?"

"हाँ, वह एक आवारागर्द है जिसने आवारागर्दी को अपनी ज़िन्दगी का उद्देश्य बना लिया है।...वह सदा घूमता रहता है...कभी काश्मीर की ठंडी घाटियों में होता है और कभी मुलतान के तपते मैदानों में ...कभी लंका में तो कभी तिब्बत में...।"

अमृतकौर की दिलचस्पी बढ़ गयी, "मगर वह करता क्या है।"

"गीत इकट्ठे करता है. . .हिन्दुस्तान के हर हिस्से के गीत—पंजाबी, गुजराती, मराठी, पेशावरी, सरहदी, काश्मीरी, मारवाड़ी. . .हिन्दुस्तान में जितनी ज़बानें बोली जाती हैं, उनके जितने गीत उसको मिलते हैं, इकट्ठे कर लेता है।"

"इतने गीत इकट्ठे करके क्या करेगा ?"

"किताबें छापता है, लेख लिखता है ताकि दूसरे भी ये गीत पढ़ सकें। कई अँग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाओं में उसके लेख छप चुके हैं। गीत इकट्ठे करना और सलीक़े के साथ उनको पेश करना कोई मामूली काम नहीं है। वह बहुत बड़ा आदमी है अम्बो, बहुत बड़ा आदमी ! और देखो, उसने मुझे कैसा ख़त लिखा है।"

यह कहकर जोगेन्द्र सिंह ने अपनी पत्नी को वह ख़त पढ़कर सुनाया जो हरेन्द्रनाथ परमार्थी ने उसको अपने गाँव से डाकख़ाने के पते से भेजा था। उस ख़त में हरेन्द्र परमार्थी[1] ने बड़ी मीठी भाषा में जोगेन्द्र सिंह की कहानियों की प्रशंसा की थी और लिखा था कि आप भारत के प्रगतिशील कहानीकार हैं। यह वाक्य जोगेन्द्र सिंह ने पढ़कर कहा, "लो देखो, परमार्थी साहब भी लिखते हैं कि मैं प्रगतिशील हूँ।"

जोगेन्द्र सिंह ने पूरा ख़त सुनाने के बाद एक-दो निमिष अपनी पत्नी की ओर देखा और इसका असर मालूम करने के लिए पूछा, "क्यों ?"

अमृतकौर अपने पति की तीक्ष्ण दृष्टि के कारण कुछ झेंप गयी और मुस्कराकर कहने लगी, "मुझे क्या मालूम। बड़े आदमियों की बातें बड़े ही समझ सकते हैं।"

जोगेन्द्र सिंह ने अपनी पत्नी की इस अदा पर ग़ौर नहीं किया। वह

---

[1] यह कहानी जब पहले-पहल पत्रिका में छपी तो हरेन्द्रनाथ के साथ परमार्थी था, पर जब पुस्तक रूप में संगृहीत हुई तो मंटो ने 'त्रिपाठी' कर दिया।

दरअसल हरेन्द्र परमार्थी को अपने घर बुलाने और उसे कुछ दिन ठहराने के बारे में सोच रहा था, "अम्बो, मैं कहता हूँ परमार्थी साहब को दावत दे दी जाय। क्या ख़याल है तुम्हारा...लेकिन मैं सोचता यह हूँ कि क्या पता वे इनकार कर दें! बहुत बड़ा आदमी है। हो सकता है वह हमारी इस दावत को ख़ुशामद समझे।"

ऐसे मौक़ों पर वह पत्नी को अपने साथ शामिल कर लिया करता था ताकि दावत का बोझ दो आदमियों में बँट जाय। इसलिए जब उसने 'हमारी' कहा तो अमृतकौर ने, जो अपने पति जोगेन्द्र सिंह की तरह बेहद भोली थी, हरेन्द्र परमार्थी में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। हालांकि उसका नाम ही उसके लिए न समझ में आने वाला था और यह बात भी उसकी समझ से बाहर थी कि एक आवारागर्द गीत जमा करके कैसे बहुत बड़ा आदमी बन सकता है। जब उससे यह कहा गया था कि परमार्थी गीत इकट्ठे करता है तो उसे अपने पति की एक बात याद आ गयी थी कि विलायत में लोग तितलियाँ पकड़ने का काम करते हैं और इस तरह काफ़ी रुपया कमाते हैं। इसलिए उसका यह ख़याल था कि शायद परमार्थी ने गीत जमा करने का काम विलायत के किसी आदमी से सीखा होगा।

जोगेन्द्र सिंह ने फिर अपनी आशंका प्रकट की, "हो सकता है वह हमारी इस दावत को ख़ुशामद समझे।"

"इसमें ख़ुशामद की क्या बात है। और भी तो कई बड़े आदमी आपके पास आते हैं। आप उनको ख़त लिख दीजिए। मेरा ख़याल है वह आपकी दावत ज़रूर क़बूल कर लेंगे। और फिर उनको भी तो आपसे मिलने का बहुत शौक है। हाँ, यह तो बताइए क्या उनके बीवी-बच्चे हैं?"

"बीवी-बच्चे?" जोगेन्द्र सिंह उठा। ख़त का मज़मून अँग्रेज़ी भाषा में सोचते हुए उसने कहा, "होंगे, ज़रूर होंगे। हाँ हैं। मैंने उनके एक लेख में पढ़ा था, उनकी बीवी भी है और एक बच्ची भी है।"

यह कहकर जोगेन्द्र सिंह उठा। ख़त का मज़मून उसके दिमाग़ में पूरा हो चुका था। दूसरे कमरे में जाकर उसने छोटे साइज़ का पैड निकाला,

जिस पर वह ख़ास-ख़ास आदमियों को ख़त लिखा करता था, और हरेन्द्र परमार्थी के नाम उर्दू में दावत नामा लिखा। यह उस मज़मून का अनुवाद था जो उसने अपनी पत्नी से बात करते समय अंग्रेज़ी में सोचा था।

तीसरे दिन परमार्थी का उत्तर आ गया। जोगेन्द्र सिंह ने धड़कते हुए दिल से लिफ़ाफ़ा खोला। जब उसने पढ़ा कि उसकी दावत मंज़ूर कर ली गयी है तब उसका दिल और भी धड़कने लगा। उसकी पत्नी अमृतकौर धूप में अपने छोटे बच्चे के केसों में दही डालकर मल रही थी कि जोगेन्द्र सिंह लिफ़ाफ़ा हाथ में लेकर उसके पास पहुँचा।

"उन्होंने हमारी दावत क़बूल कर ली हैं। कहते हैं कि वे लाहौर में वैसे भी एक ज़रूरी काम से आ रहे थे। अपनी नयी किताब छपवाना चाहते हैं. . . और हाँ, उन्होंने तुमको प्रणाम लिखा है।"

अमृतकौर को इस ख़याल से बड़ी खुशी हुई कि इतने बड़े आदमी ने, जिसका काम गीत इकट्ठे करना है, उसको प्रणाम कहा हैं। उसने मन-ही-मन वाह गुरू को धन्यवाद दिया कि विवाह ऐसे आदमी से हुआ जिसको भारत का हर बड़ा आदमी जानता हैं।

सर्दियों का मौसम था। नवम्बर के शुरू के दिन थे। जोगेन्द्र सिंह सुबह सात बजे जाग गया और देर तक बिस्तर में आँखें खोले पड़ा रहा। उसकी पत्नी अमृतकौर और उसका बच्चा दोनों लिहाफ़ में लिपटे हुए पास वाली चारपाई पर पड़े थे। जोगेन्द्र सिंह ने सोचना शुरू किया—परमार्थी से मिलकर उसे कितनी ख़ुशी होगी। और ख़ुद परमार्थी को भी उससे मिलकर निश्चय ही बड़ी ख़ुशी होगी क्योंकि वह भारत का युवा कहानीकार और प्रगतिशील लेखक है। परमार्थी से वह हर विषय पर बात करेगा। गीतों पर, देहाती बोलियों पर, कहानियों पर और युद्ध की नयी स्थिति पर। वह उनको बतायगा कि दफ़्तर का एक मेहनती क्लर्क होने पर भी वह कैसे अच्छा कहानीकार बन गया। क्या यह अजीब-सी बात नहीं कि डाकख़ाने में चिट्ठियों की देख-भाल करने वाला आदमी स्वभावतः कलाकार हो।

जोगेन्द सिंह को इस बात पर बड़ा नाज़ था कि डाकख़ाने में छः-सात घंटे मज़दूरों की तरह काम करने के बाद भी वह इतना समय निकाल लेता है कि एक मासिक पत्रिका का सम्पादन करता है और दो-तीन पत्रिकाओं के लिए हर महीने एक कहानी भी लिखता है। मित्रों को हर महीने जो लम्बे चौड़े पत्र लिखे जाते थे, वे अलग।

देर तक वह बिस्तर पर लेटा कल्पना-ही-कल्पना में हरेन्द्र परमार्थी से अपनी पहली भेंट की तैयारियाँ करता रहा। जोगेन्द्र सिंह ने उसकी कहानियाँ और लेख पढ़े थे और उसका फ़ोटो भी देखा था। और किसी की कहानियाँ पढ़कर और फ़ोटो देखकर वह आम तौर पर यही महसूस किया करता था कि उसने उस आदमी को अच्छी तरह जान लिया है। लेकिन हरेन्द्र परमार्थी के मामले में उसको अपने ऊपर विश्वास न होता था। कभी उसका दिल कहता कि परमार्थी उसके लिए बिलकुल अजनबी है। उसके कहानीकार दिमाग़ में कभी-कभी परमार्थी एक ऐसे आदमी के रूप में सामने आता था जिसने कपड़ों के बदले अपने शरीर पर काग़ज़ लपेट रखे हों और जब वह काग़ज़ों के बारे में सोचता था तो उसे अनारकली की वह दीवार याद आ जाती थी जिस पर सिनेमा के पोस्टर ऊपर-तले इतनी संख्या में चिपके हुए थे कि एक और दीवार बन गयी थी।

जोगेन्द्र सिंह बिस्तर पर लेटा देर तक सोचता रहा कि यदि वह ऐसा ही आदमी निकला तो उसको समझना कठिन हो जायगा। लेकिन बाद में जब उसको दूसरों को तत्काल समझ लेने की अपनी प्रतिभा का ख़याल आया तो उसकी मुश्किलें आसान हो गयीं और वह उठकर परमार्थी के स्वागत की तैयारियों में लग गया।

पत्र-व्यवहार से यह तय हो गया था कि परमार्थी स्वयं जोगेन्द्र सिंह के मकान पर चला आयेगा, क्योंकि परमार्थी यह निश्चय न कर सका था कि वह लारी से सफ़र करेगा या रेल से। फिर भी यह बात तो निश्चित रूप से तय हो गयी थी कि जोगेन्द्र सिंह सोमवार को डाकख़ाने से छुट्टी लेकर सारे दिन अपने मेहमान का इन्तज़ार करेगा।

नहा-धोकर और कपड़े बदलकर जोगेन्द्र सिंह देर तक रसोई में अपनी पत्नी के पास बैठा रहा। दोनों ने चाय देर से पी, इस ख़याल से कि शायद परमार्थी आ जाये। लेकिन जब वह न आया तो उन्होंने केक आदि सम्हाल कर अलमारी में रख दिये और स्वयं ख़ाली चाय पीकर मेहमान के इन्तज़ार में बैठ गये।

जोगेन्द्र सिंह रसोई से उठकर अपने कमरे में चला गया। आईने के सामने खड़े होकर जब उसने अपनी दाढ़ी के बालों में लोहे के छोटे-छोटे क्लिप अटकाने शुरू किये कि वे नीचे की ओर तह हो जाय तो बाहर दरवाज़े पर दस्तक हुई। दाढ़ी को वैसे ही अपूर्ण अवस्था में छोड़कर उसने ड्योढ़ी का दरवाज़ा खोला। जैसा कि उसको मालूम था, सब से पहले उसकी नज़र परमार्थी की काली घनी दाढ़ी पर पड़ी जो उसकी अपनी दाढ़ी से बीस गुना बड़ी थी, बल्कि उससे भी कुछ ज़्यादा।

परमार्थी के ओठों पर जो बड़ी-बड़ी मूँछों के अन्दर छिपे हुए थे, मुस्कराहट पैदा हुई। उसकी एक आँख, जो ज़रा टेढ़ी थी, ज़्यादा टेढ़ी हो गयी थी और बालों की लटों को एक तरफ़ झुका कर उसने अपना हाथ, जो किसी किसान का हाथ मालूम होता था, जोगेन्द्र सिंह की ओर बढ़ा दिया।

जोगेन्द्र सिंह ने जब उसके हाथ की मज़बूत गिरफ़्त महसूस की और उसको परमार्थी का वह चमड़े का थैला नज़र आया जो किसी गर्भवती स्त्री के पेट की तरह फूला हुआ था तो वह बड़ा प्रभावित हुआ और सिर्फ़ इतना कह सका, "परमार्थी जी आपसे मिलकर मुझे बेहद खुशी है।"

परमार्थी को आये अब पन्द्रह दिन हो चुके थे। उसके आने के दूसरे दिन ही उसकी पत्नी और बच्ची भी आ गयी थीं। ये दोनों परमार्थी के साथ ही गाँव से आयी थीं, पर दो दिन के लिए मज़ंग में दूर के एक रिश्तेदार के यहाँ ठहर गयी थीं और क्योंकि परमार्थी ने उस रिश्तेदार के पास उनका अधिक देर तक ठहरना ठीक नहीं समझा था, इसलिए उसने उन्हें अपने पास बुलवा लिया था। परमार्थी अपने साथ सिवा उस फूले

हुए बैग के कुछ न लाया था। सर्दियों के दिन थे, इसलिए दोनों कहानीकार एक ही बिस्तर में सोये। जोगेन्द्र सिंह का ख़याल था कि परमार्थी की बीवी बिस्तर ले आयेगी, पर जब वह केवल एक कम्बल लायी, जो उन माँ-बेटी के लिए भी नाकाफ़ी था, तो जोगेन्द्र सिंह ने पूर्ववत् परमार्थी के साथ एक ही लिहाफ़ में सोते रहने का निश्चय कर लिया और अपने इस फ़ैसले पर गर्व भी महसूस किया।

पहले चार दिन बड़ी दिलचस्प बातों में बीते। परमार्थी से अपनी कहानियों की तारीफ़ सुनकर जोगेन्द्र बहुत ख़ुश होता रहा। उसने अपनी एक कहानी, जो अप्रकाशित थी, परमार्थी को सुनायी, जिसकी परमार्थी ने बड़ी प्रशंसा की। दो अपूर्ण कहानियाँ भी सुनायीं जिनके बारे में परमार्थी ने अच्छी राय ज़ाहिर की। प्रगतिशील साहित्य पर वाद-विवाद भी होते रहे। विभिन्न कहानीकारों की कला के दोष निकाले गये। नयी और पुरानी शायरी का मुक़ाबिला किया गया। सारांश यह कि ये चार दिन बड़ी अच्छी तरह कटे और जोगेन्द्र सिंह हरेन्द्र परमार्थी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुआ। उसकी बात-चीत का ढंग, जिसमें एक ही समय में बचपन और बुढ़ापा था, जोगेन्द्र को बहुत पसन्द आया। उसकी लम्बी दाढ़ी, जो उसकी अपनी दाढ़ी से बीस गुना बड़ी थी, उसके विचारों पर छा गयी और उसके बालों की लम्बी-लम्बी लटें, जिनमें देहाती गीतों का प्रवाह था, हर समय उसकी आँखों के सामने रहने लगीं। डाकख़ाने में चिट्ठियों की देख-भाल करने के दौरान में भी परमार्थी के सिर की वे काली-काली लम्बी लटें उसे न भूलतीं।

चार दिन में परमार्थी ने जोगेन्द्र सिंह को मोह लिया। वह उसका भक्त हो गया। उसकी टेढ़ी आँख में भी उसको ख़ूबसूरती नज़र आने लगी, बल्कि एक बार तो उसने सोचा, अगर उसकी आँख में टेढ़ापन न होता तो उसके चेहरे पर यह महात्मापन कभी न पैदा होता।

परमार्थी के मोटे-मोटे ओठ अब उसकी घनी-मूँछों के पीछे हिलते तो जोगेन्द्र ऐसा अनुभव करता कि झाड़ियों में पक्षी चहक रहे हैं।

परमार्थी हौले-हौले बोलता था और बोलते-बोलते जब वह अपनी लम्बी दाढ़ी पर हाथ फेरता तो जोगेन्द्र के दिल को बड़ा सुख मिलता । वह समझता था कि उसके अपने दिल पर प्यार से हाथ फेरा जा रहा है ।

चार दिन तक जोगेन्द्र ऐसी फ़िज़ा में रहा, जिसको अगर वह अपनी किसी कहानी में भी बयान करना चाहता तो न कर सकता। लेकिन पाँचवें दिन एकाएकी परमार्थी ने अपना चमड़े का थैला खोला और उसको अपनी कहानियाँ सुनानी शुरू कीं और दस दिन तक लगातार वह उसको अपनी कहानियाँ सुनाता रहा। इस बीच में परमार्थी ने जोगेन्द्र को कई किताबें सुना दीं।

जोगेन्द्र सिंह तंग आ गया। अब उसको कहानियों से नफ़रत पैदा हो गयी । परमार्थी का चमड़े का थैला, जिसका पेट बनिये की तोंद की तरह फूला हुआ था, उसके लिए एक स्थायी यन्त्रणा की वस्तु बन गया । रोज़ शाम को दफ़्तर से लौटते हुए उसे इस बात का खटका रहने लगा कि कमरे में दाखिल होते ही उसकी परमार्थी से भेंट होगी, इधर-उधर की कुछ सरसरी बातें होंगी, वह चमड़े का थैला खुलेगा और उसको एक या दो लम्बी कहानियाँ सुना दी जायँगी ।

जोगेन्द्र सिंह प्रगतिशील था। यह प्रगतिशीलता अगर उसके अन्दर न होती तो वह साफ़ शब्दों में परमार्थी से कह देता—बस परमार्थी जी बस। मुझमें अब आपकी कहानियाँ सुनने की शक्ति नहीं रही। पर वह सोचता—नहीं नहीं, मैं प्रगतिशील हूँ। मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए। .दरअसल यह मेरी कमज़ोरी है कि अब उनकी कहानियाँ मुझे अच्छी नहीं लगतीं। उनमें ज़रूर कोई-न-कोई गुण होगा. . .इसलिए कि उनकी पहली कहानियाँ मुझे ख़ूबियों से भरी दिखती थीं। . . .मैं. . .मैं. . .पक्षपात करने लगा हूँ ।

एक हफ़्ते से अधिक समय तक जोगेन्द्र सिंह के प्रगतिशील दिमाग़ में यह कशमकश चलती रही और वह सोच-सोच कर हद तक पहुँच गया जहाँ

सोच-विचार हो ही नहीं सकता। तरह-तरह के ख़याल उसके दिमाग़ में आते, पर वह ठीक तौर से उनकी जाँच-पड़ताल न कर सकता। उसकी मानसिक अफ़रातफ़री धीरे-धीरे बढ़ती गयी और वह ऐसा महसूस करने लगा कि एक बहुत बड़ा घर है, जिसमें अनगिनत खिड़कियाँ हैं। उस मकान के अन्दर वह अकेला है। आँधी आ गयी है, कभी इस खिड़की के पट बजते हैं, कभी उस खिड़की के और उसकी समझ में नहीं आता, वह इतनी खिड़कियों को एकदम कैसे बन्द करे।

जब परमार्थी को उसके घर आये बीस दिन हो गये तो उसे बेचैनी महसूस होने लगी। परमार्थी अब शाम को नयी कहानी लिखकर जब उसे सुनाता तो जोगेन्द्र को ऐसा लगता कि बहुत-सी मक्खियाँ उसके कानों के पास भनभना रही हैं। वह किसी और ही सोच में डूबा होता।

एक दिन परमार्थी ने जब उसको अपनी ताज़ा कहानी सुनायी, जिसमें किसी स्त्री और पुरुष के यौन-सम्बन्धों की चर्चा थी तो यह सोचकर उसके दिल को धक्का-सा लगा कि पूरे इक्कीस दिन अपनी पत्नी के पास सोने के बदले वह एक लमदढ़ियल के साथ एक ही लिहाफ़ में सोता रहा है। इस ख़याल ने जोगेन्द्र के दिल और दिमाग़ में क्षण भर के लिए हलचल-सी पैदा कर दी। 'यह कैसा मेहमान है जो जोंक की तरह चिमटकर रह गया है, यहाँ से हिलने का नाम ही नहीं लेता...और...और...मैं उनकी श्रीमती जी को तो भूल ही गया था। और उनकी बच्ची...सारा घर उठकर चला आया है। ज़रा सा भी ख़याल नहीं कि एक ग़रीब आदमी का कचूमर निकल जायेगा...मैं डाकख़ाने में नौकर हूँ, सिर्फ़ पचास रुपये महीना कमाता हूँ। आख़िर कब तक उनकी आवभगत करता रहूँगा। और फिर कहानियाँ...उसकी कहानियाँ जो कि ख़त्म होने में ही नहीं आतीं। मैं इंसान हूँ कोई लोहे का ट्रंक नहीं, जो हर रोज़ उसकी कहानियाँ सुनता रहूँ...और कैसा गज़ब कि इतने दिनों मैं अपनी पत्नी के पास तक नहीं गया...सर्दियों की यह रातें बेकार हो रही हैं।'

इक्कीस दिनों के बाद जोगेन्द्र सिंह परमार्थी को एक नयी रोशनी में

देखने लगा। अब उसको परमार्थी की हर चीज़ में ऐब नज़र आने लगा। उसकी टेढ़ी आँख, जिसमें जोगेन्द्र पहले सुन्दरता देखता था, अब सिर्फ़ एक टेढ़ी आँख थी। उसकी काली लटों में भी अब जोगेन्द्र को वह कोमलता नहीं दिखती थी, और उसकी दाढ़ी देखकर अब वह सोचता था कि इतनी लम्बी दाढ़ी रखना बहुत बड़ी मूर्खता है।

जब परमार्थी को उसके यहाँ आये पच्चीस दिन हो गये तो उसकी मनोदशा विचित्र-सी हो गयी। वह अपने आप को अजनबी समझने लगा। उसे ऐसा महसूस होने लगा कि जैसे वह कभी जोगेन्द्र सिंह को जानता था, पर अब नहीं जानता। अपनी पत्नी के बारे में वह सोचता—जब परमार्थी चला जायेगा और सब ठीक हो जायेगा तो मेरी नये सिरे से शादी होगी... मेरी वह पुरानी ज़िन्दगी, जिसको टाट की तरह ये लोग इस्तेमाल कर रहे हैं, लौट आयेगी...मैं फिर अपनी पत्नी के साथ सो सकूँगा...और...

इसके आगे जब जोगेन्द्र सिंह सोचता तो उसकी आँखों में आँसू आ जाते और उसके गले में कोई कड़वी-सी चीज़ फँस जाती। उसका जी चाहता कि दौड़ा-दौड़ा अन्दर जाय और अमृतकौर को, जो कभी उसकी पत्नी हुआ करती थी, अपने गले से लगा ले और रोना शुरू कर दे। पर ऐसा करने की उसमें हिम्मत नहीं थी, क्योंकि वह प्रगतिशील कथाकार था।

कभी-कभी जोगेन्द्र सिंह के दिल में यह ख़याल दूध के उबाल की तरह उठता कि प्रगतिशीलता की जो रज़ाई उसने ओढ़ रखी है, उतार फेंके और चिल्लाना शुरू करदे—परमार्थी, प्रगतिशीलता की ऐसी की तैसी। तुम और तुम्हारे इकट्ठे किये हुए गीत बकवास हैं। मुझे अपनी बीवी चाहिए... तुम्हारी सारी इच्छाएँ तो गीतों में जज़्ब हो चुकी हैं, मगर मैं अभी नौजवान हूँ...मेरी हालत पर रहम करो।...ज़रा सोचो तो, मैं जो एक मिनट अपनी बीवी के बिना नहीं रह सकता था, पचीस दिनों से तुम्हारे साथ एक ही रज़ाई में सो रहा हूँ...क्या यह ज़ुल्म नहीं ?

जोगेन्द्र सिंह बस खौल के रह जाता। परमार्थी उसकी दशा से बेख़बर हर रोज़ शाम को एक नयी कहानी उसे सुना देता और उसके साथ रज़ाई

में सो जाता। जब एक महीना बीत गया तो जोगेन्द्र सिंह के धैर्य का बाँध टूट गया। मौक़ा पाकर बाथरूम में वह अपनी पत्नी से मिला—धड़कते हुए दिल के साथ, इस डर के मारे कि परमार्थी की पत्नी न आ जाये, उसने जल्दी से उसका यों चुम्बन लिया जैसे डाकख़ाने में चिट्ठियों पर मोहर लगायी जाती है और कहा—"आज रात तुम जागती रहना। मैं परमार्थी से यह कहकर बाहर जा रहा हूँ कि रात के ढाई बजे वापस आऊँगा। लेकिन मैं जल्दी आ जाऊँगा, बारह बजे...पूरे बारह बजे। मैं हौले-हौले दस्तक दूँगा। तुम चुपके से दरवाज़ा खोल देना और फिर हम... ड्योढ़ी बिलकुल अलग-अलग है। लेकिन तुम सावधानी के तौर पर वह दरवाज़ा, जो बाथरूम की तरफ़ खुलता है, बन्द कर देना।"

पत्नी को अच्छी तरह समझाकर वह परमार्थी से मिला और उससे विदा होकर चला गया। बारह बजने में चार सर्द घंटे बाक़ी थे, जिनमें से दो जोगेन्द्र सिंह ने अपनी साइकिल पर इधर-उधर घूमने में काटे। उसको सर्दी के तीखेपन का बिलकुल एहसास न हुआ इसलिए कि पत्नी से मिलने का ख़याल क़ाफ़ी गर्म था।

दो घंटे साइकिल पर घूमने के बाद वह अपने मकान के पास मैदान में बैठ गया और महसूस करने लगा कि वह रूमानी हो गया है। जब उसने सर्द रात की धुँधियाली ख़ामोशी का ख़याल किया तो उसे यह एक जानी-पहचानी चीज़ मालूम हुई। ऊपर ठिठुरे हुए आकाश पर तारे चमक रहे थे, जैसे पानी की मोटी-मोटी बूँदें जमकर मोती बन गयी हों। कभी-कभी रेलवे इंजन की चीख़ ख़ामोशी को छेड़ देती और जोगेन्द्र सिंह का कहानीकार दिमाग़ यह सोचता कि ख़ामोशी बर्फ़ का बहुत बड़ा ढेला है और सीटी की आवाज़ कील है जो उसकी छाती में धँस गयी है।

बहुत देर तक जोगेन्द्र एक नये क़िस्म के रूमान को अपने दिल और दिमाग़ में फैलाता रहा और रात की अँधियाली सुन्दरताओं को गिनता रहा। सहसा इन विचारों से चौंककर उसने घड़ी में समय देखा तो बारह बजने में दो मिनट बाकी थे। उठकर उसने घर का रुख़ किया और दरवाज़े

पर हौले से दस्तक दी। पाँच सेकेंड बीत गये। दरवाज़ा नहीं खुला।

एक बार फिर उसने दस्तक दी।

दरवाज़ा खुला। जोगेन्द्र सिंह ने हौले से कहा—"अम्बो. . . !" और जब नज़रें उठाकर उसने देखा तो अमृतकौर की जगह परमार्थी खड़ा था। अँधेरे में जोगेन्द्र सिंह को ऐसा मालूम हुआ कि परमार्थी की दाढ़ी इतनी लम्बी हो गयी है कि ज़मीन को छू रही है। उसको फिर परमार्थी की आवाज़ सुनायी दी—"तुम जल्दी आ गये. . . चलो यह भी अच्छा हुआ. . . ! मैंने अभी-अभी एक कहानी ख़त्म की है. . . आओ सुनो।"

●

# नये देवता

गाजर के गर्म हलवे की खुशबू से सारा कमरा महक उठा था और यदि किसी दावत की सबसे बड़ी खूबी यही हैं कि हर खाना बड़े सलीके से तैयार किया जाय और मामूली-से-मामूली चीज़ में भी एक नया ही ज़ायका पैदा कर दिया जाय तो निस्सन्देह दिल्ली की वह दॉवत मुझे सदा याद रहेगी।

इतनी भी क्या ख़ुशी है, मैं सोच रहा था, इतना तो नफ़ासत हसन पहले भी कमा लेता होगा। डेढ़ सौ रुपये के लिए उसने अपनी आज़ादी बेच दी और अब ख़ुश हो रहा है। वह तो शुरू से बाग़ियाना तबीयत का आदमी मशहूर है। उसकी कहानियाँ प्रगतिशील साहित्य में विशेष स्थान पाती रही हैं। फिर यह नौकरी उसने कैसे कर ली! ग़रीबों पर ज़ुल्म ढाये जाते हैं, ज़िन्दगी की हतक की जाती है, सरमायादार मकड़ी की तरह बराबर अपना जाला बुनते रहते हैं और ग़रीब किसान-मज़दूर आप-से-आप इस जाले में फँसते चले जाते हैं—इन विचारों का मालिक आज ख़ुद मक्खी की

तरह इस जाले में फँस गया और इस ख़ुशी में यार-दोस्तों को दॉवत दे रहा है। पर मैंने अपने विचारों का असर अपने चेहरे पर ज़ाहिर न होने दिया।

दॉवत में कई लेखक सम्मिलित थे। मैं सोचने लगा—हिन्दुस्तान की आज़ादी के सम्बन्ध में इन हैट पहनने वाले लेखकों से अधिक सहायता की आशा न रखनी चाहिए। ब्राउनिंग का विचार—'कुछ चाँदी के सिक्कों के बदले में वह हमें छोड़ गया।' मेरी कल्पना में फैलता चला गया। इन प्रतिक्रियावादियों को यह गुमान कैसे हो गया कि वे प्रगतिशील साहित्य की चर्चा करके सुनने वालों की आँखों में धूल डाल सकते हैं? कहाँ आज़ादी का वास्तविक आदर्श, और कहाँ यह चाँदी की ग़ुलामी! नफ़ासत हसन के गोरे चेहरे पर हँसी नाच रही थी। सच पूछो तो यह हँसी मुझे बड़ी भयानक दिखायी देती थी।

गाजर का हलवा सचमुच बहुत स्वादिष्ट था और मेरे विचारों पर छा रहा था। चुम्बक इतना समीप हो और लोहे के कण खिचे न चले आयें, यह कैसे हो सकता है? यदि यह हलवा न होता तो मैंने नफ़ासत हसन को और भी अधिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण से देखा होता।

बहुतों के नामों से मैं अपरिचित था (यह और बात है कि कई चेहरे मेरे लिए नये न थे।) विशेष रूप से मौलाना नूर हसन आरज़ू को तो इससे पहले कभी फ़ोटो में भी न देखा था। उनकी आवाज़ मुझे बहुत प्यारी लगी। शीघ्र ही मैंने उनकी प्रतिभा का लोहा मान लिया। यह अनुभव होते देर न लगी कि उन्हें ऐसी-ऐसी युक्तियाँ याद हैं कि अवसर आने पर वे अपने प्रतिद्वन्द्वी को घास के तिनके के समान अपने पथ से उड़ा दें। आयु से वे कोई वृद्ध न थे, अधेड़ ही थे। पर नये युग से इतना ही सम्बन्ध रखते थे कि सरकारी नौकरी के कारण पाजामे और शेरवानी से मुँह मोड़कर अँग्रेजी फ़ैशन का सूट पहनना उन्होंने शुरू कर दिया था।

बर्फ़ में लगी हुई गँडेरियों के ढेर पर सब लेखक बढ़-बढ़कर हाथ मार रहे थे। जैसे ही गँडेरी का गुलाब में बसा हुआ रस गले से नीचे उतरता, मौलाना आरज़ू की आँखों में एक नयी ही चमक आ जाती।

नफ़ासत हसन कह रहा था—"ये गँडेरियाँ तो खास तौर पर मौलाना ही के लिए मँगवायी गयी हैं।"

"खूब!" मौलाना बोले—"और गाजर का हलवा भी शायद मेरे ही लिए बनवाया गया था।"

"जी हाँ!"

नफ़ासत हसन की बेबाक निगाहें मौलाना की शोख़ आँखों में गड़कर रह गयीं। कुछ लोगों का विचार था कि उसे अपने विभाग में नौकरी दिलाने में मौलाना का बहुत हाथ था, पर स्वयं नफ़ासत हसन ऐसा आदमी न था कि कल्पना में भी किसी का आभार मान सकता। उसका विचार था कि स्वयं समय की करवट के कारण ही वह इस नौकरी को प्राप्त कर सका है। और गाजर का स्वादिष्ट हलवा और गुलाब में बसी हुई गँडेरियाँ किसी मौलाना का एहसान उतारने के ख़याल से पेश नहीं की गयीं।

मौलाना इधर बहुत मोटे हो गये थे और वे हैरान थे कि हिन्दुस्तान के सबसे बड़े शहर में लगातार कई बरस गुज़ारने के बाद भी नफ़ासत हसन ने अपनी बैठक में एक-आध बड़ी कुर्सी रखने की आवश्यकता क्यों महसूस न की थी। अब तक बढ़इयों ने बड़ी-बड़ी कुर्सियाँ बनाना बिलकुल छोड़ तो नहीं दिया। यह और बात है कि नये ज़माने के लोग अब कभी इतने मोटे न हुआ करेंगे। अपनी गोल-गोल घूमती हुई आँखें उन्होंने मेरी तरफ़ फेरीं और मैंने देखा कि उनमें ग़रूर और ग़म गले मिल रहे हैं और वे बीते वक़्तों को वापस आता देखने के लिए बेक़रार हो रहे हैं।

धीरे-धीरे महफ़िल छिदरी होती गयी। नये मित्र यह विचार लेकर लौटे कि नफ़ासत हसन एक आनन्दप्रिय और मित्रों के काम आने वाला आदमी है, यह अलग बात है कि वह रस्मी शिष्टाचार में नहीं पड़ता। है भी ठीक—मित्रता होनी चाहिए स्वतन्त्र कविता-सी—तुक और छन्द के बन्धन से मुक्त!

मौलाना बराबर जमे हुए थे। मुझसे पूछने लगे, "साहब,, सॉमरसेट मॉम का मुताला किया है आपने?"

उन्होंने यह बात इस लहजे में पूछी थी कि मुझे गोलमोल जवाब पर उतरना पड़ा—"साहब, कहाँ तक मुताला किया जाय। अनगिनत पुस्तकें हैं और अनगिनत लेखक। अब मैं सॉमरसेट मॉम का ध्यान रखूँगा।"

"तो यह कहिए न कि आपने सॉमरसेट मॉम की कोई किताब नहीं पढ़ी।"

अब मैं समझा कि सॉमरसेट मॉम कोई लेखक हैं। मैंने झेंपते हुए कहा—"जी हाँ, यही समझ लीजिए।"

"तो इसका यही मतलब हुआ न कि आपने योंही उमर ज़ाया की।"

इस पर नफ़ासत हसन बिगड़ उठा। गर्मागर्म बहस छिड़ गयी। पता चला कि मौलाना ने नफ़ासत हसन के लिए सॉमरसेट मॉम की चर्चा की थी। एक दिन स्वयं नफ़ासत हसन ने यही प्रश्न मौलाना से किया था और जब उन्होंने मेरी तरह बात टालनी चाही तो वह कह उठा था, 'तो इसका यही मतलब हुआ न कि आपने अब तक यों ही उमर ज़ाया की।'

इधर मौलाना ने अंग्रेज़ी साहित्य में प्रवेश कर लिया था, पर नफ़ासत हसन अब तक यही समझता था कि यह केवल एक दिखावा है और अंग्रेज़ी साहित्य की नयी प्रवृत्तियों से उन्हें कोई लगाव नहीं है। जब भी वह उनके हाथ में कोई अंग्रेज़ी पुस्तक देखता, उसके मन में व्यंग्य जाग उठता, जैसे साँप के सिर में ज़हर जाग उठता है। इस दिखावे की आखिर क्या ज़रूरत है? बेहूदा दिखावा! नया रंग तो सफ़ेद कपड़े पर ही ठीक चढ़ता है। मौलाना बड़ी सरल और प्रभावमयी भाषा में कविता लिखते थे। लेख भी लिखते थे। कहानी के क्षेत्र में उन्होंने कोई यत्न न किया था। हाँ, जब कोई घटना सुनाते तो यही गुमान होता कि कोई कहानी जन्म ले रही है। और यदि उस समय कोई आदमी उनकी प्रशंसा कर देता तो ख़ाहमख़ाह उनकी आँखों में बहुत ऊँचा उठ जाता। दाद पाकर ही वे दाद दे सकते हों, यह बात न थी। प्रायः वे किसी ऐसे मुआवज़े के बिना ही नवयुवक लेखकों की पीठ ठोंकते रहते थे। उनका यह सरपरस्ताना स्वभाव ही नफ़ासत हसन के समीप वह दोष था, जिसके कारण, जैसा कि उसका

विचार था, न वह पुराने युग का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हुए थे और न नये युग से ही सम्बन्ध जोड़ सके थे।

नफ़ासत हसन जब भी मौलाना के विरुद्ध विष उगलता, मुझे यों लगता कि साहित्य का नया युग अपने से पहले युग का अपमान कर रहा है। यह तो अपना ही अपमान है। ऊपर से इसका घिनौनापन आँख से कितना ही ओझल क्यों न रहे, पर जब यह बात समझ में आ जाती है कि साहित्य एक ऐसी वस्तु है जिसका विकास होता है तो कोई भी लेखक अपना यह व्यवहार जारी नहीं रख सकता।

हाँ, तो सॉमरसेट मॉम वाला व्यंग्य नफ़ासत हसन न सह सका। बोला, "बस, बस, चुप रहिए, इतनी ज़बान न खोलिए।"

नफ़ासत हसन की ज़बान पर रन्दा चलने का गुमान होता था। मौलाना ने थोड़ा घूरकर उसकी ओर देखा और बोला, "इतने गर्म क्यों होते हो मियाँ? उम्र ही में सही, मैं तुम्हारे बाप के बराबर हूँ।"

"बस, बस, यह शफ़कत अपने ही पास रखिए। मुझे नहीं चाहिए यह कमीनी शफ़कत[1]......यह सरपरस्ताना शफ़कत......बड़े आये हैं मेरे बाप...बाप...इतनी ज़बानदराज़ी!"

मौलाना ने अब तक यही समझा था कि वे विनोद की सीमा पर ही खड़े हैं। मामला तो दूसरा ही रंग धारण कर चुका था। उनके चेहरे पर क्रोध की तह चढ़ गयी। बोले, "एक सुसरे सॉमरसेट मॉम की ख़ातिर क्यों मेरी हतक करने पर तुले हो, मियाँ?......कम्बख़्त सॉमरसेट मॉम!"

बात तू-तू, मैं-मैं का रूप धारण कर गयी। मुझे तो यही आशंका हुई कि कहीं दोनों लेखक हाथापाई पर न उतर आयें।

नफ़ासत हसन उस दिन मेज़बान था और घर पर आये हुए मेहमान की शान में हर तरह की ज़बानदराज़ी से उसे परहेज़ करना चाहिए था। फिर यह मेहमान कोई मामूली आदमी न था, उसका एक समकालीन लेखक था।

---

[1] बड़ों का छोटों के प्रति स्नेह।

उम्र में उससे बड़ा और भाषा पर अधिकार की दृष्टि से उससे कहीं बढ़कर। मैं सोचने लगा कि सॉमरसेट मॉम पर नफ़ासत हसन इतना क्यों फ़िदा है? वह भी मौलाना की तरह एक आदमी ही तो है, कोई फ़रिश्ता नहीं है और मैं तो समझता हूँ कि हर लिहाज़ से नफ़ासत हसन के कमरे में पड़ी हुई किसी भी हल्के-भूरे रंग की कुर्सी से मौलाना ज़्यादा कीमती थे। नफ़ासत हसन इतना गर्म क्यों हो गया था? वह शायद अपने मेहमान को कुर्सी से उठा देना चाहता था। यह ठीक है कि मौलाना का व्यंग्य ज़रा तीखा था, पर था तो आख़िर यह व्यंग्य ही और उत्तर इसका अगर व्यंग्य से ही दिया जाता तो यह अशोभन प्रदर्शन तो न हुआ होता।

सॉमरसेट मॉम आख़िर क्या लिखता होगा? क्या उसे अपनी जन्म-भूमि इंग्लिस्तान में भी नफ़ासत हसन जैसा कोई मर-मिटने वाला प्रेमी नसीब हुआ होगा। मुझे यह सन्देह हुआ कि नफ़ासत हसन के बहुत से वाक्य, जिन्हें वह मौक़ा-बेमौक़ा निहायत शान से अपनी बात-चीत और लेखनी में नगीनों की तरह जड़ने में होशियार सुनार बन चुका है, अवश्य विलायत की किसी फ़ैक्ट्री से ढल कर आये हैं, उसकी अपनी रचना हरगिज़ नहीं। मैं सोचने लगा कि सर्वप्रथम कब सॉमरसेट मॉम की लेखनी ने उस पर जादू-सा कर दिया था और क्या यह जादू कभी ख़त्म भी हो सकता है?

एक दिन उसने मुझसे पूछा, "औरत किस वक़्त सुन्दर लगती है?"

मुझे कोई उत्तर न सूझा। मैंने कहा, "आप ही बताइए।"

वह बोला—"हाँ, तो सुनो......जब उसे तीन दिन से बुख़ार आ रहा हो और उसके हाथों की रगें नीली पड़ जायँ तब औरत कितनी सुन्दर लगती है, कितनी सुन्दर!"

मैंने सोचा शायद यह नगीना भी सॉमरसेट मॉम की फ़ैक्ट्री से बनकर आया हो।

मैंने नफ़ासत हसन से कहा, "गुस्सा थूक दो मियाँ। सॉमरसेट मॉम तो एक देवता है।"

वह बोला, "और मैं?"

"आप भी देवता हैं, मियाँ।"

मैंने उसे बताया कि देवताओं में तीन बड़े देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु और शिव। तीनों की अपनी-अपनी विशेषता है, जिसके कारण वे इतने लोकप्रिय बन गये हैं। ब्रह्मा जन्म देता है, विष्णु पालन करता है और शिव ठहरे मृत्यु का नाच नाचने वाले नटराज!

नफ़ासत हसन का ध्यान अब मेरी तरफ खिंच गया। उधर मौलाना की आँखों में भी गुस्सा ठण्डा पड़ गया था और वे मेरी बातों में दिलचस्पी ले रहे थे। मैंने बताया कि हर लेखक विभिन्न अवस्थाओं में ब्रह्मा, विष्णु और शिव होता है। जब वह कोई कृति सृजने में सफल होता है उसे ब्रह्मा कहा जा सकता है। जब वह उस रचना को सम्हालकर रखता है और यथासम्भव उसमें सुधार भी करता है, उस समय वह विष्णु के सदृश होता है और जब वह अपने ही हाथ से किसी रचना के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है तो वह शत-प्रतिशत शिव का रूप धारण कर लेता है।

मौलाना बोले, "बहुत खूब! आपकी कल्पना धन्य है!"

मैंने झट से कह दिया, "मेरी कल्पना! नहीं, मौलाना, नहीं। यह मेरी कल्पना नहीं। मतलब यह कि यह मेरा मौलिक विचार नहीं।"

"तो किसका ख़याल पेश कर रहे हैं आप?"

"बम्बई की पी० ई० एन० सोसायटी में बुलबुले-हिन्द श्रीमती सरोजिनी नायडू ने मेरे एक भाषण पर सदारत करते हुए यह विचार पेश किया था।"

"बहुत, खूब! बुलबुले-हिन्द ने आपके भाषण पर सदारत की थी! हाँ, तो अब कोई मौलिक विचार हो जाय ज़रा!"

"मौलिक! मौलिक की भी ख़ूब कही। मुझे तो सिरे से यही शक हो रहा है कि मौलिक नाम की कोई चीज़ होती भी है या नहीं।"

नफ़ासत हसन बौखलाया," क्या कह रहे हो, मियाँ? सुनिए मैं एक ख़याल पेश करता हूँ—जैसे ही भोर की पहली किरण आँखें मलती हुई धरती पर उतरी, पास की कच्ची दीवार अँगड़ाई ले रही थी।"

मौलाना ने कहा—"दीवार अँगड़ाई ले रही थी?"

मैंने बीच-बचाव करते हुए कहा, "इस समय नफ़ासत हसन एक ब्रह्मा हैं, मौलाना!"

"ब्रह्मा!"

"जी हाँ, ब्रह्मा, और न जाने कब तक वह विष्णु बना यह ख़याल सम्हालकर रखेगा और फिर जाने कब स्वयं अपने ही हाथों इस ख़याल का गला घोंट डालेगा। उसे स्वयं अपनी रचना पर हँसी आयेगी—केवल हँसी—यदि यह विचार उसका शत-प्रतिशत मौलिक विचार नहीं है, और पूरी-पूरी शर्म, यदि यह सचमुच उसका शत-प्रतिशत मौलिक विचार है।"

नफ़ासत हसन चाहता तो झट मेरे विचार का प्रतिवाद कर देता, पर वह चुप बैठा रहा। शायद वह कुछ झेंप-सा गया था और अपने हीन-भाव को छिपाने का यत्न कर रहा था।

मौलाना बोले, "ब्रह्मा, विष्णु और शिव के बारे में आज मैं कुछ और भी सुनना चाहता हूँ।"

मैंने कहा—"सुनिए विष्णु और शिव के हज़ारों मन्दिर हैं और ब्रह्मा का एक भी मन्दिर नहीं है कहीं।"

"ब्रह्मा का एक भी मन्दिर नहीं?"

"जी नहीं! सुनिए तो, बड़ी दिलचस्प कहानी है। एक बार विष्णु और ब्रह्मा में यह मुक़ाबिला हो गया कि कौन पहले शिवलिंग की गहराई और ऊँचाई का पता लगा सकता है। विष्णु जड़ की तरफ़ चल पड़े और ब्रह्मा चोटी की तरफ़। ब्रह्मा ऊपर चढ़ते गये पर शिवलिंग की चोटी कहीं नज़र न आयी। ऊपर से एक चमेली का फूल गिरता आ रहा था। ब्रह्मा ने पूछा किधर से आना हुआ!

फूल बोला, "शिवलिंग की चोटी से!"

ब्रह्मा ने पूछा, "कितनी दूर है वह चोटी?"

फूल ने कहा, "दूर—बहुत दूर!"

ब्रह्मा चमेली के फूल के साथ पीछे को हो लिये। रास्ते में उन्होंने इस फूल को इतना-सा झूठ बोलने के लिए राज़ी कर लिया कि वह विष्णु के सामने यह कह दे कि वे दोनों ख़ास शिवलिंग की चोटी से आ रहे हैं। पर शिव तो ठहरे अन्तर्यामी, ब्रह्मा और चमेली को बड़ी भारी सज़ा दी गयी—"रहती दुनिया तक ब्रह्मा का कहीं मन्दिर न बनेगा और चमेली किसी मन्दिर में पूजा में न चढ़ायी जायगी !"

नफ़ासत हसन बोला, "पर यह तो नया ज़माना है। अब तो शायद ब्रह्मा का मन्दिर बन जाय कहीं और मेरा यक़ीन है, अगर ब्रह्मा पर कोई फूल चढ़ेगा तो वह चमेली का फूल ही होगा।"

नफ़ासत हसन ने उस समय यही सोचा होगा कि यद्यपि अब तक वह स्वयं एक ब्रह्मा ही है, क्योंकि उसके प्रकाशक ने उसकी कहानियों का बृहद् संग्रह प्रकाशित करने से अभी तक संकोच ही किया है। पर जैसे ही यह पुस्तक प्रकाशित होगी, उसकी ख्याति के वास्तविक मन्दिर का निर्माण होते देर न लगेगी और इस मन्दिर में चमेली के ही फूल उस पर चढ़ाये जाया करेंगे।

अपने सम्बन्ध में इस तरह की गलतफ़हमी रखने में उसके दो-चार गहरे दोस्तों का ही हाथ था। उनका विचार था कि उषा के घूँघट खोलने से पहले की सारी कालिमा और लालिमा, अँधियारे और उजियाले की काना-फूसियाँ, उसके स्वभाव में उल्लेखनीय हैं और यदि वह आरम्भ में रूसी कहानियों के अनुवाद में अपनी उठती जवानी का ज़ोर लगाने के स्थान पर मौलिक कहानियाँ लिखने की ओर अग्रसर हुआ होता तो आज उसका नाम प्रथम कोटि के प्रगतिशील कहानी-लेखकों में गिना जाता। उनका यह भी ख़याल था कि अब भी गिरे हुए बेरों का कुछ नहीं बिगड़ा यदि यह शत-प्रतिशत प्रगतिशील कहानी-लेखक शत-प्रतिशत तिकड़मबाज भी होता गया तो वह निस्सन्देह हिन्दुस्तान भर के कहानी-साहित्य की चोटी पर नज़र आयगा।

एक बार मित्रों ने उसे बताया कि वह बड़ा स्पष्टवादी है और सपनों में भी यह विचार उसका पीछा करने लगा कि निस्सन्देह वह बड़ा स्पष्टवादी

है। यही वह गुण है जो शत-प्रतिशत मौलिक कहानी-लेखक को जीवन के अध्ययन में वास्तविक सहायता दे सकता है। जब इस नौकरी के लिए उसने प्रार्थना-पत्र भेजा तो उससे पूछा गया कि उसने किस विषय में अपना ज्ञान चरम-सीमा तक पहुँचाया है। निस्संकोच उसने लिख भेजा—"मैंने अपने जीवन का अधिकतर समय वेश्याओं का अध्ययन करने में गुज़ार दिया है।" यद्यपि इस स्पष्टवादिता से कहीं अधिक एक सिफ़ारिश ने ही उसे यह नौकरी दिलाने में मदद दी थी, पर वह नये मिलने वालों के सम्मुख अपनी इस स्पष्टवादिता की चर्चा किया करता था। स्पष्टवादिता—शत-प्रतिशत स्पष्टवादिता ! मैंने सोचा शायद इस स्पष्टवादिता की सीमा ने घर की दीवारों तक पैर न फैलाये होंगे। घर में आकर तो प्राय: बड़े-बड़े प्रगतिशील लेखक भी भीगी बिल्ली बनने पर मजबूर हो जाते हैं।

यह ठीक है कि उसकी प्रगतिशीलता बहुत हद तक नग्न वासना की चर्चा से घिरी रहती थी, पर कुछ समय से उसके मन में यह वहम समा गया था कि वह किसी भी जीवित या निर्जीव वस्तु के चारों ओर अपनी कहानी को घुमा सकता है। अपनी एक कहानी में उसने एक पत्थर की गाथा प्रस्तुत की थी, जो एकाएक किसी अविवाहिता के उठते-मचलते उरोज से टकराने के लिए व्याकुल हो उठा था। आदमी बदस्तूर आदमी है, पर पत्थर अब पत्थर ही नहीं है। यह बात उसने बड़ी गहराई से लिखी थी। मनोविज्ञान की सीमाएँ अब सिकुड़ी न रहेंगी, पत्थर अब पत्थर ही नहीं है, न बिजली का खम्भा बिजली का खम्भा ही। वह चाहता तो अपने सिगरेट केस में भी दिल डाल देता और इसके गिर्द मनोविज्ञान का बारीक जाल बुन देता।

उसकी भाषा न बहुत कठिन थी, न बहुत आसान। यहाँ-वहाँ नयी-नयी उपमाएँ भी हाज़िर रहती थीं। अभी उसे किसी का फूला हुआ थैला देखकर गर्भवती के पेट का ध्यान आ गया, अभी किसी की मानसिक दुर्बलता उस कन्या-सी नज़र आयी जो आँधी में अपनी साड़ी न सम्हाल पा रही हो। किसी के बोल सोडे के बुलबुले थे तो किसी की नाक चीनी की प्याली की ठूँठनी-सी।

शाम हो चली थी। नफ़ासत हसन उठकर खड़ा हो गया और अपनी उँगलियों से बालों में कंघी करता हुआ छज्जे पर आ गया। निकलसन रोड पर समीप के टेलर मास्टर की दुकान में बिजली के कुमकुमे रोशन हो चुके थे। छज्जे पर खड़ा-खड़ा नफ़ासत हसन बोला, "मौलाना ! चलो, लगे हाथों सरदारजी से ही मिलते आयें।"

मैं हैरानी से अपनी सीट में दुबका बैठा था। मैंने सोचा यह सरदारजी कौन हैं, जिनसे मिलने के लिए नफ़ासत हसन इतना उत्सुक नज़र आता है। फिर मुझे ध्यान आया कि वह केवल अपने 'विभिन्नता के लिए विभिन्नता' के दृष्टिकोण के अनुसार ही मुझसे भी किसी लम्बी दाढ़ी वाले व्यक्ति से मिलना चाहता है। यद्यपि स्वयं उसके चेहरे पर दाढ़ी तो दाढ़ी, मूँछ तक का चिन्ह हर दूसरे-तीसरे दिन मिटा डाला जाता था। इससे पहले भी उसने एक लेखक की मूँछों को केवल इसलिए पसन्द किया था कि ये मूँछें मौलाना को नापसन्द थीं। मुझे विश्वास था कि यदि मौलाना ने उन मूँछों की प्रशंसा में एक-आध बात कह दी होती तो वह झट कह उठता, 'मौलाना ! आपकी अंधाधुंध, पसन्द की तो हद हो चुकी है। लाहौल विला कुव्वत ! आपने भी ख़ूब आदमियों में आदमी चुना !'

ये सरदारजी कौन हैं ? यह प्रश्न मेरे मन में फैलता चला गया। उनसे परिचित होने की इच्छा देखकर नफ़ासत हसन ने मुझे भी साथ ले लिया। वह एक विचित्र मस्ती की अवस्था में सीढ़ियों से उतर रहा था। अपने पैरों को वह ज़रूरत से अधिक ज़ोर से फ़ेंकता था और फट-फट की आवाज़ से शोर पैदा करता हुआ पड़ोसियों के आराम में विघ्न डाल रहा था। इस प्रकार की हरकत को वह आज़ादी समझता था और वह इसे किसी भी मूल्य पर देने को तैयार न था।

एक बड़े लम्बे-चौड़े बाजार में घूमते-घामते हम आख़िर सरदारजी की दुकान में पहुँच गये। पता चला कि नफ़ासत हसन इस्म-बा-मुसम्मा है[1]?

---

[1] यथा नामा यथा गुणाः

क्योंकि शराब की दुकान, जहाँ उसने सरदारजी से भेंट करने का समय निश्चित किया था, सख़्त बदबूदार जगह थी। मेज़ पर संगमरमर की सिलों पर सोडा और ह्विस्की जमी हुई थी और हमारी सीट के समीप ही टूटे हुए कुल्हड़ों का अम्बार लग रहा था। बगल में एक अधेड़ उम्र का आदमी अपनी टाँगें एक टूटी सी अलमारी के ऊपर टिकाये अपना मुँह पूरी तरह खोले बेहोश पड़ा था। कुल्हड़ों के इतना समीप होने के कारण उसका खुला हुआ मुँह स्वयं एक कुल्हड़ सा दिखायी देता था। एक क्षण के लिए मुझे गुमान हुआ कि नफ़ासत हसन इसी व्यक्ति से मिलने आया है, मानो अपने आप से, अपने सुन्दर नाम से न्याय करने आया है। थोड़ी देर के बाद नफ़ासत हसन ने अपनी रूखी आवाज़ से, जिससे हमेशा की तरह ख़ाह-मख़ाह रन्दा चलने का गुमान होता था, पुकारा—"ओ मियाँ जुम्मा! लाओ तो सरदारजी को।"

मियाँ जुम्मा एक झाड़न से बोतल साफ़ कर रहा था। दिन के समय यह इसी झाड़न से सड़क पर से उड़कर आने वाली गर्द को शीशों पर पड़ी हुई पेस्ट्री या कुल्हड़ों के बीच में तने हुए जालों को साफ़ किया करता था। कुछ देर बाद जुम्मा ने ह्विस्की की एक बोतल और सोडे की दो बोतलें मेज़ पर ला रखीं।

सरदारजी के व्यक्तित्व से परिचित होते देर न लगी। पर मैं बदस्तूर कहानियों की दुनिया में घूम रहा था। मैंने यों ही नफ़ासत हसन से पूछ लिया— "आपके अफ़साने तो बहुत जमा हो गये होंगे?"

उस समय तक वह सोडा और ह्विस्की को मिला चुका था। मैंने सरदार- जी से परिचित होने से इनकार कर दिया था, इसलिए उसने और मौलाना ने गिलास टकराये और अपने-अपने मुँह से लगा लिये। वह एक घूँट गले से नीचे उतारते हुए बोला—

"मैं अफ़साने कभी इकट्ठे नहीं करता। मेरे अफ़साने कबूतर के बच्चे

हैं जिन्हें मैं लिखता हूँ और कहता हूँ, 'ओ कबूतर के बच्चो! उड़ जाओ' और वे उड़ जाते हैं।"

इस उपमा की मैंने बहुत प्रशंसा की। सच पूछो तो उस समय मेरे मन में आइनस्टीन के सापेक्षवाद का सिद्धान्त स्पष्ट हो गया था। हर वस्तु से दूसरी वस्तु का कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य है—अफ़साने का कबूतर के बच्चे से, दुश्चरित्र नारी की मुसकान का गन्दी नाली में फूटते हुए बुलबुले से, भोर की पहली किरण का अँगड़ाई लेती दीवार से, नफ़ासत हसन का चर्खे से......

उस समय मैं सोचने लगा—ये उपमाएँ, विचित्र और खींचा-तानी द्वारा प्रस्तुत की हुई उपमाएँ, इस महामहिम लेखक के मस्तिष्क में कहाँ से जन्म लेती हैं। फिर मुझे झट ख़याल आया कि यह तो एक सीधी-सादी सी क्रिया है। स्वयं नफ़ासत हसन ने मुझे बताया था कि उसे कब्ज़ की शिकायत कभी नहीं होती। कुछ लेखक तो सख़्त कब्ज़ के बीमार नज़र आते हैं। बेचारे बहुत ज़ोर लगा कर लिखते हैं। मैंने सोचा इस लिहाज़ से तो नफ़ासत हसन हर रोज़ दूध के साथ अत्रीफल ज़म्मानी[1] खाता है। यही कारण है कि वह पत्थर, बुलबुले, रणधीर पहलवान, पुस्तक, मेज़, कुर्सी, कलम-दावात अर्थात् दुनिया भर की हर चीज़ पर लिखकर इनके संग्रहों के नाम दौड़ो, भागो, रोओ, पीटो रख सकता है।

पर मैं बहुत देर तक इन कहानियों की दुनिया में न रह सका। उस समय तक दोनों साहित्यकार ह्विस्की की बोतल आधी के लगभग ख़त्म कर चुके थे। सहसा उन्हें किस्म-किस्म की शराब को मिलाकर पीने की धुन समायी। चुनाँचे जुम्मा मियाँ ने बहुत सी बोतलों से एक-एक पेग उँडेला और फिर सब को ह्विस्की में उँडेल दिया। उस समय मौलाना शराब में अपने आपको खो चुके थे। शायद उन्होंने इसीलिए नफ़ासत हसन की साहित्यिक प्रवृत्तियों को सराहना चाहा और एक पेग गले से नीचे उतारते हुए उन्होंने

---

[1] एक यूनानी दवा जुलाब

नफ़ासत हसन को एक थपकी दी और बोले, "शाबाश बरख़ुर्दार...
लिखे जाओ!"

नफ़ासत हसन, जो सरदार जी के मकान की फ़िजा से ख़ूब परिचित था और जो बिना बौखलाये बहुत से पेग पी सकता था, बोला, "बस बस मौलाना, यही एक बात है जो मुझे सिरे से नापसन्द है। इस बेहूदा सरपरस्ती की मुझे बिलकुल ज़रूरत नहीं। आपकी तारीफ़ और बुराई की मुझे बिलकुल परवाह नहीं। समझे आप! अगर आपने मेरी कहानियाँ पढ़ीं तो इससे मेरा कुछ सँवर नहीं गया और अगर नहीं पढ़ीं तो कुछ बिगड़ा नहीं।"

मौलाना को इस बेजा बात-चीत से बड़ा आश्चर्य हुआ। अपने मेज़बान के कंधे को थपकते हुए बोले, "बरख़ुर्दार! अगर तुम कहानी लिखने के बदले मिट्टी का तेल भी बेचा करते तो भी मेरे दिल में तुम्हारी ऐसी ही इज़्ज़त होती।"

यो दोनों साहित्यकार तो आपस में गम्भीरता से वार्तालाप कर रहे थे, पर मैं उस वातावरण में बौखला-सा गया। फिर मुझे यों लगा कि ये साहित्यकार मेरी तरह परहेज़गार हैं और शराब वास्तव में मैं पी रहा हूँ।

एक और पेग गले से नीचे उतारने के बाद नफ़ासत हसन ने पापड़ का एक टुकड़ा मुँह में डाला और कहा, "मौलाना! मैं लिखना चाहता हूँ, बहुत कुछ लिखना चाहता हूँ। मेरी कभी किसी चीज़ से तसल्ली नहीं होती...... ।"

और अभी नफ़ासत हसन ने अपनी बात ख़त्म भी न की थी कि मुझे ख़याल आया कि उसकी तसल्ली कैसे हो सकती है, क्योंकि उसके अफ़साने तो कबूतर के बच्चे हैं और जब तक वे कबूतर के बच्चे रहेंगे, फुर्र से नफ़ासत हसन के पास से उड़ जाया करेंगे। आखिर नफ़ासत हसन ने कोई छतनारा भी तो नहीं लगाया ताकि बेचारे उसी पर कभी-कभी आकर बैठ जायें और अपने पिछले मालिक को देख लें। अब वे अनगिनत आवारा आत्माओं की तरह सीमाहीन गगन में पर फड़फड़ाते फिर रहे हैं।

नफ़ासत हसन अपनी बात को जारी रखते हुए बोला, "बस एक चीज़ लिख लूँगा—एक चीज़—तो मेरी तसल्ली हो जायेगी। इस के बाद मैं मर भी जाऊँ तो भी यही समझूँगा कि मैंने ज़िन्दगी में एक बहुत बड़ा काम किया है।"

मौलाना के और मेरे यथार्थ और काल्पनिक नशे हिरन हो गये। हम दोनों का ध्यान उस कहानी का प्लाट सुनने के लिए नफ़ासत हसन के पतले और दुर्बल चेहरे की ओर खिंच गया। नफ़ासत हसन बोला, "मैं उन दिनों बम्बई में रहता था। मेरे मकान का एक दरवाज़ा एक ग़ुसलखाने में खुलता था। उस ग़ुसलखाने के दरवाज़े में एक झिरी थी। बस उसी झिरी में से मैं कुँआरी लड़कियों को नहाते हुए देखता था। अधेड़ उम्र की और बूढ़ी औरतों को भी। इसके अलावा नौजवान मर्द भी नहाने के लिए आया करते थे और जैसा कि आपको मालूम है, इंसान आम ज़िन्दगी में वह हरकतें नहीं करता जो वह ग़ुसलखाने में करता है।"

मैं इस बात को समझ न सका, लेकिन मेरे सामने आइनस्टीन का सापेक्षवाद का सिद्धान्त था, इसलिए मैंने कोई विशेष परवाह न की और सुनता चला गया। नफ़ासत हसन बोला, "बस उस ग़ुसलखाने में नहाने वालियों और नहाने वालों के बारे में लिखकर मर जाऊँ तो मुझे कोई अफ़सोस न होगा। उस कहानी का नाम रखूँगा— एक झिरी में से— और मर जाऊँगा।"

मुझे नफ़ासत हसन की इस हरकत पर बहुत हँसी आयी और मेरा जी चाहने लगा कि यदि मैं इसका संस्मरण लिखकर मर जाऊँ तो मुझे भी ज़िन्दगी में कोई हसरत न रह जायगी।

मौलाना, जो नफ़ासत हसन की इन बेतुकी बातों को बड़े ध्यान से सुन रहे थे, कुछ न बोले। न जाने नफ़ासत हसन के दिल में ख़ुद ही ख़याल आया कि उसने मौलाना का अपमान किया है। वह अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ। चुम्बन के लिए उसने अपना दायाँ गाल मौलाना के सामने पेश कर दिया। मौलाना ने प्रसाद के रूप में एक चुम्बन ले लिया। इस के

बाद नफ़ासत हसन ने बायाँ गाल पेश कर दिया। मौलाना के निकट अब प्रसाद की समस्या नहीं थी, पर उन्होंने चुम्बन ले लिया।

मैं उनकी आपस की लड़ाई की आशा कर रहा था, लेकिन अचानक मौलाना ने उठकर बड़े निश्छल भाव से सीने पर हाथ रखते हुए कहा, "देखो भाई, अब तुम मानोगे, मैं सॉमरसेट मॉम हूँ।"

नफ़ासत हसन ने अपने सीने पर हाथ रखते हुए कहा,"मैं सॉमरसेट मॉम हूँ।"

मौलाना ने कोई प्रतिवाद न किया, बल्कि अपने सीने पर हाथ रखकर बोले "मैं सॉमरसेट मॉम हूँ।"

फिर नफ़ासत हसन की ओर संकेत करते हुए मौलाना बोले, "तुम सॉमरसेट मॉम हो...हम दोनों सॉमरसेट मॉम हैं...जो है सॉमरसेट मॉम है, जो नहीं है, वह भी सॉमरसेट मॉम है......सॉमरसेट मॉम भी सॉमरसेट मॉम है......।"

●

# परिशिष्ट ४

## सआदत हसन मंटो

## खाली बोतल, भरा हुआ दिल

# सआदत हसन मंटो

लाँबा-तिरछा; चपटा; गोरा-गोरा; हाथ की पीठ पर नसें उभरी हुई; कंठ की घंटी बाहर निकली हुई; सूखी टाँगों पर बड़े-बड़े पाँव, लेकिन बेडौल नहीं; स्त्रैणता लिये हुए अजीब-सी नफ़ासत; चेहरे पर झुँझलाहट; आवाज़ में बेचैनी; लिखने में व्याकुलता; व्यवहार में कटुता; चलने में तेज़ी—सआदत हसन मंटो को पहली बार देखकर कुछ इन बातों का एहसास होता है। लेकिन इन बातों के एहसास पर एक दूसरा एहसास हावी हो जाता है—दूसरे ही क्षण—और वह है उसका माथा। मंटो के मस्तक का चौखटा उसके मस्तिष्क की तरह महान है और अजीब-ो-ग़रीब भी! प्राय: प्रतिभाशाली व्यक्तियों की पेशानी का चौखटा उन तस्वीरों से अधिक मिलता-जुलता है जो पश्चिमी चित्रकार शैतान का दिखाते हैं, यानी चौड़ा माथा और बाल कनपटियों के पास से पीछे की तरफ़ ग़ायब होते हुए। मंटो का माथा शैतान से मिलता-जुलता नहीं है। मंटो का माथा आयताकार है, रुपहले पर्दे की तरह, नीचे से कम चौड़ा है और ऊपर से ज्यादा है और बाल सीधे,

लम्बे और घने हैं और आँखों में एक वहशी चमक है, एक बेबाक कठोरता है, एक ऐसी सूझ-बूझ है जैसे मंटो मौत के दरवाज़े के अन्दर झाँककर लौट आया हो। मैंने मंटो से इस सम्बन्ध में कभी नहीं पूछा। सुना है कि वह एक बार टी० बी० या ऐसी ही किसी भयानक बीमारी के चंगुल में फँस गया था—कुछ भी हो, उसकी बड़ी-बड़ी वहशतनाक आँखों का सोज़ और दर्द इस बात की गवाही देता है कि मंटो ज़िन्दगी की मंज़िल से बहुत आगे जाकर वापस आया है। हो सकता है कोई बीमारी न हो, ख़तरनाक इश्क़ रहा हो और हालांकि इश्क़ भी एक बीमारी है। कुछ भी हो, मंटो के लिए यह तजरुबा महँगा नहीं रहा। उस तजरुबे ने मंटो को कुन्दन बना दिया।

मंटो जवाहरलाल और इक़बाल की तरह काश्मीरी पंडित है। अर्से से उसका ख़ानदान अमृतसर में आबाद था। उसके दोनों बड़े भाई हिन्दुस्तान से हिजरत कर चुके हैं। बड़ा भाई केनिया में बैरिस्टर है और वहाँ की विधान-सभा का सदस्य भी है। उनके बड़े भाई को मैंने देखा है। शरई दाढ़ी और बेहद धर्म-भीरु, पारसा और नमाज़ी मुसलमान! मंटो वह सब कुछ है जो उसके बड़े भाई नहीं हैं। वह अपने बुज़ुर्गों की इज़्ज़त करता है, मुहब्बत नहीं। अदब-आदाब में, आचार-व्यवहार में, दृष्टिकोण में दोनों तरफ़ इतना घोर मत-भेद था कि मंटो ने बचपन ही से अपना घर छोड़ दिया था और अपने लिए नया-पथ खोजना शुरू कर दिया था। अलीगढ़, लाहौर, अमृतसर, बम्बई, दिल्ली—इन स्थानों ने मंटो की ज़िन्दगी को कई रंगों में देखा है। रूसी साहित्य का पुजारी मंटो, चीनी साहित्य का प्रेमी मंटो, कटुता और निराशा का शिकार मंटो, गुमनाम मंटो, बदनाम मंटो, भटियारख़ानों, शराबख़ानों और चकलों में जाने वाला मंटो और फिर घरेलू मंटो, मुहब्बत करने वाला मंटो, दोस्तों की मदद करने वाला मंटो, तुर्शी और तल्ख़ी को मिठास में समोने वाला मंटो, उर्दू का सुविख्यात लेखक मंटो—इन स्थानों ने मंटो को हर रंग में देखा है और मंटो ने भी इन स्थानों को ख़ूब देखा है। मंटो ने जीवन के निरीक्षण में अपने आपको एक मोमी शमा की तरह पिघलाया है। वह उर्दू साहित्य का अकेला शंकर है, जिसने ज़िन्दगी के ज़हर

को खुद घोलकर पिया है और फिर उसके स्वाद को, उसके रंग को खोल-खोलकर बयान किया है। लोग बिदकते हैं, डरते हैं, पर उसके निरीक्षण की वास्तविकता और उसके अन्वेषण की सचाई से इनकार नहीं कर सकते। ज़हर खाने से यदि शंकर का गला नीला हो गया था तो मंटो ने भी अपनी सेहत गँवा ली है। उसकी ज़िन्दगी इंजेक्शनों की मोहताज होकर रह गयी है। यह ज़हर मंटो ही पी सकता था। और कोई दूसरा होता तो उसका दिमाग़ चल जाता, पर मंटो के दिमाग़ ने विष को भी पचा लिया है—उन साधुओं की तरह जो पहले गाँजे से शुरू करते हैं और आख़िर में संखिया खाने लगते हैं और साँपों से अपनी ज़बान डसवाते हैं। मंटो के साहित्य तेज़ी-ो-तुन्दी और उसकी ज़बान की नश्तरकारी इस बात की द्योतक हैं कि मंटो की फ़क़ीरी आख़िरी मंज़िल पर पहुँच चुकी है। मंटो से मिलने से पहले मैंने मंटो की कहानियाँ पढ़ी थीं। साप्ताहिक 'मुसव्विर' बम्बई में मंटो की कहानियाँ छपती थीं। ये कहानियाँ इतनी नुकीली थीं, इतने अज़ीब-ो-ग़रीब अन्दाज़ में लिखी गयी थीं, इतनी टेढ़ी थीं कि क़ायल होना पड़ा। 'शोशो', 'ख़ुशिया', 'दिवाली के दिये'—शायद ये कहानियाँ मैंने 'मुसव्विर' ही में पढ़ी थीं और मंटो को उनके सम्बन्ध में तारीफ़ के ख़त भी लिखे थे। उन दिनों मंटो बम्बई में रहता था। साप्ताहिक 'मुसव्विर' का सम्पादन कर रहा था और फ़िल्म 'कीचड़' की कहानी, सिनारियो और सम्वाद भी लिख रहा था। प्रेमचन्द के बाद मंटो पहला साहित्यकार है जो साहित्य से फ़िल्म की ओर झुका, शायद मंटो के लिए यह कहना सही न होगा। इसलिए कि उसकी साहित्यिक ख्याति उसकी फ़िल्मी ज़िन्दगी के बाद शुरू होती है। शायद मंटो वह पहला साहित्यकार है जो फ़िल्म से साहित्य की ओर आया और अपनी ख्याति की जड़ें मज़बूत करके फिर फ़िल्म की ओर चला गया। उसकी हर बात अजीब है।

उन कहानियों को पढ़ने के बाद मैंने उसकी कहानी 'लालटेन' पढ़ी जो 'बटोत' (काश्मीर) से सम्बन्ध रखती है, जहाँ मंटो शायद अपनी घोर बीमारी की हालत में रहा था। मुझे तो उस कहानी का अधिकांश भाग

मंटो के जीवन से सम्बन्धित मालूम होता है। उस कहानी के ब्योरों और उसके अन्तिम वाक्य में जो पीड़ा और करुणा है, वह ख़ुद रोमानी मंटो की ज़िन्दगी का एक अंग मालूम होती है। इसके बाद जैसे मंटो की कहानियों से किसी ने सारी कोमलता, करुणा, नर्मी और मिठास छीन ली या शायद उसने ख़ुद इन गुणों को अपनी कहानियों से धक्के मार-मारकर निकाल दिया। मुझे तो ऐसा लगता है कि अपने अन्तर के किसी यन्त्रणा-प्रिय भाव के अधीन वह ऐसा करता रहता है—'निकलो, निकलो, निकलो, ज़िन्दगी बहुत तल्ख़ है, इसमें इन भावनाओं का गुज़र नहीं। अच्छा यही है कि यहाँ से निकल जाओ!' उसकी अधिकांश कहानियों में ऐसा मालूम होता है, जैसे वह इन भावनाओं को जान-बूझकर धक्के देकर बाहर निकाल रहा हो। कभी बच्चों की तरह बिसूरने लगता है, कभी तल्ख़ लहजे में, अत्यन्त अप्रिय स्वर में उनकी हँसी उड़ाता है और कोई नहीं समझता कि इस कटुता, इस विष-वमन और व्यंग्यमयी हँसी के पीछे कितनी कोमलता, करुणा और ज़िन्दगी की चाहत छिपी हुई है। ऐसी चाहत, जिसकी भूख आदि और अन्त है, मिटाये नहीं मिटती। मंटो आदि-काल से भूख है। उसकी हर कहानी में मुहब्बत की पुकार है। आप उसके अन्दाज़ पर न जाइए। वह हज़ार बार कहता है, 'मुझे इंसानों से मुहब्बत नहीं है। मैं एक गले-सड़े कुत्ते के पिल्ले से मुहब्बत कर लूँगा, लेकिन इंसानों से नहीं।' वह कहेगा, 'मुझे मैत्री, दया करुणा, प्यार—किसी पर विश्वास नहीं। मेरा विश्वास शराब पर है। यह प्रगतिशीलता सब बकवास है। मैं प्रगतिशील नहीं हूँ। मैं सिर्फ़ मंटो हूँ और शायद वह भी नहीं हूँ।' वह ये सब बातें कहता है—तकल्लुफ़न! कभी आपका जी जलाने के लिए, मुंह चिढ़ाने के लिए, अपने आपको धोखा देने के लिए भी वह ये सब बातें कहता है। लेकिन उसकी आँखें कुछ और कहती हैं, उसकी क़लम कुछ और कहती है और हमारा सौभाग्य है कि उसकी ज़बान की तरह उसकी क़लम अपने क़ाबू में नहीं है। वह अपनी इंसानी हमदर्दी, अपनी प्रगतिशीलता, अपने मानव-प्रेम पर पर्दा डालने की हज़ार कोशिश करता है, अपनी कहानियों पर व्यंग्य का रोग़न चढ़ाता है, लेकिन उसकी

क़लम उसके क़ाबू में नहीं है और हर कहानी के पीछे उसका मानव-प्रेम उबला पड़ता है ।

उन दिनों मैं 'नये ज़ाविए' का पहला भाग संकलित कर रहा था। मैंने मंटो को उसमें शिरकत के लिए कहा तो उसने बहुत जल्द मुझे अपनी वह कहानी भेजी जो आज तक मेरे ख़याल में अपनी जगह उर्दू की सर्व-श्रेष्ठ कहानी है और साहित्य में उसकी जगह वही है जो राजेन्द्र सिंह बेदी के 'ग्रहण' और हयातुल्ला अंसारी की 'आख़िरी कोशिश' की। इतनी अच्छी कहानियाँ अब उर्दू में मुश्किल से लिखी जा सकेंगी। मैंने रूस के उपन्यास-कार कुपरिन की प्रख्यात कृति 'यामा' भी पढ़ी है और इसी विषय पर कई एक कहानियाँ भी पढ़ी हैं और 'उमराव जान अदा' के चरित्र का भी अध्ययन किया है, लेकिन 'हतक' की नायिका की टक्कर का एक भी चरित्र मुझे उन उपन्यासों और कहानियों में नहीं मिला। मंटो ने वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत बसने वाली वेश्या की ज़िन्दगी के छिलके एक-एक करके उतार दिये हैं—इस तरह की कहानी में न केवल वेश्या का शरीर, बल्कि उसकी रूह भी नंगी दिखायी देती है। एक शीशे की तरह आप उसके आर-पार देख सकते हैं, देख रहे हैं। किस बेदर्दी और बेरहमी से मंटो ने उसे नंगा किया है! लेकिन उस अपरूप-चित्र का हर रंग अपरूप होते हुए भी एक नये सौन्दर्य की सृष्टि करता है। वेश्यापन से पाठक को मुहब्बत नहीं होती, सुगंधी और उसकी ज़िन्दगी पर दया भी नहीं आती, लेकिन सुगंधी की निर्मलता और उसके स्त्रीत्व पर और इसलिए ज़िन्दगी और उसकी चाहत और उसके सृजन के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और यही सच्चे और अमर साहित्य का सार-तत्व है।

'हतक' के बाद फिर तो मंटो की कई कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई और बिजली के कौंदे की तरह मंटो का नाम पढ़ी-लिखी जनता के मन-मस्तिष्क में चमक उठा। उन्हीं दिनों ऑल इंडिया रेडियो दिल्ली मुझे बुलावा मिला और मैं लाहौर से दिल्ली चला गया। यहाँ मुझे आये

हुए एक महीना भी न हुआ था कि मुझे मंटो का ख़त मिला कि वह दिल्ली आ रहा है और मेरे यहाँ ठहरेगा। मुझे तीस हज़ारी में एक छोटा-सा मकान मिल गया था और एक नौकर भी था, इसलिए कुछ ख़ास फ़िक्र की बात न थी। मैं शाम को दफ़्तर से लौटकर लगभग छः बजे अपने मकान के बाहर टहल रहा था कि एक साहब लम्बे दुबले, तिरछे, गोरे-गोरे से आये—एक चमड़े का बैग बग़ल में दबाये—और मेरी तरफ़ देखकर मुस्कराने लगे। हम दोनों ने एकाएक एक दूसरे को पहचान लिया।

"तुम क्रिशन चन्दर हो?" नवागन्तुक ने कहा।

"मंटो!" मैंने जवाब दिया और हम दोनों लिपट गये।

मंटो एक लम्बा-सा ओवर कोट पहने आया था। कमरे के अन्दर जाकर मंटो ने चमड़े का बैग सोफ़े पर पटक दिया और ओवर कोट उतार दिया और स्वयं एक कुर्सी पर पाँव सिकोड़कर इस तरह बैठ गया जैसे कन्हैयालाल[१] जेब कतरे का पार्ट करते समय बैठता है। मुझे अनायास हँसी आ गयी। मैंने कहा, "लो सिगरेट पियो।"

कोई घटिया क़िस्म का सिगरेट था जो मैंने उसे पेश किया।

"लाहौल विला कूवत!" मंटो बोला, "अरे, यह सिगरेट तुम पीते हो? हैरत है, ऐसे सिगरेट पीकर तुम इतने अच्छे अफ़साने कैसे लिख लेते हो! ये सिगरेट पीकर तुम सिर्फ़ दफ़्तर में क्लर्की कर सकते हो। समझे, क्रिशन चन्दर एम० ए०! लो, अब ये सिगरेट पियो ५५५ और भूल जाओ इन सिगरेटों को।"

नौकर ने गर्म-गर्म फुल्कियाँ प्लेट में सजाकर भेज दीं। मैंने कहा, "ये फुल्कियाँ घी में तली गयी हैं। ख़ालिस घी पंजाब से आया है।"

"फुल्कियाँ और घी में?" मंटो चिल्लाया, "लाहौल विला कूवत! अरे मियाँ तुम निरे बूदम हो। अरे भाई मेरे, कौन बेवकूफ़ फुल्कियाँ घी में तलता है। इससे तो फुल्कियों का मज़ा ही बदल जाता है। तलने के लिए

---

[१] कन्हैयालाल कपूर—उर्दू के प्रसिद्ध हास्य-लेखक।

खालिस घी नहीं, डाल्डा बेहतर है। डाल्डा से बेहतर फ़्राई और किसी चीज़ से नहीं होता। मेरी बीवी को आने दो, फिर तुम्हें फुल्कियाँ खिलाऊँगा, चटपटी और किरकिरी और ऐसी मज़ेदार जैसे बम्बई की घाटिन होती है। कभी बम्बई गये हो ?"

मैंने कहा, "मै तो दिल्ली भी पहली बार आया हूँ। इससे आगे दुनिया कैसी है, मालूम नहीं।"

"बम्बई चलो, और छोड़ो यह रेडियो-वेडियो! लो, शराब पियो।" यह कहकर मंटो ने अपने छोटे कोट की जेब से एक बोतल निकाली। सोलन ह्विस्की नं० वन और उसका काग उड़ाकर बोला, "लो जल्दी से लो। गिलास मँगवाओ, देर हो रही है।"

अब तक मैंने कभी शराब न चखी थी। लेकिन मंटो का चेहरा कुछ ऐसा था, उसका स्वर इतना तीखा था कि मैंने सोचा, अगर मैंने इनकार किया तो कहीं वह मुझे मार ही न बैठे। मैंने निहायत इतमीनान से दो गिलास मँगवाये। मंटो ने शराब उंडेलनी शुरू की। पूछने लगा, "तुम कौन सी शराब पीते हो ?"

मैंने कहा, "ब्रांडी या फिर...कोई अच्छी सी अंग्रेज़ी ह्विस्की।"

"कौन सी अंग्रेज़ी ह्विस्की ?" मंटो ने तल्ख़ी से कहा, "ह्विस्की अंग्रेज़ी नहीं होती, स्काच होती है। साले, अँग्रेज़ शराब तो खींच नहीं सकते, हिन्दुस्तान पर हुकूमत क्या करेंगे।"

मेरे मस्तिष्क में एक अंग्रेज़ी—स्काच ह्विस्की का विज्ञापन कौंध गया —"डोंट बी वेग, आस्क फ़ॉर हैग।"

मैंने जल्दी से कहा—"मुझे हैग बहुत पसन्द है।"

"सब बकवास है!" मंटो बोला, "सोलन ह्विस्की नं० वन सबसे अच्छी है। एक तो पैसे कम और फिर मज़े में और नशे में हैग से अच्छी! आगे से हैग मत पिया करो। सिर्फ़ सोलन ह्विस्की नंबर वन, समझे!"

मैंने कहा, "ठीक है। अब हैग नहीं पियूँगा!"

"और डालूँ?" मंटो ने मेरे गिलास की तरफ़ देखते हुए कहा, जो क़रीब एक चौथाई भर चुका था।

मैंने कहा ,"और नहीं. . .जैसी तुम्हारी मरज़ी . . .और डाल दो।"

"तो क्या पटियाला पेग पियोगे?" मंटो ने आश्चर्य से मेरी ओर देखते हुए कहा ।

मैंने जल्दी से कहा, "हाँ!" दरअसल मुझे मालूम ही न था कि पटियाला पेग क्या होता हैं। 'हाँ' कह देने से छुटकारा हो गया।

"बड़े पियक्कड़ हो।" मंटो ने मुझे संदेह की दृष्टि से देखते हुए कहा ।

मैं तो पहले पेग में ही निहाल हो गया। इसके बाद दूसरा मैंने नहीं लिया और न मंटो ने आग्रह किया, क्योंकि वह मेरी हालत देख चुका था। मैंने स्वीकार किया कि यह पहली बार शराब पी रहा हूँ। इस पर मंटो ने शराब के फ़ायदे गिनाये—गुनाह की लज़्ज़त शराब में है, औरत की रंगत शराब में है, साहित्य की चाशनी शराब में है, दुखों से मुक्ति और बुराइयों से नजात शराब में हैं। भई तुम कब तक पंडित बने रहोगे, आख़िर तुम्हें साहित्य का सृजन करना है, कोई स्कूल के बच्चों को तो पढ़ाना नहीं! ज़िन्दगी नहीं देखोगे, गुनाह नहीं करोगे, मौत के क़रीब नहीं जाओगे, ग़म का मज़ा नहीं चखोगे, सोलन व्हिस्की नम्बर वन नहीं पियोगे तो क्या तुम ख़ाक लिखोगे !

बोतल ख़त्म करने के बाद वह भी आउट हो गया। अब उसका तक़ाज़ा यही था कि मैं क्रिशन चन्दर एम०ए० क्यों हूँ, सिर्फ़ क्रिशन चन्दर क्यों नहीं।

फिर मुझे चिढ़ाने के लिए बार-बार कहने लगा—"क्रिशन चन्दर एम०ए०, क्रिशन चन्दर एम०ए०, क्रिशन चन्दर एम०ए० ! "

और मैंने बदला लेने की ख़ातिर उससे कहा, "तुम यह बताओ तुम कौन हो? मिंटो हो, या मंटो हो या मुंटो हो। यह मंटो क्या बला है। मिंटो, मंटो, मंटू, मुंटो !"

वह कहने लगा—"क्रिशन चन्दर एम०ए०, क्रिशन चन्दर एम०ए०, क्रिशन चन्दर एम०ए० !"

थोड़ी देर तक इस तरह गर्दान करते हुए हम दोनों सो गये। मैं सोफ़े पर और वह उसी कुर्सी पर, उसी तरह गर्दन टाँगों में दबाये ! वह सुबह तक इसी तरह सोया रहा। सुबह जब मैं जागा तो वह इसी तरह सो रहा था। मेज़ पर बोतल औंधे मुँह पड़ी थी। गिलास ख़ाली थे और फुल्कियाँ बासी थीं। मैंने मंटो को जगाया—"उठो !"

वह उठते ही कहने लगा, "अगर इस वक्त भी थोड़ी सी मिल जाय तो शराब का ज़ायका ज़बान से दूर हो जाये। तुम जानते हो, शराब के ज़ायक़े को दूर करने का तरीक़ा यही है कि सुबह उठते ही आदमी फिर दो घूँट शराब पी ले, समझे? शराब मँगाओ। फिर मुझे ऑल इंडिया रेडियो जाना है।"

"वह क्यों?" मैंने पूछा।

"मैं यहाँ नाटक लिखने के लिए बुलाया गया हूँ।"

"और तुम तो मुझे बम्बई भेज रहे थे रात को फ़िल्मों में काम करने के लिए !"

"गोली मारो बम्बई को, यह बकवास बन्द करो और शराब मँगाओ।" यह कहकर उसने अपना चमड़े का बैग खोला और एक कहानी निकाल-कर मुझे दी, "इसे ज़रा पढ़ लो। मैं अपने अफ़साने किसी को नहीं दिखाता, अपने बाप को भी नहीं। बस तुम्हें सिर्फ़ दिखा सकता हूँ। गो तुम भी अफ़साने बहुत अच्छे नहीं लिखते। मगर एक बात है उन में, इसे मानता हूँ। समझे क्रिशन चन्दर एम० ए०।"

रेडियो पर हम लोग दो साल इकट्ठे रहे। बाद में उपेन्द्रनाथ अश्क भी आ गये। मैं ड्रामा प्रोडयूसर था। मंटो और अश्क दोनों ड्रामे लिखते थे और मुझे उन दोनों के बीच में संतुलन रखना पड़ता था। दोनों अच्छे लेखक, दोनों अपने अहं पर क़ायम। फल यह हुआ कि उन दिनों बहुत अच्छे रेडियो-नाटक लिखे गये। ये नाटक किसी दूसरी भाषा से उलथा

नहीं किये गये थे, ये ऊँचे दिमाग़ों की ऊँची रचना थे और इन नाटकों से उर्दू-साहित्य में आधुनिक नाटकों की बेल बढ़ी और उर्दू-साहित्य के इस अभाव की पूर्ति हुई। बल्कि इसके बाद तो उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपनी बेहतरीन कोशिशें नाटक के लिए लगा दीं। यह बड़े मज़े का ज़माना था। हम तीनों में साहित्यिक वाद-विवाद होते, नोक-झोंक होती, कहानियाँ लिखी जातीं, नाटक लिखे जाते, लेख एक दूसरे को सुनाये जाते ! फिर कुछ अर्से के लिए बेदी (राजेन्द्र सिंह) भी आ गये, अहमद नदीम क़ासिमी भी और न०मु० राशिद भी। और दिल्ली के रेडियो पर साहित्यिकों के इस जमघट ने उर्दू-साहित्य में एक नये अध्याय की वृद्धि की। नदीम ने अपना लम्बा 'ऑपेरा' लिखा, बेदी ने पहली बार नाटक की ओर अपना ध्यान लगाया और राशिद की 'मावरा' भी उन्हीं दिनों छपी। देवेन्द्र सत्यार्थी भी पधारे, योंही घूमते-घामते। दो-एक दिन तो मंटो से ख़ूब गाढ़ी छनी, पर मंटो के स्वभाव की तल्ख़ी सत्यार्थी के सचेतन माधुर्य के बिलकुल विपरीत थी। अधिक देर तक न निभ सकी। मंटो ने अपनी एक कहानी में सत्यार्थी पर चोट की। सत्यार्थी ने, 'नये देवता' में उसका जवाब दिया। मंटो को इसका सदमा ज़रूर हुआ। दो-तीन दिन तक उस कहानी का असर रहा। आख़िर उसने कहा—"यह नये देवता......ठीक है, चलो हटाओ !" मैंने कभी उससे इस विषय पर बात नहीं की। मंटो अकसर मुझसे कहता था, "मुझे तुम्हारी यह हरकत पसन्द नहीं, मैं तुमसे लड़ना चाहता हूँ और तुम हमेशा तरह दे जाते हो। यह नामाकूलियत मुझे पसन्द नहीं।" मैंने कहा, "लड़ने के लिए क्या अश्क काफ़ी नहीं है ?" अश्क और मंटो की नोक-झोंक ख़ूब होती थी और अकसर दुनिया के हर विषय पर हो जाती थी और ऐसी-ऐसी साहित्यिक बारीकियाँ निकलती थीं कि दिन भर जी लगा रहता था।

मंटो के पास टाइपराइटर था और मंटो अपने तमाम ड्रामे इसी तरह लिखता था कि काग़ज़ को टाइपराइटर पर चढ़ाकर बैठ जाता था और टाइप करना शुरू कर देता। मंटो का ख़याल है कि टाइपराइटर से बढ़कर प्रेरणा देने वाली दूसरी कोई मशीन दुनिया में नहीं है। शब्द गढ़े-

गढ़ाये मोतियों की आब लिये हुए, साफ़-सुथरे मशीन से निकल आते हैं। क़लम की तरह नहीं कि निब घिसी हुई है तो रोशनाई कम है या काग़ज़ इतना पतला है कि सियाही उसके आर-पार हो जाती है या खुरदरा है और सियाही फैल जाती है। एक लेखक के लिए टाइपराइटर उतना ही ज़रूरी है जितनी पति के लिए पत्नी। और एक उपेन्द्रनाथ अश्क और क्रिशन चन्दर हैं कि क़लम घिस-घिस किये जा रहे हैं। "अरे मियाँ, कहीं अज़ीम अदब की तख़लीक़[1] आठ आने के होल्डर से भी हो सकती है। तुम गधे हो, निरे गधे!"

मैं तो ख़ैर चुप रहा, पर दो-तीन दिन के बाद हम लोग क्या देखते हैं कि अश्क साहब अपने बग़ल में उर्दू का टाइपराइटर दबाये चले आ रहे हैं और आपने मंटो की मेज़ के सामने अपना टाइपराइटर सजा दिया और खट-खट करने लगे।

"अरे उर्दू के टाइपराइटर से क्या होता है? अँग्रेज़ी टाइपराइटर भी होना चाहिए। क्रिशन, तुमने मेरा अँग्रेज़ी का टाइपराइटर देखा है। दिल्ली भर में ऐसा टाइपराइटर कहीं न होगा। एक दिन लाकर तुम्हें दिखाऊँगा।"

अश्क ने इस पर न केवल अँग्रेज़ी का, बल्कि हिन्दी का टाइपराइटर भी ख़रीद लिया। अब जब अश्क आता तो अकसर चपरासी एक छोड़ तीन टाइपराइटर उठाये उसके पीछे दाख़िल होता और अश्क मंटो के सामने से गुज़र जाता, क्योंकि मंटो के पास सिर्फ़ दो टाइपराइटर थे। आख़िर मंटो ने गुस्से में आकर अपना अँग्रेज़ी टाइपराइटर भी बेच दिया और फिर उर्दू टाइपराइटर को भी वह नहीं रखना चाहता था, पर उससे काम में थोड़ी आसानी हो जाती थी, इसलिए उसे पहले पहल नहीं बेचा—पर तीन टाइपराइटरों की मार वह कब तक खाता। आख़िर उसने उर्दू का टाइप-राइटर भी बेच दिया। कहने लगा—"लाख कहो, वह बात मशीन में नहीं

---

[1] महान साहित्य का सृजन

नहीं किये गये थे, ये ऊँचे दिमाग़ों की ऊँची रचना थे और इन नाटकों से उर्दू-साहित्य में आधुनिक नाटकों की बेल बढ़ी और उर्दू-साहित्य के इस अभाव की पूर्ति हुई। बल्कि इसके बाद तो उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपनी बेहतरीन कोशिशें नाटक के लिए लगा दीं। यह बड़े मज़े का ज़माना था। हम तीनों में साहित्यिक वाद-विवाद होते, नोक-झोंक होती, कहानियाँ लिखी जातीं, नाटक लिखे जाते, लेख एक दूसरे को सुनाये जाते! फिर कुछ अर्से के लिए बेदी (राजेन्द्र सिंह) भी आ गये, अहमद नदीम क़ासिमी भी और न०मु० राशिद भी। और दिल्ली के रेडियो पर साहित्यिकों के इस जमघट ने उर्दू-साहित्य में एक नये अध्याय की वृद्धि की। नदीम ने अपना लम्बा 'ऑपेरा' लिखा, बेदी ने पहली बार नाटक की ओर अपना ध्यान लगाया और राशिद की 'मावरा' भी उन्हीं दिनों छपी। देवेन्द्र सत्यार्थी भी पधारे, योंही घूमते-घामते। दो-एक दिन तो मंटो से ख़ूब गाढ़ी छनी, पर मंटो के स्वभाव की तल्ख़ी सत्यार्थी के सचेतन माधुर्य के बिलकुल विपरीत थी। अधिक देर तक न निभ सकी। मंटो ने अपनी एक कहानी में सत्यार्थी पर चोट की। सत्यार्थी ने, 'नये देवता' में उसका जवाब दिया। मंटो को इसका सदमा ज़रूर हुआ। दो-तीन दिन तक उस कहानी का असर रहा। आख़िर उसने कहा—"यह नये देवता......ठीक है, चलो हटाओ!" मैंने कभी उससे इस विषय पर बात नहीं की। मंटो अकसर मुझसे कहता था, "मुझे तुम्हारी यह हरकत पसन्द नहीं, मैं तुमसे लड़ना चाहता हूँ और तुम हमेशा तरह दे जाते हो। यह नामाकूलियत मुझे पसन्द नहीं।" मैंने कहा, "लड़ने के लिए क्या अश्क काफ़ी नहीं है?" अश्क और मंटो की नोक-झोंक ख़ूब होती थी और अकसर दुनिया के हर विषय पर हो जाती थी और ऐसी-ऐसी साहित्यिक बारीकियाँ निकलती थीं कि दिन भर जी लगा रहता था।

मंटो के पास टाइपराइटर था और मंटो अपने तमाम ड्रामे इसी तरह लिखता था कि काग़ज़ को टाइपराइटर पर चढ़ाकर बैठ जाता था और टाइप करना शुरू कर देता। मंटो का ख़याल है कि टाइपराइटर से बढ़कर प्रेरणा देने वाली दूसरी कोई मशीन दुनिया में नहीं है। शब्द गढ़े-

गढ़ाये मोतियों की आब लिये हुए, साफ़-सुथरे मशीन से निकल आते हैं। क़लम की तरह नहीं कि निब घिसी हुई है तो रोशनाई कम है या काग़ज़ इतना पतला है कि सियाही उसके आर-पार हो जाती है या खुरदरा है और सियाही फैल जाती है। एक लेखक के लिए टाइपराइटर उतना ही ज़रूरी है जितनी पति के लिए पत्नी। और एक उपेन्द्रनाथ अश्क और क्रिशन चन्दर हैं कि क़लम घिस-घिस किये जा रहे हैं। "अरे मियाँ, कहीं अज़ीम अदब की तख़लीक़[१] आठ आने के होल्डर से भी हो सकती है। तुम गधे हो, निरे गधे!"

मैं तो ख़ैर चुप रहा, पर दो-तीन दिन के बाद हम लोग क्या देखते हैं कि अश्क साहब अपने बग़ल में उर्दू का टाइपराइटर दबाये चले आ रहे हैं और आपने मंटो की मेज़ के सामने अपना टाइपराइटर सजा दिया और खट-खट करने लगे।

"अरे उर्दू के टाइपराइटर से क्या होता है? अँग्रेज़ी टाइपराइटर भी होना चाहिए। क्रिशन, तुमने मेरा अँग्रेज़ी का टाइपराइटर देखा है। दिल्ली भर में ऐसा टाइपराइटर कहीं न होगा। एक दिन लाकर तुम्हें दिखाऊँगा।"

अश्क ने इस पर न केवल अँग्रेज़ी का, बल्कि हिन्दी का टाइपराइटर भी ख़रीद लिया। अब जब अश्क आता तो अकसर चपरासी एक छोड़ तीन टाइपराइटर उठाये उसके पीछे दाख़िल होता और अश्क मंटो के सामने से गुज़र जाता, क्योंकि मंटो के पास सिर्फ़ दो टाइपराइटर थे। आख़िर मंटो ने गुस्से में आकर अपना अँग्रेज़ी टाइपराइटर भी बेच दिया और फिर उर्दू टाइपराइटर को भी वह नहीं रखना चाहता था, पर उससे काम में थोड़ी आसानी हो जाती थी, इसलिए उसे पहले पहल नहीं बेचा—पर तीन टाइपराइटरों की मार वह कब तक खाता। आख़िर उसने उर्दू का टाइप-राइटर भी बेच दिया। कहने लगा—"लाख कहो, वह बात मशीन में नहीं

---

[१] महान साहित्य का सृजन

आ सकती जो क़लम में है। काग़ज़, क़लम और दिमाग़ में जो रिश्ता है वह टाइपराइटर से क़ायम नहीं होता। एक तो कम्बख़्त खटाखट शोर किये जाता है—मुसलसल, मुतवातिर—और क़लम—किस रवानी से चलता है! मालूम होता है रोशनाई सीधी दिमाग़ से निकलकर काग़ज़ की सतह पर बह रही है। हाय, यह शेफ़र्स का क़लम किस क़दर ख़ूबसूरत है! इसका नोकीला स्ट्रीमलाइन हुस्न देखो, जैसे बाँदरा की क्रिश्चियन छोकरी!"

और अश्क ने जलकर कहा, "तुम्हारा भी कोई दीन-ईमान है। कल तक टाइपराइटर की तारीफ़ करते थे। आज अपने पास टाइपराइटर है तो क़लम की तारीफ़ करने लगे। वाह! यह भी कोई बात है। हमारे एक हज़ार रुपये ख़र्च हो गये।"

मंटो ज़ोर से हँसने लगा।

एक दिन मंटो बहुत ख़ुश-ख़ुश मेरे पास आया। कहने लगा—"भई यह अहमद नदीम क़ासिमी का ख़त आया है। तुम्हें भी सलाम कहा है। ज़रा इसे पढ़ लो।"

मैंने ख़त पढ़ा। बड़ा प्यारा ख़त था। पर मंटो ने ख़त मुझे इसलिए पढ़ने को दिया कि उसमें मंटो की कहानियों की तारीफ़ की गयी थी। उसी तारीफ़ ने मंटो को वह ख़त दिखाने पर मजबूर कर दिया था। ख़त का आख़िरी फ़िक़रा था—"आप अफ़साना-निगारी के बादशाह हैं।"

ख़त पढ़कर मैंने अपनी मेज़ की ड्रार खोली और उसमें से एक ख़त निकाला। वह ख़त भी अहमद नदीम क़ासिमी ने लिखा था और उसी दिन मुझे मिला था—मंटो के आने से कोई चन्द मिनट पहले—उसे पढ़कर मैंने मेज़ की ड्रार में रख दिया था। मैंने वह ख़त मंटो को दे दिया, "लो भई, यह एक ख़त इन्हीं साहब ने मुझे भी भेजा है। इसे तुम पढ़ लो।"

मेरे ख़त में नदीम ने मेरी कहानियों की तारीफ़ की थी। ख़त का

आख़िरी फ़िक़रा यह था—आप अफ़साना-निगारी के शाहन्शाह[1] हैं।"

मैंने कहा—'मंटो, तुम सिर्फ़ बादशाह हो, हम शाहन्शाह हैं। तुम से बड़े हैं, बोलो, अब क्या कहते हो।"

फिर हम दोनों हँसने लगे। नदीम ने हम दोनों से क्या अच्छा मज़ाक किया था। मंटो ने कहा—"आओ हम दोनों इसे एक ख़त लिखें और इसे यहाँ बुलायें।"

पढ़ी-लिखी भले घरानों की लड़कियाँ उस वक़्त तक रेडियो-ड्रामों में हिस्सा लेने से घबराती थीं। जब मैं दिल्ली आया तो सिर्फ़ तीन-चार लड़कियाँ ही ऐसी थीं जो हमारे ड्रामों में हिस्सा ले सकती थीं और जब नये ढब के ड्रामे लिखे जाने लगे, जिनमें मध्यम या उच्च वर्ग के जीवन का चित्रण होता था तो ज़रूरत महसूस हुई कि अपने ग्रुप को बढ़ाया जाय। फलस्वरूप मैंने बड़ी कोशिश से दस-बारह लड़कियों का ग्रुप बनाया था जो हमारे ड्रामों में भाग लिया करती थीं। एक दिन मंटो ने मुझ से पूछा—"देखो भई, तुम अपने ड्रामे के लिए कितनी लड़कियाँ ला सकते हो?"

"कितनी क्या मतलब? जितनी कहो!"

"अब दून की मत लो। मैं तुम से पूछता हूँ।"

"पूछते काहे को हो। तुम ड्रामा लिखो, उसमें चाहे जितनी लड़कियाँ भर लो, मैं ला दूँगा।"

"अच्छा, तो मैं एक ड्रामा लिखूँगा। उसमें सिर्फ़ लड़कियाँ-ही-लड़कियाँ होंगी। छब्बीस-सत्ताइस लड़कियाँ रक्खूँगा।"

मैंने कहा—"और उसका नाम रखो—एक मर्द।"

ड्रामा लिखा गया, ब्रॉडकास्ट भी हुआ। हर चरित्र के लिए लड़की भी मिल गयी।

इसी तरह हर चीज़ में मुक़ाबिले से काम लिया जाता। मैंने एक

---

[1] हिन्दी शहंशाह

अच्छी कहानी लिखी तो मंटो ने भी और फिर अश्क ने भी। और राशिद ने भी एक नज़्म कह डाली। मंटो ने ड्रामा लिखा तो अश्क भी ज़रूर लिखेंगे और फिर मैं भी उन दोनों के अनुकरण में लिखने की कोशिश करता। मेरे सारे रेडियो ड्रामे उन्हीं दिनों की सृष्टि हैं जब मेरा और मंटो का साथ था। वो दिन इतने अच्छे थे कि आर्थिक परेशानियों के बावजूद हम लोग बहुत ख़ुश रहते थे और बहुत लिखते थे और जो कुछ लिखते थे, ताज़गी और तवानाई[1] के साथ लिखते थे, मुर्झाये हुए दिलों के साथ नहीं। उन्हीं दिनों मंटो ने अपनी अदबी ज़िन्दगी के बेहतरीन ड्रामे और कहानियाँ लिखीं। उन दिनों उसकी क़लम में बला की रवानी थी और वह हर दूसरे-तीसरे दिन एक नयी चीज़—कोई ड्रामा या अफ़साना—लिख डालता था। लड़ने-झगड़ने के बाद भी हम तीनों में इतना गहरा सहयोग था कि दिन-रात इकट्ठे रहते और अपने प्रोग्राम को बेहतर बनाने की तजवीज़ें सोचा करते। रेडियो आर्टिस्ट ख़ास तौर पर मंटो को बहुत चाहते थे। मंटो हमारी रिहर्सल में कम आता था, लेकिन जब आता तो अपनी फुलझड़ियों से कुछ ऐसी ताज़गी और उल्लास पैदा कर देता कि उसका असर घंटों तक रहता। मंटो के ड्रामे उन आर्टिस्टों ने जिस लगन और परिश्रम से बॉडकास्ट किये हैं और वे जनता में कितने लोक प्रिय हुए हैं, इसका अनुमान इस बात से हो सकता है कि मंटो ने अपने रेडियो नाटकों का एक संकलन उन आर्टिस्टों के नाम समर्पित किया है।

इसी बीच मंटो ने और मैंने मिलकर एक फ़िल्मी कहानी लिखी। मेरे लिए यह पहली फ़िल्मी कोशिश थी, जिसमें मैंने हिस्सा लिया। 'बनजारा' उसका नाम था। दिल्ली में उसने किसी डिस्ट्रीब्यूटर के हाथ बेच दी थी, क्योंकि उन दिनों हम लोग नये सूट सिलवाना चाहते थे और अभी एक लम्बे अर्से तक किसी प्रकाशक से पैसे मिलने की उम्मीद न थी। लेकिन उस फ़िल्मी कहानी का दिलचस्प पहलू हमारे नये सूट न

---

[1] शक्ति।

थे, बल्कि कम-से-कम हमारे लिए तो यह एक तजरुबा था। कहानी सुनकर सेठ ने कहा—"कहानी बहुत अच्छी है, हम लोग ख़रीद लेंगे। लेकिन मंटो साहब आपने फ़िल्म में मिल के मैनेजर को बहुत बुरा बताया है। इसे अच्छा दिखाना चाहिए, नहीं मज़दूरों पर बुरा असर पड़ता है।"

"तो उसे अच्छा दिखा देंगे।"

मैं हेरत से मंटो की ओर तकने लगा। मैं कहने वाला था, यह कैसे हो सकता है कि उसने मुझे हाथ के इशारे से रोक दिया।

और सेठ साहब फिर बोले, "और मैनेजर की बीवी है, यह अगर उसकी कुँआरी बहन हो और हीरो से प्रेम करे, एक वैम्प के माफ़िक। कैसा रहेगा मंटो साहब ?"

"बहुत अच्छा, बहुत अच्छा !" मंटो ने कहा।

मैं फिर चकित रह गया। यह वही मंटो है जो किसी के लिए अपनी एक लाइन तो क्या, एक अक्षर तक नहीं बदल सकता। उसकी कहानियाँ ज्यों-की-त्यों छपनी चाहिएँ, नहीं तो वह कहानी वापस ले लेगा। क्या यह वही मंटो है ? मैं आश्चर्य से उसकी ओर देखने लगा।

जब हम सेठ से मिलकर बाहर आ गये तो मंटो ने कहा, "भई, यह अदब नहीं है। यह फ़िल्म है जो पढ़े-लिखे लोगों के हाथ में नहीं है। हमारी कहानियाँ परखने वाले मौलाना सलाहुद्दीन हैं, कलीमुल्ला हैं, हामिद अली ख़ां हैं, वह सारू भाई टीकर जी पटेल या मंगू भंगू जंगू ऐंड ब्रदर्स नहीं हैं। इसलिए फ़िल्म में माँ को बहन और बहन को मॉशूक और मॉशूक को वैम्प बना देना हमारे लिए बायें हाथ का खेल है, समझे ? अदब की ख़िदमत करो और फ़िल्म से रुपया कमाओ। अब बोलो, तुम्हें सूट चाहिए कि नहीं ?"

"चाहिए !"

"तो फ़िल्मी कहानी में तब्दीली ज़रूर होगी।"

"ज़रूर होगी, भई !"

मिज़ाज, जिस्म और रूह के एतबार से मंटो आज भी काश्मीरी पंडित

है। बहुत सी बातों में वह अश्क से मिलता-जुलता है। मैं जानता हूँ, इसे पढ़कर उसे बड़ी कोफ़्त होगी, पर मेरी यह बात सचाई से दूर नहीं। क्योंकि अश्क भी ब्राह्मण है, पंडित है। दोनों लांबे, दुबले-पतले हैं। दोनों दिन-रात इंजेक्शनों की फ़िक्र में रहते हैं। दोनों में ब्राह्मणों की हठधर्मी, ब्राह्मणों की ज़िद, उनकी चतुराई और उनका चिड़चिड़ापन पाया जाता है। दोनों बहुत बातें करते हैं। हाँ, मंटो की बातों में हास्य, अनोखापन ज़रा ज़्यादा होता है। दुनिया के किसी विषय पर उससे बात कीजिए, वह उस पर एक नये अन्दाज़ से बात करेगा। आम रास्तों से बचकर चलने की आदत अब उसके मिज़ाज का एक अंग बन गयी है। वह उसे छोड़ नहीं सकता—आप यदि दास्तवस्की की प्रशंसा करें तो वह सॉमरसेट मॉम के गुण गायेगा। आप बम्बई शहर की ख़ूबियाँ गिनायेंगे तो वह अमृतसर की तारीफ़ के गीत गाने लगेगा। आप जिन्ना या गांधी की महानता के क़ायल होते नज़र आयेंगे तो वह अपने मुहल्ले के मोची की महानता जताने लगेगा। आप गोश्त और पालक पसन्द फ़रमायेंगे तो वह आपको दाल खाने की तरग़ीब[1] देगा। आप शादी करना चाहेंगे तो वह आपसे कुँआरा रहने को कहेगा। आप कुँआरपने को अच्छा समझेंगे तो वह शादी की उपयोगिता पर बहस करके आपको शादी के लिए मजबूर करेगा। आप उसके एहसान का ज़िक्र करेंगे तो वह आपको बुरा-भला कहेगा, आप उसे गाली देंगे तो वह आपके लिए पाँच सौ की नौकरी ढूँढता फिरेगा—मंटो के मिज़ाज की तरह उसकी दोस्ती, दुश्मनी और उसका प्रतिशोध भी अजीब है और उसमें सच्ची मानवता के बहुत से पहलू पाये जाते हैं। उसकी कठोरता, निर्भीकता और कटुता एक तरह का खोल है, जो उसने अपने नर्म व्यक्तित्व की सुरक्षा के लिए अपने ऊपर चढ़ा रखा है। अपने आपको दूसरों से एकदम अलग दिखाने की इच्छा वास्तव में इसके सिवा और कुछ

---

[1] प्रेरणा।

नहीं है कि वह अन्दर से बिलकुल हमारे ऐसा है, बल्कि हमसे ज़्यादा ज़ख्मी है, ज़्यादा भावुक है, ज़्यादा हमदर्द है।

मंटो को लोगों ने अकसर हँसते हुए, शराब पीते हुए, अपने दोस्तों का मज़ाक उड़ाते हुए, मानी हुई सचाइयों को व्यंग्यपूर्ण अन्दाज़ में झुठलाते हुए देखा है; लेकिन मैंने मंटो को रोते हुए भी देखा है। वह दुनिया के दुखों पर नहीं रोता, वह अपने दुखों पर नहीं रोता। उसे इश्क़ नहीं हुआ था, उसे किसी ख़तरनाक बीमारी का सामना नहीं करना पड़ा था। वह अपने डेढ़ वर्ष के बच्चे की मौत पर रो रहा था। जिस व.त मुझे ख़बर मिली मै जल्दी से उसके घर दौड़ा-दौड़ा गया। मंटो ने इस तरह अपनी लाल-लाल आँखों से मुझे घूरकर देखा मानो कह रहा हो—और तुम अब आये हो जबकि वह मर चुका है, जबकि हम उसे दफ़नाने के लिए ले जा रहे हैं? इससे पहले तुम कहाँ थे? तुम पहले आते तो शायद मेरा बच्चा बच जाता। उस का गला रुँधा हुआ था और उसके पपोटे सूजे हुए थे और उसने मुझसे कहा—" क्रिशन, मैं मौत से नहीं डरता, किसी मौत का असर नहीं लेता। लेकिन यह बच्चा—इसलिए नहीं कहता हूँ कि यह मेरा बच्चा है—इसलिए कहता हूँ—तुम इसे देखते हो न, इस वक्त भी कितना मासूम, कितना नया, कितना प्यारा मालूम होता है। मैं सोचता हूँ कि जब कोई नया ख़याल अपने ख़ात्मे तक पहुँचने से पहले टूट जाता है, उस वक़्त कितना बड़ा सानहा (दुर्घटना) होता है। हर नया बच्चा एक नया ख़याल है। यह क्यों टूट गया? अभी मैंने इसे तड़पते देखा है। मै मर जाऊँ, तुम मर जाओ, बुढ्डे, जवान, अधेड़ उम्र के लोग मर जायें, मरते रहते हैं, लेकिन यह बच्चा—फ़ितरत (प्रकृति) को किसी नये ख़याल का इतनी जल्दी न गला घोंटना चाहिए।" और फिर वह फूट-फूटकर रोने लगा। उसने जो खोल अपने ऊपर चढ़ा दिया था, उसके टुकड़े-टुकड़े हो चुके थे।

उसके बाद मैंने उसे रोते हुए नहीं देखा। लेकिन उन आँसुओं ने मुझे मंटो के अन्दर के उस गहरे समुद्र में पहुँचा दिया, जहाँ से उसके साहित्य

की सृष्टि होती है। उस समुद्र का रंग गहरा हरा और सुनहरा है। उसका पानी खारा है और शार्क मछलियाँ और ऑक्टोपस और दूसरे ख़तरनाक समुद्री जानवर भी उसकी तह में छिपे हुए हैं। लेकिन यहाँ रंग-रंग की हरी-भरी चट्टानें भी हैं जिनकी मख़मली हरियाली पर सीप के मोती आराम कर रहे हैं। इस अजीब-ो-ग़रीब दृश्य को मैंने सिर्फ़ एक बार देखा। आपने वे मोती देखे हैं जिन्हें मंटो एक ग़ोताखोर बनकर अपने दिल की गहराइयों से निकालकर ले आता है। यह उसके ख़ून की जमी हुई बूँदें हैं जिन पर वह अपने व्यंग्य और विषाद से आब चढ़ाकर उन्हें एक व्यंग्य-मय अन्दाज़ से आपके सामने पेश करता है। आप उसके अन्दाज़ पर न जाइए! ये सच्चे मोती हैं। यह हमारे मुल्क की बदक़िस्मती है कि हम उनकी क़द्र नहीं करते। कहने को तो हिन्दुस्तान साहित्य, सभ्यता, संस्कृति और ललित कलाओं का केन्द्र रहा है, लेकिन सदियों से हमने अपने महान कलाकारों के साथ ऐसी असाधारण बेपरवाही बरती है कि अब हमें अपने जुर्म का एहसास तक नहीं होता। मेरे सामने सहगल की मिसाल है। जब सहगल का निधन हुआ तो हमारे देश के महान नेताओं के मुँह से खेद का एक शब्द भी न निकला, और ये वे लोग हैं जो दिन-रात अपनी सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा का रोना रोया करते हैं। लेकिन उनसे कभी पूछिए कि हिन्दुस्तान के महान कलाकार, साहित्यकार, चित्रकार, गायक कौन-कौन से हैं? और आजकल क्या कर रहे हैं तो उनकी ज़बान गुँग हो जायेगी और वे अपनी कार्य-व्यस्तता का बहाना करके चुप हो जायेंगे।

मंटो को अच्छे कपड़ों का शौक नहीं। उसे अच्छे घर, अच्छे खाने और अच्छी शराबों का शौक़ है। उसका घर आपको हमेशा क़रीने से सजा हुआ मिलेगा। वह एक साफ़ सुथरे पवित्र वातावरण में काम करने का आदी है। सफ़ाई, नियमितता और उम्दगी उसके मिज़ाज की विशेषता हैं। वह फूहड़पन, अस्त-व्यस्तता, जो अधिकांश लेखकों के घरों में आपको मिलती है, मंटो के यहाँ नदारद है। मंटो के घर में आपको कोई बात टेढ़ी नहीं मिलेगी। सिर्फ़ घर वाले की सोच टेढ़ी है। टेढ़ी है, लेकिन उसमें

भी एक स्पष्ट क्रम है, जिसका उद्घाटन प्रायः उसकी कहानियों के अन्त में होता है। मंटो की कहानियाँ उसके मिज़ाज और उसके वातावरण की प्रतीक हैं। मंटो अपनी कहानियों का लिबास नफ़ासत से तैयार करता है। उनमें कहीं झोल नहीं आता, कहीं कच्चे टाँके नहीं होते, बख़िया उम्दा होता है। इस्त्रीशुदा साफ़ सुथरी कहानियाँ! ज़बान मँजी हुई, सलीस, सादा। हाँ, उसकी कहानियों के रंग अजीब होते हैं, उनकी तराश निराली होती है, उसकी उपमाएँ अछूती, उसके अलंकार अनोखे होते हैं। उनमें रस, कवित्व और अरुणा के रंग नहीं होते। वह साहित्य में सौन्दर्य नहीं, रेखा-गणित का क़ायल है। हर चीज़ नपी-तुली रखता है। वह अपनी उपमाओं के अर्थ, प्रभाव और सीमाओं से भली-भाँति भिज्ञ होता है और अचेतन सौन्दर्य से नहीं, एक निश्चित क्रम और रेखागणित की शक्लों से प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है और प्रायः रोमान-पसन्द से कहीं ज़्यादा सफल रहता है। मंटो ज़मीन के बहुत निकट है, इतना निकट कि प्रायः घास की बाली में रेंगने वाले कीड़े भी अपनी समस्त विशेषताओं के साथ उसे दिखायी दे जाते हैं। और जो लोग ज़िन्दगी को एक ऊपरी, छिछलती हुई नज़रों से देखने के आदी हैं वे मंटो के गहरे निरीक्षण और तीक्ष्ण-दृष्टि की दाद देने में असमर्थ रहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं उसका हद से बढ़ा हुआ अहं उसे धोखा दे जाता है, या ऐसा होता है कि वह घास के कीड़ों और आकाश में उड़ते हुए बादलों के बीच जीवन और साहित्य का संतुलन बनाये नहीं रख पाता और व्यक्तिवादी और अराजकतावादी ढंग अपना लेता है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है और उसकी अधिकांश रचनाएँ उच्चतर मानवीयता के उद्देश्य पर पूरी उतरती हैं और अपनी सादगी और सचाई और तल्ख़ी के अन्दर एक ऐसे मधुर सौन्दर्य की बू-बास रखती हैं कि जिसकी प्राप्ति के लिए इंसान का सीना आज तक तरस रहा है।

शुरू-शुरू में मंटो पर रूसी साहित्य का स्पष्ट प्रभाव था। इसमें कोई अचम्भे की बात नहीं। दुनिया भर के प्रगतिशील लेखकों ने, बल्कि

ऐसे लेखकों ने भी जो प्रतिगामी विचारों के थे, रूसी साहित्य की विरासत से लाभ उठाया है। लेकिन थोड़े अर्से के बाद ही मंटो ने अपनी लेखन-शैली बना ली जो उसी की है। अब्बास, अश्क, इस्मत और कृष्ण चन्द्र के बहुतेरे नक़्क़ाल आपको मिल जायेंगे, लेकिन मंटो और किसी हद तक बेदी की शैली को आज तक कोई अपना न सका। उर्दू-साहित्य में एक ही मंटो है और एक ही बेदी है। बाक़ी लेखकों की मिलती-जुलती तस्वीरें आप कहीं-न-कहीं ज़रूर देख सकते हैं। ख़ास तौर पर यौन सम्बन्धी समस्याओं पर जिस बेबाकाना अंदाज़ में मंटो ने क़लम उठायी है, उर्दू-साहित्य में और हिन्दी-साहित्य में और जहाँ तक मैंने मराठी और गुजराती और बंगला भाषाओं के अनुवाद पढ़े हैं, दूसरी भाषाओं में भी उसकी मिसाल ढूँढना कठिन है। मंटो ने पहले तो शर्म और शर्म के खोल उखाड़े, फिर गन्दगी की तहों को साफ़ किया और फिर असल विषय को साबुन से धो-धोकर इतना चमकाया कि आज हम में से हर व्यक्ति यौन समस्या के महत्त्व, उसकी पेचीदगियों और उसके विभिन्न प्रभावों से भली-भाँति भिज्ञ दिखायी देता है। इस यौन-शिक्षा के लिए हम बड़ी हद तक मंटो के आभारी हैं। यह शिक्षा उसने अपनी जवानी और अपने स्वास्थ्य को खोकर हमें दी है। बम्बई की चालें, बम्बई की गलियाँ, बम्बई के शराबख़ाने, बम्बई के जुए-ख़ाने, बम्बई के चकले—बम्बई के सारे अपराध-जगत् का मंटो ने बड़ी गहरी नज़र से अध्ययन किया है। सचाई की खोज में वह उस कीचड़ के अन्दर घुटनों-घुटनों धँस गया। उसके कपड़े ज़रूर गन्दे हो गये, पर उसकी आत्मा कभी मैली नहीं हुई। उसकी कहानियों के अन्दर छिपी हुई वेदना इस बात की साक्षी है। वह औरत की इज़्ज़त का, उसके सतीत्व का और उसके घरेलूपन का जितना क़ायल है, कोई दूसरा मुश्किल से होगा। इसलिए जब वह औरत की इज़्ज़त को जाते हुए देखता है, उसे अपना सतीत्व खोते देखता है, उसके घरेलूपन को मिटते हुए देखता है तो वह बेक़रार हो जाता है और बेताब होकर जानना चाहता है कि ऐसा क्यों हुआ, ऐसा क्यों होता है और जब वह हर बार अपने निरीक्षण को काम में लाकर एक ही सिलसिले को,

एक ही क्रम को, समाज की एक ही व्यवस्था को देखता है तो गुस्से में आकर उसे थप्पड़ मारना चाहता है। मंटो अपील का क़ायल नहीं, वह डराने और थप्पड़ मारने का क़ायल है। उसकी हर कहानी के अन्त में एक तमाचा होता है जो पढ़ने वाले के मुँह पर इस बुरी तरह पड़ता है कि पाठक भन्ना-कर रह जाता है और मंटो को बुरा-भला कहने लगता है। लेकिन मंटो इस तमाचे से बाज़ नहीं आता, कभी नहीं आयेगा। जिसे बहुत से आलोचक मंटो की यन्त्रणा-प्रियता कहते हैं वह उसकी यन्त्रणा-प्रियता इतनी नहीं है, बल्कि उसकी घायल मानवता का एक बदला हुआ रूप है और यही चीज़ आपको मंटो की बोल-चाल, चाल-ढाल, उसकी रचनाओं, उसकी बात-चीत और आचार-व्यवहार में हर जगह दिखायी देगी। मंटो की ज़िन्दगी की बहुत सी ऐसी बातें है जो उसकी ज़िन्दगी में नही कही जा सकतीं और इसलिए लिखी भी नहीं जा सकतीं। लेकिन एक घटना मैं यहाँ लिखे बिना नहीं रह सकता। यह उन दिनों की घटना है जब मैं शालीमार पिक्चर्स पूना में नौकर था और बम्बई में प्रगतिशील लेखकों की कान्फ़्रेन्स में शामिल होने के लिए आया था। अचानक मेरी मुलाक़ात मंटो से रेलगाड़ी में हो गयी। कोई दस-पन्द्रह मिनट तक हम लोग इकट्ठे रहे। इधर-उधर की बातों के बाद मंटो ने एकाएक मुझसे पूछा, "भई मैंने पूना में एक लड़की 'श' साहब के पास भेजी थी, ऐक्ट्रेस बनने की ख़्वाहिश रखती थी। उसका क्या हुआ ?" मैंने कहा—"वह लड़की तो 'प' साहब के पास है आजकल।" फिर मैंने पूछा, "तुमने उसका 'अध्ययन' किया होगा ?" मंटो ने अत्यन्त गम्भीर होकर कहा, "लाहौल विला कूवत ! मैं तो सिर्फ़ तवायफ़ों का 'अध्ययन' करता हूँ। मैं शरीफ़ लड़कियों के नज़दीक नहीं फटकता।" यह मंटो का ख़ास अन्दाज़ है। फिर उसने रुककर कहा—"मुझे तो बेचारी बड़ी शरीफ़ मालूम होती थी, किन्तु पेट बुरी बला है।" फिर वह देर तक चुप रहा। और मैंने महसूस किया कि इस इंसान के अन्दर कितनी झिझक, शर्म और न..स की पाकीज़गी है। वह औरत को कितनी साफ़-सुथरी, पवित्र और इस्मत-परवर देखना चाहता है। और जब कोई ज़िन्दगी

और सृष्टि और सौन्दर्य के स्रोत को गन्दगी और मल से पाक देखना चाहे तो उसके स्वस्थ दृष्टिकोण के प्रति कोई सन्देह नहीं रहता, उसकी साहित्यिक ईमानदारी को स्वीकार करना ही पड़ता है। कम-से-कम मुझे इसका पूरा-पूरा विश्वास है। यह अलग बात है कि मंटो मुझे केवल झुठलाने के लिए दो-एक कहानियाँ मेरे दावे को ग़लत साबित करने के लिए लिख दे..... वह इस तरह की हरकत कर सकता है, लेकिन यह प्रतिक्रिया उसकी प्रतिभा, उसकी उपज और उसकी कलात्मक क्षमता की दलील नहीं हैं। उसकी प्रतिभा का अधिकांश इंसानी हुस्न, इंसानी हमदर्दी और इंसानियत को बेहतर बनाने की आरज़ू में अनुप्राणित है। और यही उसके साहित्य की मूल-प्रेरणा है।

●

# ख़ाली बोतल, भरा हुआ दिल

एक अजीब हादिसा हुआ है। मंटो मर गया है, गो वह एक अर्से से मर रहा था। कभी सुना कि वह पागलख़ाने में है, कभी सुना कि बहुत ज़्यादा शराब पीने के कारण अस्पताल में पड़ा है, कभी सुना कि यार-दोस्तों ने उससे सम्बन्ध तोड़ लिया है, कभी सुना कि वह और उसके बीवी-बच्चे फ़ाक़ों पर गुज़र कर रहे हैं। बहुत-सी बातें सुनीं। हमेशा बुरी बातें सुनीं, लेकिन यक़ीन न आया, क्योंकि इस अर्से में उसकी कहानियाँ बराबर आती रहीं। अच्छी कहानियाँ भी और बुरी कहानियाँ भी। ऐसी कहानियाँ भी जिन्हें पढ़कर मंटो का मुँह नोचने को जी चाहता था, और ऐसी कहानियाँ भी, जिन्हें पढ़कर उसका मुँह चूमने को जी चाहता था। ये कहानियाँ मंटो की ख़ैरियत के ख़त थे। मैं समझता था, जब तक ये ख़त आते रहेंगे, मंटो ख़ैरियत से है। क्या हुआ अगर वह शराब पी रहा है, क्या शराब-ख़ोरी सिर्फ़ साहित्यकारों तक ही सीमित है? क्या हुआ अगर वह फ़ाक़े कर रहा है, इस देश की तीन चौथाई आबादी ने हमेशा फ़ाक़े किये हैं।

क्या हुआ अगर वह पागलख़ाने चला गया है, इस सनकी और पागल समाज में मंटो ऐसे होशमन्द का पागलख़ाने जाना कोई अचम्भे की बात नहीं। अचम्भा तो इस बात पर है कि वह आज से बहुत पहले पागलख़ाने क्यों नहीं गया। मुझे इन तमाम बातों से न तो कोई हैरत हुई, न कोई अचम्भा हुआ। मंटो कहानियाँ लिख रहा है, मंटो ख़ैरियत से है, ख़ुदा उसके क़लम में और ज़हर भर दे !

मगर आज जब रेडियो पाकिस्तान ने यह ख़बर सुनायी कि मंटो दिल की धड़कन बन्द होने के कारण चल बसा तो दिल और दिमाग़ चलते-चलते एक लमहे के लिए रुक गये। दूसरे लमहे में यह यक़ीन न आया। दिल और दिमाग़ ने विश्वास न किया कि कभी ऐसा हो सकता है। निमिष भर के लिए मंटो का चेहरा मेरी निगाहों में घूम गया। उसका रोशन चौड़ा माथा, वह तीखी व्यंग्य-भरी मुस्कराहट, वह शोले की तरह भड़कता हुआ दिल कभी बुझ सकता है? दूसरे क्षण यक़ीन करना पड़ा। रेडियो और पत्रकारों ने मिलकर इस बात का समर्थन कर दिया। मंटो मर गया है। आज के बाद वह कोई नयी कहानी न लिखेगा। आज के बाद उसकी ख़ैरियत का कोई ख़त नहीं आयेगा।

आज सर्दी बहुत है और आसमान पर हल्की-हल्की-सी बदली छायी हुई है, मगर इस बदली में बारिश की एक बूँद भी नहीं है। मंटो को रोने-रुलाने से इन्तहाई नफ़रत थी। आज मैं उसकी याद में आँसू बहाकर उसे परेशान नहीं करूँगा। मैं आहिस्ता से अपना कोट पहन लेता हूँ और घर से बाहर निकल जाता हूँ।

अजीब इत्तिफ़ाक़ है। जिस दिन मंटो से मेरी पहली मुलाक़ात हुई, उस रोज़ मैं दिल्ली में था। जिस रोज़ वह मरा है, उस रोज़ भी मैं दिल्ली में मौजूद हूँ। उसी घर में हूँ, जिसमें आज से चौदह साल पहले वह मेरे साथ पन्द्रह दिन के लिए रहा था। घर के बाहर वही बिजली का खम्भा है, जिसके नीचे हम पहली बार गले मिले थे। यह वही अंडरहिल रोड है,

जहाँ ऑल इंडिया रेडियो का पुराना दफ़्तर था, जहाँ हम दोनों काम किया करते थे। यह मेडन होटल का बार है, यह मोरी गेट, जहाँ मंटो रहता था, यह जामा मसजिद की सीढ़ियाँ हैं, जहाँ हम कबाब खाते थे, यह उर्दू बाज़ार है। सब कुछ वही है, उसी तरह है। सब जगह उसी तरह से काम हो रहा है। ऑल इंडिया रेडियो भी खुला है, मेडन होटल का बार भी और उर्दू बाज़ार भी, क्योंकि मंटो एक बहुत मामूली आदमी था। वह एक ग़रीब साहित्यकार था। वह मन्त्री न था कि कहीं कोई झंडा उसके लिए झुकता। वह कोई सट्टेबाज़ ब्लैक मार्केटिया भी नहीं था कि कोई बाज़ार उसके लिए बन्द होता। वह कोई फ़िल्म स्टार न था कि स्कूल और कालिज उसके लिए बन्द होते। वह एक ग़रीब सतायी हुई ज़बान का ग़रीब और सताया हुआ साहित्यकार था। वह मोचियों, तवायफ़ों और ताँगेवालों का साहित्यकार था। ऐसे आदमी के लिए कौन रोयेगा, कौन अपना काम बन्द करेगा? इसलिए ऑल इंडिया रेडियो खुला है, जिसने उसके ड्रामे सैकड़ों बार ब्रॉड-कास्ट किये हैं। उर्दू बाज़ार भी खुला है, जिसने उसकी हज़ारों किताबें बेची हैं और आज भी बेच रहा है। आज मैं उन लोगों को भी हँसता देख रहा हूँ, जिन्होंने मंटो से हज़ारों रुपयों की शराब पी है। मंटो मर गया तो क्या हुआ, बिज़नेस बिज़नेस है? क्षण भर को भी काम नहीं रुकना चाहिए। वह जिसने हमें अपनी सारी ज़िन्दगी दे दी, उसे हम अपने समय का एक क्षण भी नहीं दे सकते। सिर झुकाये क्षण भर के लिए उसकी याद को हम अपने दिलों में ताज़ा नहीं कर सकते—शुक्र के साथ, आजिज़ी के साथ, दिली हमदर्दी के साथ उस बेक़रार रूह के लिए जिसने 'हतक', 'नया कानून', 'खोल दो', 'टोबाटेक सिंह' ऐसी दर्जनों बेमिसाल और अमर कहानियों की रचना की। जिसने समाज की निचली तहों में घुसकर उन पिसे हुए, कुचले हुए, समाज की ठोकरों से विकृत चरित्रों का निर्माण किया, जो अपनी अपूर्व कला और यथार्थ चित्रण में गोर्की के 'लोअर डेप्थ्स' (Lower Depths) के चरित्रों की याद दिलाते हैं। फ़र्क सिर्फ़ इतना है कि उन लोगों ने गोर्की के लिए अजायबघर बनाये, मूर्तियाँ स्थापित कीं,

नगर बसाये और हमने मंटो पर मुकदमे चलाये, उसे भूखा मारा, उसे पागलखाने में पहुँचाया, उसे अस्पतालों में सड़ाया और आख़िर में उसे यहाँ तक मजबूर कर दिया कि वह इंसान को नहीं, शराब की एक बोतल को अपना दोस्त समझने पर मजबूर हो गया।

यह कोई नयी बात नहीं। हमने 'ग़ालिब' के साथ यही किया था, 'प्रेमचन्द' के साथ यही किया था, 'हसरत' के साथ यही किया था और आज मंटो के साथ भी यही सलूक करेंगे, क्योंकि मंटो कोई उनसे बड़ा साहित्यकार नहीं है, जिसके लिए हम अपने पाँच हज़ार साल की संस्कृति की पुरानी परम्परा को तोड़ दें। हम इंसानों के नहीं, मक़बरों के पुजारी हैं। आज दिल्ली में मिर्ज़ा ग़ालिब की पिक्चर चल रही है। इस तस्वीर की कहानी इसी दिल्ली में, मोरी गेट में बैठकर मंटो ने लिखी थी। एक दिन हम मंटो की तस्वीर भी बनायेंगे और उससे लाखों रुपये कमायेंगे, जिस तरह आज हम मंटो की किताबों के जॉली एडीशन हिन्दुस्तान में छाप-छापकर हज़ारों रुपये कमा रहे हैं। वे रुपये, जिनकी मंटो को अपनी ज़िन्दगी में सख़्त ज़रूरत थी। वे रुपये आज भी उसके बीवी-बच्चों को ग़रीबी और ज़िल्लत से बचा सकते हैं। मगर हम ऐसी ग़लती नहीं करेंगे। अगर हम अकाल के दिनों में चावलों के दाम बढ़ाकर हज़ारों इंसानों के ख़ून से अपना नफ़ा बढ़ा सकते हैं, तो क्या उसी मुनाफ़े के लिए एक ग़रीब साहित्यकार की जेब नहीं कतर सकते। मंटो ने जब 'जेबकतरा' लिखा था उस वक़्त उसे मालूम नहीं था कि एक दिन उसे जेबकतरों की एक पूरी-की-पूरी कौम से वास्ता पड़ेगा।

मंटो एक बहुत बड़ी गाली था। उसका कोई दोस्त ऐसा नहीं था, जिसे उसने गाली न दी हो। कोई प्रकाशक ऐसा न था, जिससे उसने लड़ाई मोल न ली हो, कोई मालिक ऐसा न था, जिसकी उसने बेइज़्ज़ती न की हो। प्रकट रूप से वह प्रगतिशीलों से ख़ुश नहीं था, न अप्रगतिशीलों से, न पाकिस्तान से, न हिन्दुस्तान से, न चचा साम से, न रूस से। जाने उसकी बेचैन और बेक़रार आत्मा क्या चाहती थी। उसकी ज़बान बेहद तल्ख़ थी।

शैली थी तो कसैली और कँटीली, नश्तर की तरह तज़ और बेरहम, लेकिन आप उसकी गाली को, उसकी कड़ी बातों को, उसके तेज़, नोकीले, कँटीले शब्दों को ज़रा-सा खुरच कर तो देखिए, अन्दर से ज़िन्दगी का मीठा-मीठा रस टपकने लगेगा। उसकी नफ़रत में मुहब्बत थी, नग्नता में आवरण, चरित्रहीन औरतों की दास्तानों में उसके साहित्य की सच्चरित्रता छिपी थी। ज़िन्दगी ने मंटो से इन्साफ़ नहीं किया, लेकिन तारीख़ ज़रूर उससे इन्साफ़ करेगी।

मंटो बयालीस साल की उम्र में मर गया। अभी उसके कुछ कहने और सुनने के दिन थे। अभी-अभी ज़िन्दगी के कड़वे तजरुबों ने, समाज की बेरहमियों ने, वर्तमान जीवन-व्यवस्था के आत्म-विरोधों ने उसकी बेतहाशा व्यक्तिवादिता, अराजकता और तटस्थता को कम करके उससे 'टोबाटेक सिह' जैसी कहानी लिखवायी थी। ग़म मंटो की मौत का नहीं है। मौत लाज़िमी है। मेरे लिए भी और दूसरों के लिए भी। ग़म उन अनलिखी रचनाओं का है, जो सिर्फ़ मंटो ही लिख सकता था। उर्दू-साहित्य में अच्छे-से-अच्छे कहानीकार पैदा हुए, लेकिन मंटो दोबारा पैदा नहीं होगा और कोई उसकी जगह लेने नहीं आयेगा। यह बात मैं भी जानता हूँ और राजेन्द्र सिह बेदी भी, इस्मत चग़ताई भी, ख़्वाजा अहमद अब्बास भी और उपेन्द्रनाथ अश्क भी। हम सब लोग उसके प्रतिद्वन्द्वी, उसके चाहने वाले, उससे झगड़ा करने वाले, उससे प्यार करने वाले, उससे नफ़रत करने वाले, उससे मुहब्बत करने वाले, दोस्त और हमसफ़र थे। और आज जब वह हममें नहीं है, हममें से हर एक ने मौत के शहतीर को अपने कंधे पर महसूस किया है। आज हममें से हर एक की ज़िन्दगी का एक हिस्सा मर गया है। ऐसे लमहे जो फिर कभी वापस न आ सकेंगे। आज हममें से हर शख़्स मंटो के करीब है और एक-दूसरे के करीब-तर। ऐसे लमहे में अगर हम यह फ़ैसला कर लें कि हम लोग मिलकर मंटो की ज़िम्मेदारियों को पूरा करेंगे, तो उसकी ख़ुदकशी बेकार नहीं जायगी।

आज से चौदह साल पहले मैंने और मंटो ने मिलकर एक फ़िल्मी कहानी लिखी थी, 'बनजारा'। मंटो ने आज तक किसी दूसरे साहित्यकार के साथ मिलकर कोई कहानी नहीं लिखी थी—न उसके पहले, न उसके बाद। लेकिन वे दिन बड़ी सख़्त सर्दियों के दिन थे। मेरा सूट पुराना पड़ गया था और मंटो का सूट भी पुराना पड़ गया था। मंटो मेरे पास आया और बोला—"ए कृशन! नया सूट चाहता है?"

मैंने कहा, "हाँ।"

"तो चल मेरे साथ।"

"कहाँ?"

"बस, ज़्यादा बकवास न कर, चल मेरे साथ!"

हम लोग एक डिस्ट्रीब्यूटर के पास गये। मैं वहाँ अगर कुछ कहता, तो सचमुच बकवास ही होता, इसलिए मैं ख़ामोश रहा। वह डिस्ट्रीब्यूटर फ़िल्म प्रोडक्शन के मैदान में आना चाहता था। मंटो ने पन्द्रह-बीस मिनट की बातचीत में उसे कहानी बेच दी और उससे पाँच सौ रुपये नकद ले लिये। बाहर आकर उसने ढाई सौ मुझे दिये, ढाई सौ ख़ुद रख लिये। फिर हम लोगों ने अपने-अपने सूट के लिए बढ़िया कपड़ा ख़रीदा और अब्दुलग़नी टेलर मास्टर की दूकान पर गये। उसे सूट जल्दी तैयार करने की ताकीद की। फिर सूट तैयार हो गये, पहन भी लिये गये। मगर सूट का कपड़ा दर्ज़ी को देने और सिलने के दौरान में जो समय बीता, उसमें हम काफ़ी रुपये घोलकर पी गये। चुनांचे अब्दुलग़नी की सिलाई उधार रही और उसने हमें सूट पहनने के लिए दे दिये। मगर कई माह तक हम लोग उसका उधार न चुका सके।

एक दिन मंटो और मैं कश्मीरी गेट से गुज़र रहे थे कि मास्टर अब्दुल-ग़नी ने हमें पकड़ लिया। मैंने सोचा, आज साफ़-साफ़ बेइज़्ज़ती होगी। मास्टर अब्दुलग़नी ने मंटो को गरेबान से पकड़कर कहा—"वह 'हतक' तुमने लिखी है?"

मंटो ने कहा, "लिखी है तो क्या हुआ? अगर तुमसे सूट उधार लिया है, तो इसका यह मतलब नहीं है कि तुम मेरी कहानी के अच्छे आलोचक भी हो सकते हो। यह गरेबान छोड़ो।"

अब्दुलग़नी के चेहरे पर एक अजीब-सी मुस्कराहट आयी। उसने मंटो का गरेबान छोड़ दिया और उसकी तरफ़ अजीब-सी नज़रों से देखकर कहने लगा, "जा तेरे उधार के पैसे माफ़ किये।"

वह पलटकर चला गया। चन्द लमहों के लिए मंटो बिलकुल ख़ामोश खड़ा रहा। वह इस तारीफ़ से बिल्कुल ख़ुश नहीं हुआ। बड़ा रंजीदा और दुखी और खफ़ा-ख़फ़ा-सा नज़र आने लगा, "साला क्या समझता है। मुझे सताता है। मैं उसकी पाई-पाई चुका दूँगा। साला समझता है, 'हतक' मेरी अच्छी कहानी है। 'हतक'? 'हतक' तो मेरी सब से बुरी कहानी है।"

लेकिन न मैंने, न मंटो ने अब्दुलग़नी को पैसे दिये, न उसने हमसे लिये। आज मुझे जब यह घटना याद आयी तो मैं उस वक़्त अब्दुलग़नी की दुकान ढूँढ़ता कश्मीरी गेट पहुँचा। मगर अब्दुलग़नी वहाँ से जा चुका था। कई बरस हुए पाकिस्तान चला गया था। काश, आज अब्दुलग़नी टेलर मास्टर मिल जाता, उससे मंटो के बारे में दो बातें कर लेता। और किसी को तो इस बड़े शहर में इस फ़ज़ूल काम के लिए फ़ुरसत नहीं है।

शाम के वक्त मैं ज़ोय अंसारी, एडीटर 'शाहराह' के साथ जामा मसजिद से तीस हज़ारी अपने घर को आ रहा था। रास्ते में मैं और ज़ोय अंसारी आहिस्ता-आहिस्ता मंटो की शख़्सियत और उसके आर्ट पर बहस करते रहे। सड़क पर गढ़े बहुत थे, इसलिए बहस में बहुत-से नाज़ुक मुक़ाम भी आये। एक बार पंजाबी कोचवान ने चौंककर पूछा—"क्या कहा जी, मंटो मर गया?"

ज़ोय अंसारी ने आहिस्ता से कहा, "हाँ, भाई!" और फिर अपनी बहस शुरू कर दी। कोचवान धीरे-धीरे अपना ताँगा चलाता रहा।

लेकिन मोरी गेट के पास उसने अपने ताँगे को रोक लिया और हमारी तरफ़ घूमकर बोला—"साहब, आप लोग कोई दूसरा ताँगा कर लीजिए। मैं आगे नहीं जाऊँगा।"—उसकी आवाज़ में एक अजीब-सा दर्द था।

इसके पहले कि हम कुछ कह सकते, वह हमारी तरफ़ देखे बग़ैर अपने ताँगे से उतरा और सीधा सामने की बार में चला गया।

●